१

प्रस्तावना

१

प्रस्तावना

हिंदी भारतवर्ष के एक बहुत विशाल प्रदेश की साहित्य-भाषा है। राजस्थान और पंजाब राज्य की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार के पूर्वी सीमांत तक तथा उत्तर प्रदेश के उत्तरी सीमांत से लेकर मध्य प्रदेश के मध्य तक के अनेक राज्यों की साहित्यिक भाषा को हम हिंदी कहते आए हैं।

'हिंदी' शब्द का अर्थ

इस प्रदेश में अनेक स्थानीय बोलियाँ प्रचलित हैं। सबका भाषा शास्त्रीय ढाँचा एक जैसा ही नहीं है। साहित्य में भी किसी एक ही बोली के ढाँचे का सदा व्यवहार नहीं होता था, फिर भी हिंदी साहित्य की चर्चा करने वाले सभी देशी-विदेशी विद्वान् इस विस्तृत प्रदेश के साहित्यिक प्रयत्नों के लिये व्यवहृत भाषा या भाषाओं को हिंदी कहते रहे हैं। वस्तुत. हिंदी साहित्य के इतिहास में 'हिंदी' शब्द का व्यवहार बड़े व्यापक अर्थों में होता रहा है।

जिस विशाल भू-भाग को आज हिंदी-भाषा-भाषी क्षेत्र कहा जाता है, उसका कोई एक नाम खोजना कठिन है। परंतु इसके मुख्य भाग को पुराने जमाने से ही मध्य देश कहते रहे हैं। यद्यपि वर्तमान भारतवर्ष के रूप को देखते हुए इस विस्तीर्ण भूभाग को 'मध्य देश' कहना ठीक नहीं मालूम होता, तो भी यह शब्द प्राचीन काल से ही बहुत अधिक परिचित है; इसलिये इस पुस्तक में हम 'हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्र' जैसे भारी-भरकम शब्द का सदा व्यवहार न करके 'मध्य देश' का ही व्यवहार करेंगे।

लगभग एक सहस्र वर्षों से इस मध्य देश में साहित्यिक प्रयत्नो के लिये एक प्रकार की केन्द्रीय भाषा का व्यवहार होता रहा है। देश-काल भेद से साहित्यिक भाषा के रूपो में भेद अवश्य पाया जाता है परंतु प्रयत्न बराबर यही रहा है कि भाषा केन्द्रीय भाषा के निकट रहे। हिंदी की एकता इस प्रयत्न में ही है। यह परपरा आज भी ज्यो की त्यो है। यद्यपि इस भाग में अनेक उपभाषाओं का प्रयोग होता है, किंतु समाचार पत्र, सभा-समितियो की कार्यवाहियां, पाठ्य पुस्तकें, व्याख्यान और विचार-विमर्श आदि कार्य केन्द्रीय भाषा में ही किये जाते हैं। 'हिंदी' शब्द का व्यवहार इसी केन्द्रोन्मुख भाषा के अर्थ में होता है। जिन क्षेत्रो के लोग अपने साहित्यिक प्रयत्नो में केन्द्रोन्मुखी भाषा का प्रयोग करते हैं, वे ही आज हिंदी-भाषी कहे जाते हैं। इनका यह प्रयत्न नया नही है। वस्तुत. हिंदी शब्द उतना एक-रूपा भाषा के अर्थ मे व्यवहृत नही होता, जितना परम्परा के अर्थ में होता है।

दीर्घ काल से हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखक अपभ्रंश भाषा के साहित्य को भी हिंदी साहित्य के पूर्व रूप के रूप में ही ग्रहण करते आए है। मिश्रबंधुओ ने अपनी पुस्तक में अनेक अपभ्रंश रचनाओं को स्थान दिया है। स्वर्गीय पं० चद्रधर शर्मा गुलेरी तो अपभ्रंश को 'पुरानी हिंदी' कहना अधिक पसद करते थे (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन सस्करण, भाग २)। प० रामचद्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास के प्रथम सस्करण में आदि काल के अंदर अपभ्रंश रचनाओ की भी गणना की थी, क्योकि 'वे सदा से भाषा-काव्य के अतर्गत मानी जाती रही हे।' सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री राहुल साकृत्यायन ने भी अपभ्रंश की रचनाओ को हिंदी कहा है। उन्होने जब बौद्ध सिद्धों के पदो और दोहों को हिंदी

कहा था, तब बड़ा विरोध हुआ था, क्योकि बंगाल के विद्वान् उसे बगला मानते आए है। इसी तरह गुजरात के विद्वान् पश्चिमी अपभ्रश की रचनाओ को 'जूनी गुजराती' अर्थात् पुरानी गुजराती मानते आए है। विद्वानो ने अनेक बार यह प्रश्न किया है, कि क्या अपभ्रश को हिदी कहा जा सकता है ?

अपभ्रंश का साहित्य

बहुत दिनो तक पडितो को अपभ्रश साहित्य की जानकारी बहुत कम थी। कम तो अब भी है, पर अब पहले की अपेक्षा इस भाषा का बहुत अधिक साहित्य हमारे पास है। सन् १८७७ ई० मे पिशेल ने हेमचंद्राचार्य के प्राकृत व्याकरण का सुसंपादित सस्करण निकाला था। इस पुस्तक के अत मे प्राकृतो से भिन्न अपभ्रश भाषा का व्याकरण दिया हुआ है, और अपभ्रश के पदों के उदाहरण के लिये अपभ्रश के कुछ पद्य-अधिकतर दोहे-उद्धृत किए गए है। हेमचंद्राचार्य जैन धर्म के महान् आचार्य थे, वे अपने समय मे 'कलिकाल-सर्वज्ञ' कहे जाते थे। इनके प्राकृत व्याकरण मे अपभ्रश की चर्चा है। अन्य प्राकृतो मे व्याकरण के प्रयोगो का उदाहरण देते समय तो उन्होने एक शब्द या एक वाक्याश को पर्याप्त समझा है, पर अपभ्रश के पदो का उदाहरण देते समय उन्होने पूरे पूरे दोहे उद्धृत किए है। इससे इस भाषा के प्रति आचार्य की ममता सूचित होती है। वे उन सभी से एक शब्द या आवश्यकता पड़ने पर एक ही वाक्याश उद्धृत कर सकते थे, पर उन्होने ऐसा न करके पूरा पद्य उद्धृत किया है। इस प्रकार बहुत-सी अमूल्य साहित्यिक रचनाएँ लुप्त होने से बच गई है। बहुत दिनो तक अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययन के लिये विद्वान् लोग इन्ही दोहो से सतोष करते आए है। इनमे कई कवियो की रचनाएँ है। कुछ रचनाएँ

हेमचद्राचार्य की भी हो सकती है । पिशेल ने भी जब सन् १९०२ में जर्मन भाषा में अपनी पुस्तक प्रकाशित की, तो प्रधान रूप से इन दोहो का अध्ययन किया, और अन्य उपलब्ध साहित्य 'विक्रमोर्वशीय', 'सरस्वती कंठाभरण', 'वैताल-पचविंशति', 'सिंहासनद्वात्रिंशतिका' और 'प्रबंध-चिंतामणि' आदि ग्रथो म प्रसग-क्रम मे आई हुई कुछ अपभ्रंश रचनाओं का उपयोग किया । उनका विश्वास था, कि अपभ्रंश का विशाल साहित्य सब खो गया है, बहुत दिनो तक अध्ययन इससे आगे नही बढ़ा । गुलेरी जी ने अपनी पुस्तक में कुमार-पाल चरित तथा प्रबंध-चितामणि आदि म संगृहीत पद्यो की चर्चा की है । पर हेमचद्राचार्य के सगृहीत दोहे उनके भी प्रधान सबल थे । बहुत दिनो तक इन्ही पुस्तकों में प्राप्त बिखरी हुई सामग्री से अपभ्रंश भाषा और साहित्य का मर्म समझा जाता रहा ।

सन् १९१३-१४ मे एक जर्मन विद्वान् हर्मन याकोबी इस देश मे आए । अहमदाबाद के एक जैन ग्रथ-भाडार का अवलोकन करते हुए, एक साधु के पास 'भविसयत्त कहा' की एक प्रति उन्हे मिली । उन्होने इसकी भाषा देखकर समझा कि यह अपभ्रश की रचना है । इस समाचार से विद्वानों में बड़ा उत्साह आया और अन्य अपभ्रश ग्रथों के पाने की आशा बलवती हुई । बाद म अनेक जैन भाडारो की खोज करने पर अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्राप्त हुई । यद्यपि ये रचनाएं अधिकाश मे जैन कवियों की लिखी थी, परन्तु इनमे लोक भाषा के अनेक काव्य-रूपो पर बिलकुल नया और चकित कर देने वाला आलोक पड़ा । स्वयभू, पुष्पदत, धनपाल, जोइंदु, रामसिंह आदि प्रथम श्रेणी के जैन कवियो की तो रचनाएँ प्राप्त ही हुई, अब्दुल रहमान जैसे मुसलमान कवि की उत्तम रचना भी प्राप्त हुई । अब हमारे सामने समृद्ध अपभ्रश साहित्य का

बहुत उत्तम निदर्शन है ।

जैनेतर अपभ्रंश

सन् १९१६ ई० में म० म० प० हरप्रसाद शास्त्री ने नैपाल से प्राप्त अनेक बौद्ध सिद्धो के पद और दोहों को "बौद्ध गान और दोहा"[1] नाम देकर बंगाक्षरो मे प्रकाशित किया । इन पदो और दोहो की भाषा को शास्त्री जी ने बंगला कहा । बाद मे डाक्टर शहीदुल्ला और डा० प्रबोधचंद्र बागची तथा प० राहुल साकृत्यायन के प्रयत्नो से इस श्रेणी के और साहित्य का भी कुछ-कुछ प्रकाशन हुआ । वस्तुत इन दोहो और पदो की भाषा भी अपभ्रंश ही है, पर कुछ पूर्वी प्रयोग उनमे अवश्य ह । दोहो की भाषा में तो परिनिष्ठित अपभ्रंश की मात्रा अधिक है । अर्थात् इनमें भी केन्द्रीय भाषा के निकट जाने का प्रयत्न है । शास्त्री जी के उद्योगो से ही विद्यापति की 'कीर्तिलता'[2] का प्रकाशन हुआ । इस पुस्तक की और इसके साथ ही इसी कवि की लिखी हुई एक और पुस्तक 'कीर्ति पताका' की सूचना तो ग्रियर्सन ने पहले ही दे रक्खी थी, पर इसे प्रकाशित करने का श्रेय शास्त्री जी को है । विद्यापति ने स्वय इस पुस्तक की भाषा को 'अवहट्ठ' (अपभ्रष्ट—अपभ्रंश) कहा है । इसमे भी मैथिली प्रयोग मिलते हैं । इसमे गद्य

---

१. बंगीय साहित्य परिषद् कलकत्ता से १३२३ बंगाब्द में बंगला अक्षरों में प्रकाशित। बाद में "दोहा कोष" डा० प्रबोधचन्द्र बागची द्वारा संपादित होकर नगराक्षरों में कलकत्ते से प्रकाशित ।

२. प्रथम बार बंगाक्षरों में महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री के संपादन में बंगला अनुवाद के साथ कलकत्ते से १३३१ बंगाब्द में और बाद में डा० बाबूराम सक्सेना के संपादन में नगराक्षरों में हिंदी अनुवाद सहित काशी नागरी प्रचारिणी सभा से सं० १९८६ में प्रकाशित ।

का भी प्रयोग है। अधिकाश मैथिली प्रयोग गद्य में ही मिलते हैं। पद्यो में अपभ्रश के प्रयोग ही अधिक मिलते है। इस पुस्तक में भी केन्द्रीय भाषा के निकट रहने का वैसा ही प्रयत्न है, जैसा बौद्ध सिद्धो के दोहो मे है।

राजपूताने मे 'ढोला मारू' के दोहे बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके प्राचीनतर रूप का संपादन राजस्थान के तीन विद्वानो—श्री रामसिह, श्री सूर्यकरण पारीक और श्री नरोत्तम स्वामी एम ए—ने किया,[1] और इस प्रकार अपभ्रश के निकट जाने वाली भाषा के अध्ययन का एक और मूल उपलब्ध हुआ।

लक्ष्मीधर नाम के एक और पंडित ने लगभग चौदहवी शताब्दी के अन्त म 'प्राकृत पैंगलम्' नामक एक ग्रथ सग्रह किया जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश के छदो की विवेचना है, और उदाहरण रूप मे कई ऐसे कवियो की रचनाएँ उद्धत हैं, जिनका पता और किसी मूल से नही लगता। इस ग्रथ मे उद्धृत कविताओ मे से कई कवियो के नाम भी मिल जाते हैं पर अधिकाश कविताओ के रचयिता अज्ञात ही हैं। यह 'बिब्लियोथिका इंडिका' मे प्रकाशित हुआ था। जिन प्रतियो के आधार पर इसका सपादन हुआ है, उनका समय १६वी शताब्दी से पहले का बताया गया है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का अनुमान है, कि इसमें ९वी से १२वी शताब्दी तक के कवियो की रचनाएँ सकलित हैं। इस प्रकार जैनेतर अपभ्रंश का भी एक काफी अच्छा साहित्य हमें उपलब्ध हो गया है। इन प्रकाशित रचनाओ के आधार पर, और 'स्वयंभू' नामक प्रसिद्ध जैन कवि की अप्रकाशित रचनाओ का

---

१ "ढोला मारूरा दोहा"—काशी नागरी प्रचारिणी सभा से स० १९९१ में प्रकाशित।

अध्ययन करके सुप्रसिद्ध विद्वान् प० राहुल साकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्य-धारा' नाम का एक उपयोगी सग्रह प्रकाशित किया है। इसमे अब तक के प्राप्त अपभ्रश या पुरानी हिंदी-की अनेक रचनाओ के नमूने प्राप्त हो जाते हैं[1]। राहुलजी ने जिन कवियो की रचनाओ को अपने सग्रह मे स्थान दिया है उनकी सूची ही सिद्ध करती है कि अब विद्वानो के सामने काफी महत्त्वपूर्ण साहित्यिक सामग्री प्राप्त हो गई है।

इस अपभ्रंश साहित्य को मध्य देश में उसी प्रकार भाषा-काव्य समझा जाता रहा है, जिस प्रकार परवर्ती व्रजभाषा या अवधी की कविता को (जिसे हिंदी कहने मे किसी पडित को संकोच नही होगा)। 'कुमारपालचरित' को और 'हम्मीररासो' को भाषा-काव्य ही माना गया है। शिवसिंह ने किसी पुरानी अनुश्रुति के आधार-पर (जो सभवत॰ टॉड के राजस्थान से समर्थित है) भाषा का प्रथम कवि पुष्प नामक किसी कवि को बताया है, जो अवती के राजा भोज के 'मान' नामक पूर्व

अपभ्रश साहित्य को भाषा-काव्य कहा गया है।

१. (१) आठवीं शताब्दी के कवि—साहपा, सबरपा, स्वयभू, भूसुकपा,
(२) नवीं शताब्दी के कवि—लुइपा, विरूपा, डोंबिपा, दारिकपा, गुण्डरिपा, गोरचपा, टेंटणपा, महोपा, भादेपा, धामपा,
(३) दसवीं शताब्दी के कवि—देवसेन, तिलोपा, पुष्पदत, शातिपा, योगीन्दु (जोइन्दु), रामसिंह, धनपाल,
(४) ग्यारहवीं शताब्दी के कवि—एक अज्ञात नामा कवि, अब्दुर्रहमान, बब्बर, कनकामर मुनि, जिनदत्त सूरि,
(५) बारहवीं शताब्दी के कवि—हेमचद्र, हरिभद्र, आमभट्ट, शीलभद्र, विद्याधर, सोमप्रभ, जिनपद्म, विजयचद्र, चद्र,
(६) तेरहवीं शताब्दी के कवि—लक्खण, जज्जल, अज्ञात, अभयदेव सूरि, हरिब्रह्म, दो अज्ञात, राजशेखर सूरि।

पुरुष का भाट था । वे लिखते है कि "संवत् सात सौ सत्तर विक्रमादित्य मे राजा 'मान' अवंतीपुरी का बड़ा पंडित और अलंकार विद्या में अद्वितीय था । उसके पास पुष्प भाट ने प्रथम संस्कृत ग्रंथ पढ पीछे भाषा में दोहा बनाए । हमको भाषा की जड यही कवि मालूम होता है ।" अनुमान है कि यह पुष्प और कोई नही सुप्रसिद्ध अपभ्रंश कवि पुष्पदंत ही थे ।

ये मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा कृष्ण के सभा कवि थे । मान्यखेट वालो का एक बार उज्जयिनी पर अधिकार हो गया था । ऐसा जान पड़ता है, कि मान्यखेट का ही परवर्ती रूप राजा 'मान' हो गया है, और सभा कवि का बाद मे भाट हो जाना भी कुछ आश्चर्य की बात नही है । यह अनुश्रुति विकृत रूप में ही प्राप्त हुई है । संवत् ७७० के साथ इस अनुमान का कोई तुक नही है, क्योकि पुष्पदत बहुत बाद के (दसवी शताब्दी के) कवि है, और मान्यखेट का उज्जयिनी पर अधिकार भी दसवी शताब्दी मे हुआ था । लेकिन पुष्प और पुष्पदंत की एकता में इस कल्पित संवत् को बाधक नही होने देना चाहिए । परन्तु यह अनुमान ठीक हो या न हो, इतना तो मान ही लिया जा सकता है, कि आठवी शताब्दी का पुष्प नामक कवि जिसकी चर्चा शिवसिंह ने की है अपभ्रंश का कवि ही होगा, क्योकि उस समय की उपलब्ध सभी रचनाएँ अपभ्रंश की है । इस प्रकार अपभ्रंश काव्य को 'भाषा काव्य' कहने की प्रथा बहुत पुरानी है । भाषा की दृष्टि से हेमचंद्राचार्य द्वारा परि-भाषित परिनिष्ठित अपभ्रंश के साथ पुरानी हिंदी का—जिसमें ब्रज, अवधी, बुंदेली, बघेली राजस्थानी आदि की गणना की जाती है—घनिष्ठ संबंध तो है परन्तु उसे बहुत निकट का संबंध नही कह सकते । कुछ भाषा-शास्त्रियो ने तो इनमे से प्रत्येक भाषा के पूर्ववर्ती भिन्न-भिन्न अपभ्रंशों की कल्पना की

है । विशुद्ध भाषा-शास्त्र की दृष्टि से अपभ्रश मध्यकालीन आर्य भाषा के तीन रूपो—पाली, प्राकृत, अपभ्रंश—में अंतिम है । इसी से आधुनिक आर्य-भाषाओ का विकास बताया जाता है । ग्रिर्यसन ने कल्पना की थी, कि प्रत्येक आधुनिक आर्य-भाषा की एक अपनी अपभ्रश-भाषा थी । इन दिनो हमारे पास ऐसा कोई निश्चित पुस्तकी-प्रमाण उपलब्ध नही है, जिससे इस कल्पना के पक्ष या विपक्ष मे दृढता के साथ कुछ कहा जा सके । लेकिन यह बिलकुल सभव नही है, कि एक ही प्राकृतोत्तर अपभ्रश से आधुनिक विभिन्न आर्य भाषाएं विकसित हुई हो । उदाहरणार्थ मागधी प्राकृत से जो अपभ्रश भाषा विकसित हुई वही आधुनिक बंगला, उडिया, आसामी, मागधी, मैथिली और भोजपुरी के रूप मे बदल गई हो, यह सभव नही जान पडता । इन सबकी पूर्ववर्ती अपभ्रश भाषाएँ निश्चय ही अलग-अलग रूपो मे रही होगी । यद्यपि उनमे उतना अतर नही होगा, जितना इन दिनों हो गया है । इन्ही अपभ्रश बोलियो से साहित्यिक अपभ्रश का रूप बना है । शुरू-शुरू मे इस मे प्राकृत का बहुत प्रभाव रहा होगा । नमिसाधु ने काव्यालकार की टीका में कहा है, कि वस्तुत. प्राकृत (महाराष्ट्री) ही अपभ्रश है, जिसके साथ शोरसेनी, मागधी आदि के बहुत से रूप मिल गए हैं । परवर्ती अपभ्रश-वैय्याकरणो ने नागर, उपनागर, व्राचड नाम के तीन भेद किए हं । इनमे नागर गुजरात की भापा होगी, उपनागर पश्चिमी राजस्थान और दक्षिणी पजाव की भापा रही होगी और व्राचड लाट और विदर्भ की भापा कही गई है । हेमचद्र ने जिस अपभ्रश को चर्चा की है, वह नागर अपभ्रश है जिसका आधार शोरसेनी प्राकृत है । आधुनिक गुजराती और राजस्थानी इस नागर अपभ्रश से विकसित हुई जान पडती है । विद्वानो ने दिखाया है कि हेमचंद्र के उदाहरणो मे जो भापा है, उसमे अनेक बोलियों का मिश्रण

है वस्तुत । यह किसी एक देश और एक काल की बोली नहीं है। यह भी एक साहित्यिक भाषा है, और हेमचंद्र के युग तक उसी प्रकार मृत और अप्रचलित हो आई थी जिस प्रकार अन्य प्राकृत भाषाएँ। खड़ी बोली का उनमे सीधा विकास नही हुआ। इस साहित्यिक भाषा का प्रधान आधार वह अपभ्रंश बोली है, जो संभवत. छठी-सातवीं शताब्दी तक जीवित रही होगी। ब्रज भाषा और खड़ी बोली की पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषा की भाँति ही वह शौरसेनी प्राकृत से विकसित हुई होगी। इस प्रकार खड़ी बोली और ब्रज भाषा इसकी एक पुश्त पहले की भाषा से प्रत्यक्ष संबंधित है, और इससे परोक्ष रूप मे। परंतु यदि साहित्यिक परंपरा की दृष्टि से विचार किया जाय, तो अपभ्रंश के प्राय सभी काव्य-रूपो की परंपरा प्राय· हिंदी में ही सुरक्षित है। हमने ऊपर जिस सामग्री का उल्लेख किया है उसमें कई प्रकार के काव्य-रूप प्राप्त होते हैं वे सभी काव्य-रूप---अधिकांश प्राय. ज्यो-के-त्यों और कुछ थोड़ा बदलकर---मध्य देश के साहित्य मे निरंतर व्यवहृत होते आए है।

अपभ्रंश के तीन बंध

अपभ्रंश साहित्य में तीन प्रकार के बंध पाए जाते हैं, तीनो के कई-कई रूप अब तक के प्राप्त साहित्य में उपलब्ध हुए हैं। इन सबको हिन्दी साहित्य में सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। शायद ही किसी अन्य प्रांतीय भाषा के साहित्य में इन सब रूपो की उपलब्धि होती हो।

मुख्य बंध तीन हैं· (१) दोहा बंध, (२) पद्धडिया बंध, (३) गेय पद बंध। इनके सिवा छप्पय और कुंडलिया आदि के बंध भी मिल जाते हैं। एक-एक करके इनका परिचय दिया जा रहा है—

१. दोहाबध—दोहा या दूहा अपभ्रश का अपना छंद है। उसी प्रकार जिस प्रकार गाथा प्राकृत का अपना छद है। बाद मे तो 'गाथा बध' से प्राकृत रचना और 'दोहा बध' से अपभ्रश रचना का बोध होने लगा था। 'प्रबध-चिन्तामणि' मे तो 'दूहा विद्या' मे विवाद करने वाले दो चारणो की कथा आई है, जो यह सूचित करता है कि अपभ्रश-काव्य को 'दूहा विद्या' भी कहने लगे थे। दोहा अपभ्रश के पूर्ववर्ती साहित्य मे एकदम अपरिचित है। किंतु परवर्ती हिंदी-साहित्य मे यह छद अपनी पूरी महिमा के साथ वर्तमान है। चार प्रकार से इनका प्रयोग अपभ्रश-साहित्य मे हुआ है.—

(१) निर्गुण-प्रधान और धार्मिक उपदेश मूलक दोहे—बौद्ध सिद्धो और जैन मुनियो की रचनाओ मे इस श्रेणी के दोहे मिलते हैं। इनको सीधी परपरा मे सत कवियो के दोहे है। परवर्ती निर्गुणमार्गी सत कवियो के दोहो को 'साखी' कहा जाने लगा था।—इनकी स्थापना शैली, वक्तव्य वस्तु और कहन के ढग मे बहुत साम्य है। धार्मिक उपदेश के कुछ दोहे हेमचद्र के दोहो मे भी मिल जाते हैं।

(२) शृगारी दोहे—प्राकृत की गाथाओ की भाति ये फुटकर द्विपंक्ति-बुद्ध दोहे अपभ्रश मे बहुत अधिक प्रचलित थे। इसमे रूप वर्णन, विरह की उग्रता, मिलन के उल्लास और हाव-भाव लीला आदि के बहुत सुन्दर वर्णन हुआ करते थे। हेमचद्राचार्य के व्याकरण में तथा प्रबध-चिन्तामणि आदि ग्रथो मे ऐसे दोहे पर्याप्त मात्रा में सगृहीत हुए है। इन दोहो को सोधो परपरा ढोला मारू के दोहो और बिहारी, मतिराम की सतसैयो मे तथा मुबारक अली के शतको आदि मे सुरक्षित है।

(३) नीति-विषयक दोहे—इनका भी पता हेमचंद्राचार्य

के सगृहीत दोहो से ही लगता है। इनमें मनुष्य को अवसरोचित कर्त्तव्य की शिक्षा दी जाती है। यह परंपरा भी हिंदी साहित्य में सुरक्षित है। रहीम, तुलसीदास, वृन्द और बिहारी की रचनाओ मे इस श्रेणी के दोहे बहुत आए हैं।

(४) वीर रस के दोहे—ये अपभ्रंश साहित्य की अपनी विशेषता है। इन दोहो में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण नई बात यह है, कि स्त्रियो के मुख मे अपने वीर पतियो के संबंध में अपूर्व दर्पोक्तियाँ कहलाई गई हैं। इसके पूर्व के साहित्य में इस श्रेणी की रचनाएँ क्वचित् कदाचित् ही मिलती हैं। राजस्थानी के साहित्य में यह विशेषता प्रचुर मात्रा में सुरक्षित हुई है, और हिंदी की अन्यान्य उपभाषाओ मे भी इस श्रेणी का साहित्य खोजा जा सकता है।

२. पद्धडिया बन्ध—(१) अपभ्रंश में अनेक चरित काव्य पाए जाते हैं। ये पद्धडिया बंध में लिखे जाते थे। स्वयंभू, धनपाल, पुष्पदंत आदि जैन कवियों के अपभ्रंश काव्य मिले हैं। इन चरित काव्यो में पद्धरी या पद्धडिया छंद की आठ-आठ (या कभी कभी कुछ कम ज्यादा) पंक्तियों के बाद घत्ता दिया रहता है। इसे 'कडवक' कहते हैं।

पद्धरी १६ मात्रा का मात्रिक छंद है। इस छंद के नाम पर इस पद्धति पर लिखे जाने वाले काव्यो को पद्धड़िया बंध कहा गया है। स्वयभू ने चतुर्मुख को पद्धड़िया बंध का श्रेष्ठ कवि कहा है। अलिल्लह आदि छंदो में लिखे गए काव्यो को भी उपचार से पद्धड़िया बंध ही कहा गया है।

(२) जिनदत्त सूरि के उपदेश रसायन-रास में १६ मात्रा का अलिल्लह छंद है। परन्तु टीकाकार ने इसे भी पद्धटिका बंध या पद्धड़िया बंध कहा है। इससे जान पड़ता है कि पद्धड़िया बंध के लिए पद्धरी छंद की ही आवश्यकता

नही है । कोई भी १६ मात्रा का छंद बध पद्धड़िया बंध के अंतर्गत आ सकता है । पश्चिमी भारत मे पद्धड़ी और अलिल्लह छंदों की आठ-आठ पक्तियो पर घत्ता देने की प्रथा पाई जाती है । पर जान पड़ता है कि पूर्व भारत मे चरित काव्य के लिये चौपाई और दोहो का अधिक उपयोग होता था । सब से प्रथम चौपाई और दोहो की पद्धति का प्रयोग सरहपा नामक वौद्ध सिद्ध की रचनाओ में मिलता है । हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखको ने भ्रमवश यह लिख दिया है, कि सभी जैन चरित-काव्य दोहा-चौपाइयो मे लिखे गए है । वस्तुत. अब तक प्राप्त पश्चिमी अपभ्रंश के साहित्य मे दोहा का घत्ता देने की प्रथा नही पाई गई । वहुत वाद में पश्चिमी अपभ्रंश मे दोहा का घत्ता दिया जाने लगा था । पृथ्वीराजरासो मे वहुत कम स्थलो पर इस पद्धति का प्रयोग है, और विद्यापति की कीर्तिलता में एक या दो स्थान पर । पर अवधी भाषा मे लिखे काव्यो में चौपाई-दोहो की पद्धति को ही अपनाया गया है । कबीरदास की रचनाओं मे भी इस पद्धति का प्रयोग है, किंतु प्रधान रूप से कथा-काव्य के लिये ही इसका उपयोग अधिक होता था । वाद में सतो के साहित्य मे चौपाइयों को रमैनी कहा जाने लगा । कथा का सूत्र मिलाने के लिये भी चोपाइयों का प्रयोग किया गया है । पद्रहवी शताब्दी के जैन कवि कुशल लाभ ने ढोला के दोहो में कथा सूत्र की योजना के लिये इस छंद का उपयोग किया है । इस प्रकार परवर्ती हिंदी साहित्य में चौपाई-दोहों वाली प्रथा भी वहुत अधिक मात्रा में सुरक्षित हुई है । तुलसीदास ने दोहा-चौपाइयों की शैली को अपने चरम विकास तक पहुँचा दिया । उनके पहले के सूफी कवियों ने कथानक-काव्यों के लिये इसी शैली को चुना था । सभवत· संत कवियो मे से किसी ने कुछ पौराणिक ढंग के

उपाख्यान भी इसी शैली में लिखे थे। तुलसीदास ने जब क्लेश के साथ कहा था, कि--

'साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहि अधम कवि निन्दहि वेद पुरान'।

तो कुछ ऐसे उपाख्यानों की ओर उनका इशारा था। 'कहनी' शायद सूफी कवियों के प्रेमाख्यानक काव्य हैं, या विद्यापति की कीर्तिलता के समान प्राकृत जन गुन गान मूलक 'पुरुष कहाणी' है। तुलसीदास के पहले की दो और पुस्तकें दोहे-चौपाई की शैली में लिखी पाई गई हैं। एक तो अद्वैतवाद के मंडनार्थ लिखा हुआ भागवतदास का भेद-भास्कर और दूसरा किसी चंद नामक कवि का लिखा हुआ हितोपदेश का अनुवाद (सन् १५०६ ई०)। ये दोनों पुस्तकें यदि सचमुच ही तुलसीदास के पहले की है तो सिर्फ काव्य-रूपों के अध्ययन की दृष्टि से कुछ महत्व रखती है। अस्तु।

३. गेयपद-बंध--(१) अपभ्रंश के गान करने योग्य पदों का बहुत अधिक साहित्य था। हेमचंद्र ने अपने काव्यानुशासन में दो प्रकार के अपभ्रंशों की चर्चा की है। एक तो वह अपभ्रंश जिसकी चर्चा उन्होंने अपने व्याकरण में की है। यह साहित्यिक भाषा थी। दूसरी ग्राम्य अपभ्रंश जो संभवत लोक-भाषा थी और जीवित थी। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से यह भाषा अधिक अग्रसर भाषा है। इस प्रकार की ग्राम्य अपभ्रंश भाषा में 'रासक-डोम्बिका' आदि श्रेणी की गेय रचनाएँ लिखी जाती थी। अपभ्रंश में अब्दुल रहमान नामक ग्यारहवीं शताब्दी के कवि का लिखा हुआ एक विरह व्यापक रासक-ग्रंथ मिला है। हिंदी के परवर्ती साहित्य में रासो जाति के अनेक गेय काव्य मिलते है। रासक एक छंद का भी नाम है। जान पड़ता है कि शुरू-शुरू में इस श्रेणी की रचनाओं में

रासक छंद का प्राधान्य होता था। संदेश-रासक में एक तिहाई पद्य रासक छंद में है। परंतु पृथ्वीराज रासो में इसका बहुत कम प्रयोग है। बाद में रासक गेय पदो का नाम ही रह गया। हिंदी में केवल वीर राजाओ के नाम पर लिखे गए रासक या रासा ही बचे हैं। बाकी काव्य लुप्त हो गए हैं परंतु पुरानी गुजराती में अनेक लौकिक प्रेम कथानको के रासे मिलते हैं।

(३) गेय पदो का अपभ्रंश साहित्य भी बहुत थोड़ा ही बचा है। बौद्ध सिद्धो के कुछ गेय पद बच रहे हैं। परंतु इसकी परंपरा हिंदी साहित्य में जी रही है। कबीर, सूरदास दादू, तुलसीदास आदि महाकवियो की रचनाओ के गेय पद इसके सबूत हैं।

४ प्राकृत पैंगलम्[1] से पता चलता है कि अपभ्रंश में और प्रकार के छंद प्रचलित थे। छप्पय, कुंडलिया, रोला, उल्लाला आदि छंद उन दिनो बहुत लोक-प्रिय थे। इन सबकी परंपरा परवर्ती हिंदी साहित्य में जीवित और शक्ति-शाली मिलती है।

इस प्रकार हिंदी साहित्य में प्राय पूरी परंपराएँ ज्यो-की त्यो सुरक्षित हैं। शायद ही किसी प्रांतीय साहित्य मे ये सारी-की-सारी विशेषताएँ इतनी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हो। यह सब देखकर यदि हिंदी को अपभ्रंश-साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इसे बहुत अनुचित नही कहा जा सकता। इन ऊपरी साहित्य रूपो को छोड भी दिया जाय तो इस साहित्य की प्राण-धारा निरवच्छिन्न रूप से परवर्ती

---

१ प्रथमबार 'बिब्लिओथिका इंडिका' ग्रंथमाला में श्री चंद्रमोहन घोष के संपादकत्व में सन् १९०२ में प्रकाशित। फिर 'प्राकृत पिंगल सूत्राणि' के रूप में निर्णयसागर प्रेस बंबई से प्रकाशित।

हिंदी साहित्य में प्रवाहित होती रही है। हम आगे इस बात की विस्तृत रूप से आलोचना करने का अवसर पाएँगे। प्रकृत यही है कि इन साम्यों को देखकर यदि हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने अपभ्रंश-साहित्य को हिंदी-साहित्य का ही मूल रूप समझा तो ठीक ही किया है।

पहले ही बताया गया है कि स्वर्गीय प० चद्रधर शर्मा गुलेरी ने साहित्यिक अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कहना उचित समझा था। उनके मत से इसका नाम पुरानी राजस्थानी या पुरानी गुजराती आदि नहीं दिया जा सकता क्योंकि उससे केवल भेद-बुद्धि ही दृढ होती है। साहित्यिक अपभ्रंश भाषा लगभग समूचे उत्तर भारत में एक ही थी। उनमें कुछ-कुछ प्रादेशिक पुट अवश्य होते थे, पर परिनिष्ठित (स्टैंडर्ड) अपभ्रंश एक ही थी। इसी परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा को गुलेरी जी ने 'पुरानी हिंदी' कहा है। उनका कहना है कि "कविता की भाषा प्राय. सब जगह एक-सी ही थी। जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता की भाषा ब्रज भाषा कहलाती थी, वैसे ही अपभ्रंश को भी 'पुरानी हिंदी' कहना अनुचित नहीं चाहे कवि के देश-काल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो।" यह विचार भाषा शास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है। भाषा शास्त्र के अर्थ में जिसे हम हिंदी (खडी बोली, ब्रज भाषा, अवधी आदि) कहते हैं, वह इस साहित्यिक अपभ्रंश से सीधे विकसित नहीं हुई है। व्यवहार में पंजाब से लेकर बिहार तक बोली जाने वाली सभी उप-भाषाओं को 'हिंदी' कहते हैं। इसका मुख्य कारण इस विस्तृत भूभाग के निवासियों की साहित्यिक-भाषा की केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति है। गुलेरी जी इस व्यावहारिक अर्थ

साहित्यिक अपभ्रंश और पुरानी हिंदी

पर जोर देते है। उन्होने स्पष्ट रूप से कहा है, कि 'यदि यह भाषा (साहित्यिक अपभ्रंश हिंदी नही है, तो ब्रज-भाषा भी हिंदी नही है और तुलसीदास की उक्तियाँ भी हिंदी नही है।' जहाँ तक नाम का प्रश्न है, गुलेरी जी का सुझाव पंडितो को मान्य नहीं हुआ है। अपभ्रंश को अब कोई भी पुरानी हिंदी नही कहता। परंतु जहाँ तक परपरा का प्रश्न है, नि.सदेह हिंदी का परवर्ती साहित्य अपभ्रश-साहित्य से क्रमश. विकसित हुआ है।

पहले ही कहा गया है कि हेमचद्राचार्य ने दो प्रकार की अपभ्रश भाषाओ की चर्चा की है। एक तो वह परिनिष्ठित अपभ्रश है, जिसका व्याकरण उन्होंने स्वय लिखा है और जो अपभ्रश के अधिकांश जंन कवियो और आचार्यों की रचनाओ मे व्यवहृत हुई है। दूसरी श्रेणी की भाषा को हेमचद्र ने 'ग्राम्य' कहा है। इसमे 'रासक', 'डोम्बिका'[1] आदि की श्रेणी के लोकप्रचलित गेय और अभिनेय काव्य लिखे जाते थे। यह भाषा परिनिष्ठित अपभ्रश से आगे बढी हुई (एडवान्स्ड) बताई जाती है। इसी मे बौद्धो के पद और दोहे, प्राकृत पैंगल के उदाहृत अधिकाश पद्य, सदेश-रासक आदि रचनाएँ लिखी गई है। वस्तुत यही भाषा आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओ के रूप मे विकसित हुई है। इसकी भाषा, शैली, काव्य-गत रियायती अधिकार, स्थापना पद्धति, छद आदि ज्यो-के-त्यो परवर्ती हिंदी साहित्य मे आ गए है। मेरा विचार है कि ये

हिंदी की पूर्ववर्ती अपभ्रश भापा

१ गेय डोम्बिका-भाण–प्रस्थान,-शिगक-भाणिका-प्रेरण-रामाक्रीड-हल्लीसक रासक गोष्ठी श्रीगदित-रागकाव्यादि।

काव्यानुशासन ८-४

रचनायें ही हिंदी-साहित्य के विकास के प्रसंग में विवेच्य हो सकती हैं। वस्तुतः ये ही हिंदी की पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषा के नमूने उपस्थित करती हैं। जैन आचार्यों द्वारा लिखित साहित्य से हम काव्यों के विषय में अनुमान कर सकते हैं। परंतु दो कारणों से हिंदी के परवर्ती साहित्य पर इसका सीधा प्रभाव नहीं मिलता। एक तो यह पूरा साहित्य मध्य देश के बाहर लिखा गया, और दूसरे इस साहित्य में एक ऐसी धार्मिक दृष्टि की प्रधानता है जिसने मध्य देश के साहित्य को बहुत ही थोड़ा प्रभावित किया है।

अपभ्रंश के जैन-साहित्य का महत्त्व

फिर भी हिंदी साहित्य के अध्ययन में जैन अपभ्रंश-साहित्य की सहायता अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। यदि दसवीं शताब्दी तक मिली हुई अपभ्रंश रचनाओं पर विचार किया जाय तो स्पष्ट रूप से मालूम होगा, कि जिस विशाल भूभाग को हमने शुरू में ही मध्य देश कहा है उसमें लिखा हुआ साहित्य बहुत ही कम मात्रा में उपलब्ध हुआ है। उसके आधार पर हम उस विशाल और महत्त्वपूर्ण साहित्य के विकास का कुछ भी अंदाजा नहीं लगा सकते, जो आगे चलकर मूल मध्य देश में सूरदास तुलसीदास, जायसी और बिहारी जैसे कवियों की रचनाओं के रूप में प्रकट हुआ है। दसवीं शताब्दी से पहले की जो रचनाएँ निःसंदिग्ध रूप से 'हिंदी' रचनाएँ मानी जाती हैं, उनमें प्रायः सब की प्रामाणिकता संदिग्ध है, और यदि किसी प्रकार उनके मूल रूप का पता लग भी जाय, तो भी वे मूल मध्य देश के किनारे पर पड़े हुए प्रदेशों की रचनाएँ हैं। परन्तु इन जैन आचार्यों और कवियों की रचनाएँ निस्संदेह मूल रूप में और प्रामाणिक रूप में सुरक्षित हैं। उनके अध्ययन से तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति पर जो भी प्रकाश पड़ता है वह वास्तविक और

विश्वसनीय है। इस दृष्टि से जैन रचनाओ का महत्त्व बहुत अधिक है। ये हमें लोकभाषा के काव्य रूपों को समझने में सहायता पहुँचाती हैं और साथ ही उस काल की भाषागत अवस्थाओ और प्रवृत्तियो को समझने की कुजी भी देती है।

अपभ्रश में अनेक चरित-काव्य लिखे गए थे, जिनकी परंपरा आगे चलकर हिंदी के चरित-काव्यो मे प्राप्त होती है। परन्तु ये काव्य अब बहुत कम उपलब्ध होते हैं। बाणभट्ट के एक मित्र ईशान कवि थ, जो 'भाषा कवि' अर्थात् अपभ्रंश के कवि थे। पुष्पदंत ने विनय प्रकट करते हुए महापुराण मे कहा है कि मैंने न तो चतुर्भुज, स्वयंभू, श्रीहर्ष और द्रोण को ही देखा है और न बाण और ईशान जैसे सुकवियों का ही अवलोकन किया है। इनमें चतुर्भुज और स्वयभू तो अपभ्रंश के परिचित कवि है ही, ईशान भी अच्छे कवि रहे होगे ऐसा स्पष्ट मालूम होता है। आजकल केवल जैन चरित-कवियों की रचनाएँ ही उपलब्ध हो सकी है। ईशान की कोई रचना प्राप्त नही है। स्वयभू अपभ्रंश के उन सबसे पुराने कवियों में है जिनकी रचना उपलब्ध है। इनकी चार महत्त्वपूर्ण रचनाओं का पता चला है पउम चरिउ (रामायण), रिट्ठणेमि चरिउ, पचमी चरिउ और स्वयंभूच्छंद। केवल अंतिम पुस्तक पूरी छपी है (तीन अध्याय एशियाटिक सोसायटी के नवे जर्नल १९३५ मे और बाकी पाँच अध्याय बाम्बे यूनिवर्सिटी जर्नल १९३६ में)। बाकी पुस्तको के केवल थोड़े-थोड़े अंश प्रकाशित हुए है। रामायण के कुछ कवित्वपूर्ण अंश राहुल जी ने 'काव्य धारा' मे प्रकाशित किए हैं। वस्तुतः यही पुस्तक स्वयंभू की सर्वोत्तम रचना है। इसमें स्वयभू की कवित्व शक्ति का बहुत सुन्दर परिचय मिलता है। परन्तु साहित्य के इतिहास के जिज्ञासु के

अपभ्रंश जैन रचनाओ का वर्गीकरण

लिए 'स्वयभू छंद' भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें उदाहरण के लिए अपभ्रंश के निम्नलिखित कवियो की रचनाएँ उद्धृत है— 'चउमुह (चतुर्मुख), धुत्त, धनदेव, छइल्ल, अज्जदेव (आर्य देव), गोइद (गोविंद), सुद्धसील, जिणआस, विअड्ढ। इससे पता चलता है कि स्वयभू क पहले अपभ्रश-काव्य की बहुत महत्त्वपूर्ण परपरा थी। जिस प्रकार नवीं शताब्दी के पहले के अपभ्रश साहित्य के लिये 'प्राकृत पैंगल' का महत्त्व है, उसी प्रकार ८वी शताब्दी के पहले की रचनाओ के लिये इस ग्रंथ का महत्त्व है। स्वयभू का समय ८वी शताब्दी के आस-पास ही होगा, क्योकि इन्होने स्वय रविषेण (५७७ ई०) की चर्चा की है, और पुष्पदत ने (१०वी शताब्दी) इनका नाम लिया है। इन्ही दोनो के बीच का कोई समय स्वयभू का समय होगा। स्वयभू के पुत्र त्रिभुवन भी बहुत अच्छे कवि थे। उन्होंने अपने पिता के काव्यों में अधिक अध्याय जोड़ कर उन्हे बढ़ाया था।

स्वयभू अपभ्रश के सर्वोत्तम कवियों में है। हरिषेण ने अपनी 'धम्म परीक्खा' में अपभ्रश के तीन कवि मान है। चतुर्मुख, स्वयभू और पुष्पदत। इनमें चतुर्मुख पुराने है परतु इनका कोई ग्रथ अभी तक उपलब्ध नही हुआ। स्वयभू ने इन्हे पद्धड़िया बध का दाता (प्रवर्तक) कहा है—'चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय'। पर दुर्भाग्यवश इनकी कोई रचना उपलब्ध नही हुई है। पुष्पदंत के कई ग्रथो का पता लगा है। अधिकाश प्रकाशित भी हो गये है। ये दसवी शताब्दी के मान्यखेट के प्रतापी राजा कर्ण के महामात्य भीत के सभा कवि थे। बहुत ही मनस्वी व्यक्ति थे। अपने को 'अभिमान-मेरु' कहा करते थे। इनको ही हिंदी की भूली हुई अनुश्रुतियो मे राजा मान का पुष्प कवि कहा गया है। इनकी तीन रचनाएँ प्राप्त हुई है, और तीनों ही प्रकाशित हुई है।

ये है १. तिसट्ठिमहापुरिसगुणालकारु (त्रिसष्ठि महापुरुष-गुणालंकार), २ णायकुमारचरिउ[1] (नागकुमार चरित), ३. जसहरचरिउ[2] (यशोधरचरित)। पुष्पदत बहुत ही शक्ति संपन्न व्यक्ति थे। काव्य के सभी रूपो और अवयवो पर इनका पूर्ण अधिकार है। अपने तिसटिठ् महापुरिस गुणालकारु में इन्होने बडे गर्व के साथ घोषणा की है, जो इस ग्रथ में है, वह और कही मिल ही नही सकता---कि चान्य-द्यदिहास्ति जैन चरिते नान्यत्र तद् विद्यते।

दसवी शताब्दी में धनपाल नामक जैन कवि ने 'भविसयत्त कहा'[3] नामक प्रसिद्ध चरित-काव्य की रचना की थी। ये सभवतः पुष्पदंत से थोडे पहले के हैं। इनकी रचना काफी सुप्रसिद्धि पा चुकी है। और-भी कई जैन कवियो के लिखे चरित-काव्य उपलब्ध हुए हैं, जैसे करकण्डचरिउ[4] (१२वी शती), सुदर्शनचरिउ (११वी शती), पजुण्णचरिउ और सुकुमालचरिउ (१३वी शती), नेमिनाहचरिउ और पुरोशल-चरिउ (१५वी शती) इत्यादि। इनमें केवल करकण्डुचरिउ ही प्रकाशित हुआ है। बाकी अभी अप्रकाशित हैं।

इन चरित-काव्यो के अध्ययन से परवर्ती काल के हिंदी साहित्य के कथानको, कथानक-रूढियो, काव्यरूपो, कवि-प्रसिद्धियो, छदोयोजना, वर्णन शैली, वस्तु-विन्यास, कवि-कौशल आदि की कहानी बहुत स्पष्ट हो जाती है। इसलिये इन काव्यो से हिंदी साहित्य के विकास के अध्ययन में बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है।

---

१ डा० हीरालाल जैन द्वारा सपादित और १९३३ में कारजा से प्रकाशित।

२ डा० पी० एल० वैद्य द्वारा संपादित और १९३१ में कारंजा से प्रकाशित।

३ बडौदा से गायकवाड सस्कृत ग्रंथ माला में १९२३ में प्रकाशित।

४ डा० हीरालाल जैन द्वारा सपादित होकर १९३४ में कारजा से प्रकाशित।

८वीं-९वीं शती के जैन मरमी कवि जोइंदु (योगींदु या योगींद्र) के दो ग्रंथ परमात्मप्रकाश और योगसार[1] दोहों में उपलब्ध हुए हैं। इन दोहों का स्वर नाथ योगियों के स्वर से इतना अधिक मिलता है, कि इनमें से अधिकांश पर से यदि जैन विशेषण हटा दिया जाय, तो यह समझना कठिन हो जाएगा कि ये निर्गुणमार्गियों के दोहे नहीं हैं। भाषा, भाव, शैली आदि की दृष्टि से ये दोहे निर्गुणिया साधकों की श्रेणी में ही आते हैं। इसी प्रकार दसवीं शताब्दी के कवि रामसिंह की रचना 'पाहुड दोहा' प्राप्त हुई है, जो भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से उसी श्रेणी में आती है। इन दोहों में कबीर, दादू आदि की परवर्ती दोहा-बद्ध रचनाओं की परंपरा स्पष्ट होती है।

हेमचंद्र के व्याकरण में तथा मेरु-तुंग के 'प्रबंध-चिंतामणि' में संगृहीत दोहों—ने जिनमें निश्चित रूप से जैनेतर कवियों की रचनाएँ भी संगृहीत हैं—हिंदी-साहित्य के विद्यार्थी के सामने खोज और विचार का नवीन क्षेत्र उद्‌घाटित किया है। इन दोहों में उस श्रेणी की शृङ्गारिक रचनाएँ संगृहीत हैं, जो आगे चलकर बिहारी, मतिराम, मुबारक आदि की परंपरा के समझने में सहायक हैं, और दूसरी ओर नीति विषयक रचनाएँ हैं, जो रहीम और वृंद के दोहों की परंपरा का स्मरण दिलाती हैं। इसके वीर-रस के दोहे डिंगल की वीर-परंपरा को स्पष्ट करने में सहायक हैं। इसी प्रकार जैन कवियों की चर्चरी फागु, रास आदि रचनाएँ परवर्ती साहित्य के काव्य-रूपों के समझने में सहायक हैं।

---

१ 'परमात्मप्रकाश और योगसार' डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा संपादित होकर बंबई से प्रकाशित।

पहले ही बताया गया है कि महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने अनेक बौद्ध सिद्धो की रचनाओ का प्रकाशन कराया था। उन्होने उसकी भाषा को एक हजार वर्ष पुरानी बगला कहा था। बाद मे डा० शहीदुल्ला, डा० प्रबोधचद्र बागची और महापडित राहुल साकृत्यायन के प्रयत्नो से इस दिशा मे और भी कार्य हुआ, और नई सामग्री प्राप्त हुई। बौद्ध धर्म अतिम दिनो मे मंत्र-तत्र की साधना में बदल गया था। वज्रयान और महायान मे इसी जाति की साधना का प्राधान्य है। ये लोग 'सिद्ध' कहे जाते थे। वज्रयान मे इन सिद्धो की सख्या ८४ बताई जाती है। इम समय सरहपा (८वी शती), शबरपा (९वी शती), भूसुकपा (नवी शती), लूइपा (नवी शती), विरूपा (९वी शती), डोबिपा (९वी शती), दारिकपा (९वी शती), गुडरिपा (९वी शती), कुकुरिपा (९वी शती), कमरिपा ९वी शती), कण्हपा (९वी शती), गोरक्षपा (९वी शती), तथा तिलोपा, शातिपा प्रभृति सिद्धो की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। रचनाओ में प्रधान रूप से नैरात्म्य भावना, काया योग, सहज-शून्य की साधना और भिन्न-भिन्न प्रकार की समाधि-जन्य अवस्थाओ का वर्णन है। पदो की योजना इस प्रकार की है, कि ऊपर से उससे कुत्सित लोक-विरुद्ध अर्थ प्रकट हो, या परस्पर विरोधी अनर्थक बातें प्रतीत हो, किंतु साधना के रहस्यात्मक शब्दो की जानकारी प्राप्त होने पर साधनात्मक विशुद्ध अर्थ स्पष्ट हो जाय। इस प्रकार की उलटवासियो को ये लोग सध्या-भाषा कहते थे। कुछ विद्वानो ने संध्या-भाषा का अर्थ यह बताया है, कि यह ऐसी भाषा है, जिसमें संध्या के समान प्रकाश तथा अंधकार का मिश्रण है, ज्ञान के आलोक से उसकी सारी बातें स्पष्ट हो जाती है, परतु कुछ दूसरे

सधा भाषा या उलट-वासियो की परम्परा

विद्वान् इसका अर्थ अभिसंधि या अभिप्राययुक्त वाणी बताते हैं। पं० विधुशेखर शास्त्री ने सुझाया है, कि मूल शब्द संध्या भाषा नहीं, बल्कि सधा भाषा रहा होगा।

७वीं-८वीं शताब्दी से तांत्रिक साहित्य में इस प्रकार की विचित्र भाषा का प्रचलन हो गया था। तंत्रो के साहित्य में ऐसे श्लोक मिलते हैं, जिनका ऊपरी अर्थ चिढ़ानेवाला और लोक-मर्यादा विरोधी है परतु पारिभाषिक अर्थों के समझने के बाद जो अर्थ स्पष्ट होता है, वह उतना चिढ़ानेवाला और धक्कामार नही होता। यह परपरा नाथ योगियों की मध्य-स्थता में हिंदी के निर्गुणमार्गी कवियों की रचनाओं में भी पाया जाता है। बहुत से पडितों ने बताया है कि इन उलटबासियो और साधनात्मक रूपकों की परपरा निर्गुण-मार्गी संतों को सिद्ध कवियो के बौद्ध सिद्धो से प्राप्त हुई है। परंतु यह बात बहुत अधिक सत्य नही है। सन् ईस्वी की नवी-दसवीं शताब्दी में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) नामक सिद्ध हुए, जिनकी गणना ८४ सिद्धो में भी होती है, पर बाद में शिव के अवतार के रूप में प्रसिद्ध हुए। गोरक्षनाथ बहुत शक्तिशाली धार्मिक नेता थे। इन्होंने हठ-योग प्रधान नाथ-सप्रदाय का संगठन किया था। नाथ-पंथी अनुश्रुतियों में बताया गया है, कि इन्होने अनेक शैव और योग सप्रदायो को तोड़कर बारह-पंथी शाखा की स्थापना की थी। इस बारह-पंथी योग-मार्ग में जालधर और कण्हपा जैसे बौद्ध कापालिक भी थे, और वैष्णव, जैन और शक्ति साधक भी सम्मिलित थे। नाथ-पंथियों के भी ८४ सिद्ध प्रसिद्ध हैं। वर्णरत्नाकर नामक १४वी शताब्दी के मैथिली ग्रथ में इन ८४ सिद्धों के नाम दिए है। यद्यपि संख्या ८४ ही कही गई

है, परंतु वास्तव में संख्या ७६ या ७८ से अधिक नही है। इसके अनेक सिद्ध वज्रयानी सिद्धों की परंपरा से अभिन्न हैं। आगे दी हुई सूची से दोनो सिद्धो की तालिका का तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है।

संख्या	नाथसिद्ध	संख्या	सहजयाना सिद्ध	विशेष
१	मीननाथ	१	लूहिपा	
२	गोरक्षनाथ	२	लीलापा	
३	चौरंगीनाथ	३	विरूपा	नाथसिद्ध न० १०
४	चामरीनाथ	४	डोम्भीपा	
५	तंतिपा	५	शवरीपा	नाथसिद्ध नं० ४७ से तुलनीय
६	हालिपा	६	सरहपा	
७	केदारिपा	७	कंकालीपा	
८	धोंगपा	८	मीनपा	नाथ परंपरा के संख्या १ से तुलनीय
९	दारिपा	९	गोरक्षपा	नाथसिद्ध न० २
१०	विरूपा	१०	चोरंगीपा	नाथसिद्ध नं० ३
११	कपाली	११	वीणापा	
१२	कमारी	१२	शांतिपा	नाथसिद्ध न० ४४ से तुलनीय
१३	कान्ह	१३	सतिपा	नाथसिद्ध न० ५ से तुलनीय
१४	कनखल	१४	चमरिपा	
१५	मेखल	१५	खड्गपा	
१६	उन्मन	१६	नागार्जुन	नाथसिद्ध २२
१७	काण्डलि	१७	कण्हपा	नाथसिद्ध १३ से तुलनीय

संख्या	नाथसिद्ध	संख्या	वज्रयानी सिद्ध	विशेष
१८	धोबी	१८	कर्णरिपा (आर्यदेव)	
१९	जालंधर	१९	थगनपा	नाथसिद्ध ४८ से तुलनीय
२०	टांगी	२०	नारोपा	
२१	मारु	२१	शलिपा (शीलपा) शृगालीपाद ?	नाथसिद्ध ५५ से तुलनीय
२२	नागार्जुन	२२	तिलोपा	
२३	चौती	२३	छत्रपा	
२४	भिगान	२४	भद्रपा	नाथसिद्ध ३७ से तुलनीय
२५	अनिति	२५	दोखंधिपा (द्विखंडिपा)	
२६	चमाक	२६	अजोगिपा	
२७	ढेंढस	२७	कालपा	
२८	भुस्करी	२८	धोम्भिपा	नाथसिद्ध १८ से तुलनीय
२९	बाकलि	२९	कंकणपा	
३०	तुजी	३०	कमरिपा (कँबलपा)	नाथसिद्ध ३४ से तुलनीय
३१	चर्पटी	३१	डेंगिपा	नाथसिद्ध ८
३२	भादे	३२	भदेपा	नाथसिद्ध ३२ से तुलनीय
३३	चांदन	३३	तंधेपा (ततिपा)	
३४	कामरी	३४	कुक्कुरिपा	

संख्या	नाथसिद्ध	संख्या	सहजयानी सिद्ध	विशेष
३५	करवत	३५	कुचिपा (कुसूलिपा)	
३६	धर्मपा पतंग	३६	धर्मपा	नाथसिद्ध ३६
३७	भद्र	३७	महीपा (महिलपा)	
३८	पातलिभद्र	३८	अचिन्तिपा	नाथसिद्ध २५ से तुलनीय
३९	पालेहिद	३९	भलहपा (भवपा)	
४०	भानु	४०	नलिनपा	
४१	मीन	४१	भूसुकपा	
४२	निर्दय	४२	इंद्रभूति	
४३	सवर	४३	मेकोपा	
४४	सांति	४४	कुडालिपा (कुद्दलिपा)	नाथसिद्ध ७ से तुलनीय
४५	भर्तृहरि	४५	कमरिपा (कम्मारिपा)	नाथसिद्ध १२ से तुलनीय
४६	भीषण	४६	जालन्धरपा (जालंधारक)	नाथसिद्ध १६ से तुलनीय
४७	भटी	४७	राहुलपा	
४८	गगनपा	४८	धर्मरिपा (धर्मरि)	
४९	गमार	४९	धोकरिपा	
५०	मेनुरा	५०	मेदनीपा (हालीपा ?)	नाथसिद्ध ८ से तुलनीय
५१	कुमारी	५१	पंकजपा	

संख्या	नाथसिद्ध	संख्या	सहजयानी सिद्ध	विशेष
५२	जीवन	५२	घंटा (वज्रघंटा) पा	
५३	अघोसाधव	५३	जोगिपा (अजोगिपा)	
५४	गिरिवर	५४	चेलुकपा	
५५	सियारी	५५	गुडरिपा (गोरक्षपा)	
५६	नागवालि	५६	लुचिकपा	
५७	विभवत्	५७	निर्गुणपा	
५८	सारंग	५८	जयानन्त	
५९	विविक्तिध्वज	५९	चर्पटीपा (पचरीपा)	नागसिद्ध ३१ से तुलनीय
६०	मगरधज	६०	चम्पकपा	नागसिद्ध ४ से तुलनीय
६१	अचित	६१	भिखन पा	नागसिद्ध ४६ से तुलनीय
६२	विचित	६२	भलिपा	नागसिद्ध ११ से तुलनीय
६३	नेचर	६३	कुमरिपा	नागसिद्ध ४१ से तुलनीय
६४	चारल	६४	चवरि (जवरि) अजपालिपा	नागसिद्ध १ से तुलनीय
६५	नाचन	६५	मणिभद्र (योगिनी)	नागसिद्ध ३८ से तुलनीय
६६	भीलो	६६	मेखलपा (योगिनी)	नागसिद्ध १५ से तुलनीय
६७	पाहिल	६७	कनखलपा (योगिनी)	नागसिद्ध १४ से तुलनीय
६८	पासल	६८	कलकलपा	

संख्या	नाथसिद्ध	संख्या	सहजयानी सिद्ध	विशेष
६९	कमल-कंगारि	६९	कंताली (कथाली) पा	
७०	चिपिल	७०	घहुलिररि पा (दवड़ीपा ?)	
७१	गोविंद	७१	उधनि (उधालि) पा	
७२	भीम	७२	कपाल (कमल) पा	नाथसिद्ध ६९ से तुलनीय
७३	भैरव	७३	किलपा	
७४	भद्र	७४	सागरपा	
७५	भमरी	७५	सर्वभक्षपा	
७६	मुरुकुटी	७६	नागबोधिपा	नाथसिद्ध ५ से तुलनीय
७७		७७	दारिकपा	
७८		७८	पुतुलिपा	
७९		७९	पनहपा	
८०		८०	कोकालिपा	
८१		८१	अनगपा	
८२		८२	लक्ष्मीकरा	
८३		८३	समुदपा	
८४		८४	भलि (व्यालिपा) पा	

श्री ज्ञानेश्वर चरित्र में प० लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर ने ज्ञाननाथ तक की गुरु-परंपरा इस प्रकार बताई है--
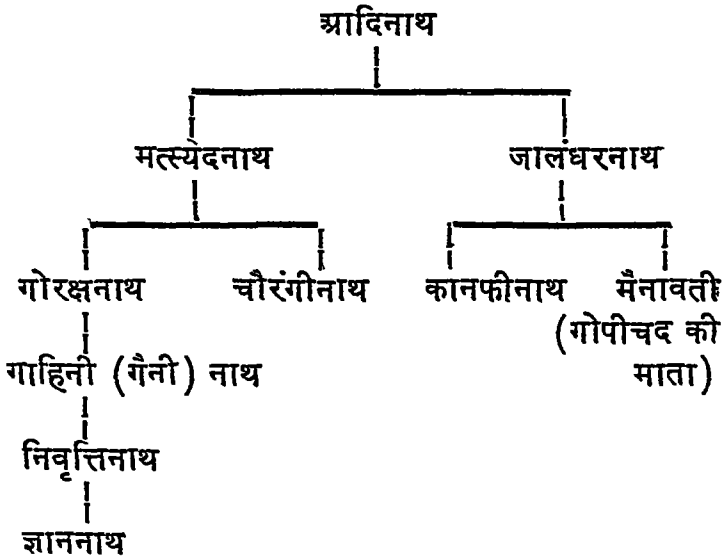
इस प्रकार यदि नवनाथो, कापालिकों, ज्ञाननाथ तक के गुरु सिद्धों और वर्णरत्नाकर के चौरासी नाथसिद्धो को नाथ परपरा मे मान लिया जाय तो चौदहवी शताब्दी के आरभ होने के पूर्व लगभग सवा सौ सिद्धो के नाम उपलब्ध होते हैं। इनमे तन्त्र-ग्रथो के मानव गुरुओ का उल्लेख नही है क्योकि यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वे गुरु नाथ-सिद्ध होंगे ही। नेपाली परंपरा के नाथ शिव के आनद और शक्ति के प्रतीक जान पड़ते हैं। कान्ह कन्हड़ी, करणरिपा कालश्रीनाथ आदि एक ही

सिद्ध के नाम उच्चारण भेद से भिन्न रूप है। हठयोग प्रदीपिका के ढिण्ढिणी, सहजयानी सिद्ध ढेण्ढण और वर्ण-रत्नाकर के ढेण्ढस एक ही सिद्ध हैं। वर्ण-रत्नाकर की मेनुरा, मेना या मयनामती का ही नामांतर जान पड़ता है। काल भैरवनाथ और भैरवनाथ एक ही हो सकते है और नागनाथ, नागार्जुन और नागा अरजद एक ही व्यक्ति के नाम है।

स्पष्ट है कि वज्रयानी सिद्धो के साथ इन शैव नाथ-पंथी सिद्धो का कभी घनिष्ट योग था। इनकी शैली बहुत कुछ सहजयानी सिद्धो की शैली ही है। परवर्ती हिंदी साहित्य के निर्गुण मार्ग के साधक संतों ने इन्ही नाथसिद्धो से इस शैली को प्राप्त किया है।

नाथ-सम्प्रदाय और उसका साहित्य

इस विषय को लेकर काफी वितंडावाद हुआ है, कि इनका समय क्या है। कभी यह समय पहली-दूसरी शताब्दी में, कभी ८वीं-१०वीं शताब्दी में, कभी १२वी-१४वीं शताब्दी में रक्खा गया है। इसका कारण यह है, कि गोरक्षनाथ को भिन्न-भिन्न अनुश्रुतियो मे उन पुराने प्रवर्तको के साथ मिला दिया गया है, जिनके सम्प्रदायो को गोरक्षनाथ ने अपनी बारहपंथी शाखा में मिला लिया था। दसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध काश्मीरी आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने तंत्रालोक मे मच्छंद विभु या मत्स्येन्द्रनाथ की वंदना की है। इससे सिद्ध होता है, कि मत्स्येन्द्रनाथ दसवी शताब्दी के पूर्व अवतरित हुए थे। तिब्बती परंपरा के साथ इस तथ्य को मिला कर देखें तो यह समय नवी शताब्दी के आरंभ में पड़ता है। गोरक्षनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे, इसलिये उनका समय भी इसी के आसपास होगा। हिंदी में गोरक्षनाथ के नाम से प्रचलित

अनेक रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। बहुत सी रचनाएँ सस्कृत[1] की है। इन पुस्तको के अतिरिक्त हिंदी में भी गोरक्षनाथ की कई पुस्तक पाई जाती हैं। स्वर्गीय डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने गौरखवानी उनमे से कुछ प्रकाशन हिंदी साहित्य सम्मेलन से कराया था[2]।

डा० बडथ्वाल ने अनेक प्रतियो की जाँच करके इनमे से प्रथम चौदह को प्रामाणिक समझा है। 'ज्ञानचौतीसा' समय पर न मिल सकने के कारण वे प्रकाशित न करा सके। बाकी तेरह पुस्तकों को उन्होने इस सग्रह में प्रकाशित कराया था। शेष पुस्तको के विषय मे उन्होने सदेह प्रकट किया है।

---

१. सस्कृत रचनाएँ ये हैं—१. अभनस्क, २ अमरौघशासनम्, ३. अवधूतगीता, ४ गोरक्षकल्प, ५ गोरक्षकौमुदी, ६ गोरक्षगीता, ७ गोरक्षचिकित्सा, ८ गोरक्षपन्चय, ९ गोरक्षपद्धति, १० गोरक्षशतक, ११ गोरक्षशास्त्र, १२ गोरक्षसहिता, १३. चतुरशीत्यासन, १४. ज्ञानप्रकाशशतक, १५ ज्ञानशतक, १६ ज्ञानामृतयोग, १७. नाडीज्ञानप्रदीपिका, १८. महार्थमजरी, १९ योगचितामणि, २० योगमार्तण्ड, २१. योगवीज, २२ योग-शास्त्र, २३ योग इत्यादि।

२ डा० बडथ्वाल के खोज स्वरूप निम्नलिखित ४० पुस्तकों का पता चला है, वे निम्नलिखित हैं—

(१) शब्द (२) पद (३) शिष्यादर्शन (४) प्राणसकली (५) नरवैबोध (६) आत्मबोध (७) अभयमात्रायोग (८) पद्रहतिथि (९) सप्तवार (१०) मछिद्रगोरखबोध (११) रोमाली (१२) ज्ञानतिलक (१३) ग्यानचौंतीसा (१४) पचमात्रा (१५) गोरख-गणेशगोष्ठी (१६) गोरखदत्त गोष्ठी (ज्ञानदीपबोध) (१७) महादेवगोरखगोष्ठी (१८) शिष्टपुरान (१९) दयाबोध (२०) जातिभँवरावली (२१) नवग्रह (२२) नवराशि (२३) अष्टपारक्षय (२४) रसराह (२५) ज्ञानमाला (२६) आत्मबोध (२७) व्रत (२८) निरजनपुरान (२९) गोरखवचन (३०) इद्रियदेवता (३१) मूलगर्भावली (३२) वाणी (३३) गोरखसत (३४) अष्टमुद्रा (३५) चौबीससिद्धि (३६) षडक्षरी (३७) पचअग्नि (३८) अष्टचक्र (३९) अवलिसिलूक (४०) काफिरबोध।

'सबदी' गोरक्षनाथ की सबसे प्रामाणिक रचना है। डा० मोहनसिंह ने गोरखबोध में प्रकाशित सिद्धान्तों को बहुत प्रामाणिक माना है। पर इधर हाल में प्रबोधचद्र बागची ने मत्स्येन्द्रनाथ के कई संस्कृत ग्रथो का प्रकाशन कराया है। इन पुस्तको मे प्रकाशित प्रतिपादित सिद्धांतो से गोरखबोध मे प्रकाशित सिद्धातो का कोई साम्य नही है। सही बात यह है कि गोरक्षनाथ के नाम पर प्रचलित हिंदी संस्कृत ग्रथो की प्रामाणिकता के बारे में कुछ भी कहना कठिन है। हिंदी रचनाओं की जो प्रतियाँ प्राप्त हुई है, वे बहुत पुरानी नही है, और अधिकाश निश्चित रूप से परवर्ती है। 'सबदी' अवश्य प्राचीन जान पडती है, पर उसके बारे मे भी निश्चित रूप से कहना कठिन है। तुलसीदास ने कुछ 'सबदियाँ' देखी अवश्य थी, पर यह बताना कठिन है, कि वे सबदियाँ गोरखनाथ की ही थी, अथवा अन्य निर्गुणिया सतो की।

सवाद-ग्रथ

गोरखनाथ के नाम पर चलने वाली पुस्तको से ऐसा जान पड़ता है कि दो महात्माओ के सवादरूप में अपने दार्शनिक मत और धार्मिक विश्वास पद्धति को प्रकट करने की इस पद्धति का बहुल प्रचार नाथ-पंथियो ने ही किया। ऐसा तो नही कहा जा सकता, कि पहले सवाद रूप मे सिद्धात प्रतिपादन की प्रथा थी ही नही। परतु दो साधको के प्रश्नोत्तर रूप में सिद्धात प्रतिपादन की जिस शैली का प्राधान्य इस पंथ के ग्रंथो में मिलता है, वह शैली पहले अपरिचित ही थी। इस पद्धति ने परवर्ती संत साहित्य को खूब प्रभावित किया था, और संवाद रूप में ऐसे अनेक ग्रथ लिखे गए, जिनका उद्देश्य सप्रदाय के विश्वास और मत का प्रचार था। 'मछिंद्र गोरख-बोध' जिसे संक्षेप मे 'गोरख-बोध' कहा जाता है, ऐसा ही सवाद-ग्रथ है। यद्यपि यह ग्रथ गोरखनाथ का लिखा हुआ

कहा जाता है तथापि हम इसे मत्स्येन्द्रनाथ के सिद्धातो का व्याख्यापक ग्रथ ही कह सकते हैं क्योकि इसमे गोरखनाथ प्रश्नकर्त्ता है और उत्तर देने वाले मत्स्येन्द्रनाथ । ऐसा विश्वास न करना ही उचित जान पड़ता है, कि गोरखनाथ ने स्वय ऐसा ग्रथ लिखा होगा । अधिक से अधिक इसे परवर्ती योगी सप्रदाय का विश्वास-व्यापक ग्रथ ही कहा जा सकता है । इसमे आत्मा, मन, पवन, नाद, विंदु, सुरति और निर्रति आदि के स्वरूप का सुन्दर विवेचन किया गया है ।

गोरखनाथ के पद

गोरखनाथ के नाम पर जो पद मिले है, वे कितने पुराने है यह बता सकना कठिन है । इनमे से कुछ अवश्य बहुत पुराने और गोरक्ष कथित हो सकते हैं । यद्यपि उनकी भाषा बहुत बदल गई है । इन पदो मे कई कबीर के नाम से, कई नानक के और दादू दयाल के नाम से भी पाए गये है । कुछ पद ..कोक्ति का रूप धारण कर चुके है, कुछ का जोगीड़ा के रूप में व्यवहार होता है और कुछ लोक में अनुभव-सिद्ध ज्ञान के रूप मे चल पडे हैं । इन पदो मे यद्यपि योगियो के लिये ही उपदेश है, अतएव इनमे भी उसी प्रकार की साधना-मूलक बाते पाई जाती है, जो इस प्रकार की सभी रचनाओ में मिलती है । बहुत से पद ऐसे है जिनमे लेखक के नैतिक विश्वास का पता चलता है । ऐसी नौतिक विश्वास वाली रचनाएँ आगे चलकर लोक मे अनुभूत ज्ञान के समान चल पड़ी हैं । जिस प्रकार के ज्ञान का उपदेश इस साहित्य में किया गया है, उसमें गुरु होना परमावश्यक माना गया है, और चित्त की शुद्धता पर अधिक जोर दिया गया है । कहा गया है कि मानसिक दृढता के रहते कोई भी विघ्न योगी को विचलित नही कर सकता । काम और क्रोध में मन आसक्त न हो, और चित्त की शिथिलता उसे बहकने न

दे, तो हंसने-खेलने वालों में नाथ जी प्रसन्न ही होते हैं और ऐसे योगी के लिये लाखों अप्सराएँ भी विघ्न उपस्थित नहीं कर सकती ।

हँसिबा खेलिबा रहिबा रग ।
काम क्रोध ना करिबा सग ॥
हँसिबा खेलिबा गाइबा गीत ।
दिढ करि राखिबा आपना चीत ॥
हँसिबा खेलिबा धरिबा ध्यान ।
अहि विधि कथिबा ब्रह्म गियान ॥
हँसे खेले ना करे मन भग ।
ते निहचल सदा नाथ के सग ॥

और—

नीलख पातरि आगे नाचे पीछे सहज अखाडा ।
ऐसे मन लै योगी खेलै, तब अंतरि बसै भडारा ॥

इन पदो में सहज जीवन पर बहुत जोर दिया गया है । यद्यपि अनेक प्रकार की यौगिक क्रियाओ पर भी बहुत अधिक जोर दिया गया है, और जो लोग इन क्रियाओं को नहीं कर सकते उन पर दया और क्षोभ की भावना प्रकट की गई है; तथापि बीच बीच में ऐसे सहज जीवन का आदर्श उपस्थित किया गया है, जो प्रत्येक गृहस्थ के लिये अनुकरणीय है—

हबकि ना बोलिबा, ठबकि ना चलिबा धीरे-धीरे धरिबा पाव
गरब न करिबा सहजे रहिबा भणत गोरख रावम् ।

सहज शीलवान् गृही को भी गगाजल के समान पवित्र बताया गया है—

सहज शील का धरे सरीर, सो गिरही गंगा का नीर ।

इन पदो मे ब्रह्मचर्य, वाक्सयम, शारीरिक और मानसिक पवित्रता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणो के प्रति

अनादर, आंतरिक शुद्धि और मद्य मांस के पूर्ण वहिष्कार पर जोर दिया गया है। हिंदी में पाए जानेवाले पदो में यह स्वर वहुत स्पष्ट और वलशाली है। इसने परवर्ती सतो के लिये श्रद्धाचरण-प्रधान पृष्ठ भूमि तैयार कर दी थी। जिन संत साधको की रचनाओं से हिंदी साहित्य गौरवांवित है, उन्हें वहुत कुछ वनी वनाई भूमि मिली थी।

इस साहित्य की सवसे वड़ी कमजोरी इसका रूखापन और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव है। इसी ने इस साहित्य को नीरस, लोक विद्विष्ट और क्षयिष्णु वना दिया था। फिर भी यह दृढ कण्ठ-स्वर उत्तरी भारत के धार्मिक वातावरण को शुद्ध और उदात्त वनाने में वडा सहायक हुआ। इस दृढ कण्ठ स्वर ने यहाँ की धार्मिक साधना में गलदश्रु भावुकता और ढुलमुले पन को आने नही दिया। परवर्ती हिंदी साहित्य में चरित्रगत दृढता, आचरण-शुद्धि और मानसिक पवित्रता का जो स्वर सुनाई पडता है, उसका श्रेय इस साहित्य को ही है। इसलिये इस पथ के साहित्य से परवर्ती हिंदी साहित्य का वहुत घनिष्ठ संबध है।

पुराने नाथ सिद्धो मे से कई के नाम पर प्रचलित हिंदी रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं जो "नाथ सिद्धो की वानियाँ" के नाम से नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो रही हैं। इनमे अजयपाल, गोपीचद, जालध्रीपाव, मच्छिंद्रनाथ, काणेरी, चरपटनाथ, चौरंगीनाथ, घोडाचूली घूघलीमल, परवत सिद्ध (१) वाल गुदाई आदि पुराने नाथ सिद्धो की वानियाँ हे जो वारहवी शती के पूर्व हो चुके थे। कुछ वानियो की भाषा और शैली संदेहास्पद हैं पर कुछ की प्राचीनता में संदेह करने का अवकाश वहुत कम है।

इस प्रकार दसवी शताब्दी तक के साहित्य मे जितना

जैन और बौद्ध मूलों से प्राप्त हुआ है उतना तो बहुत कुछ विश्वसनीय है। परंतु जो नाथ-साधकों के माध्यम से प्राप्त हुआ है उसके विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसकी भाषा और वक्तव्य-वस्तु में कितना अंश सचमुच पुराना है। भाषा में तो बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है। गोरखनाथ के नाम पर चलने वाली रचनाओं की भाषा को देखते हुए उन्हें बहुत पुराना नहीं कहा जा सकता। कुछ की रचना तो बहुत बाद में हुई है। फिर भी उनमें ध्यान देने योग्य बातें हैं अवश्य।

नाथ-साहित्य की अप्रामाणिकता

दसवीं शताब्दी तक के लोक भाषा साहित्य के मुख्य लक्षण

दसवीं शताब्दी तक के लोक भाषा के साहित्य में प्रधान रूप से ब्राह्मण मत के विरोधी संप्रदायों की लोक भाषा में निबद्ध रचनायें प्राप्त होती हैं। यह पूरा का पूरा साहित्य धार्मिक है। इसमें सहज जीवन पर आंतरिक शुचिता पर और सचाई के जीवन पर अधिक जोर दिया गया है और बाह्याचार, छूतछात, कृच्छ्र साधना आदि पर आघात किया गया है। योगमत पर सभी संप्रदायों की आस्था थी। योगमत के बहुल प्रचार ने लोगों को सिद्धियों का प्रेमी बना दिया था। सिद्धियों के प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार की साधनाएँ प्रचलित थीं। साधारणतः विश्वास किया जाता था कि मानव शरीर में पाँच अत्यंत रहस्यमय वस्तुएँ हैं जिनमें से किसी एक को भी वश में कर लेने से मनुष्य को सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। ये चार रहस्यमय वस्तुएँ हैं—मन, प्राण, शुक्र, वाक् और कुंडलिनी। इन्हीं पाँचों के संयमन के तरीकों को राज-योग, हठयोग, वज्रयान, जपयोग और कुंडलीयोग के अनेक भेदोपभेद चल पड़े थे। इन में कई साधनाएँ विकृत

भी हो गई और कई प्रकार की ऐसी क्रियाओं में विश्वास करने लगी जो नैतिक दृष्टि से अत्यत हीन स्तर की थी। इनकी प्रतिक्रिया नाथ-पंथी सिद्धो के सुस्पष्ट नैतिक उपदेशो मे प्राप्त होती है। परतु दसवी शताब्दी के इन साधकों की दृष्टि मुख्य रूप से सिद्धियो पर ही निबद्ध थी। परवर्ती साहित्य मे भी भक्ति आदोलन के आने के पहले इन सिद्धियो का ही बोलबाला था।

लौकिक रस का साहित्य भी इस समय लिखा अवश्य जा रहा था। संभवत हेमचद्र के उदाहरणो मे से कई इस काल की रचनाएँ है परंतु उनके बारे मे कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है। केवल इतना निश्चित है कि दोहो मे और पद्धड़िया बध मे लिखे हुए चरित काव्यो में लौकिक काव्य बहुत लिखे गए थे। सदेश रासक और हेमचद्र तथा मेरुतुंग के ग्रथो के दोहो की परपरा का बीजारोप इस काल मे अवश्य हो गया था।

[इस काल के अध्ययन मे सहायक हिंदी पुस्तकें—मिश्रबधु का 'मिश्रबंधु विनोद', रामचद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास'; राहुल साकृत्यायन की 'हिंदी काव्य धारा', हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'नाथ-सप्रदाय', रामकुमार वर्मा का 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'।]

२

हिंदी साहित्य का आदिकाल

हिंदी साहित्य का आदिकाल

(१०००ई०—१४०० ई०)

पूर्ववर्ती अध्याय मे दसवी शताव्दी के पहले के साहित्यिक प्रयत्नो की एक रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है। उससे पता चलता है कि परवर्ती शताब्दियो मे जो प्रवृत्तियाँ अकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई है उनमे बहुत सी ऐसी है जिनका बीज दसवी शताव्दी से बहुत पहले पड चुका था। परतु इस काल तक लोक भाषा का जो साहित्य प्राप्त होता है वह परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही साहित्य है, उसमे हिंदी भाषा का रूप स्पष्ट नही हुआ है। परंतु दसवी से चौदहवी शताब्दी तक के समय मे लोक भाषा मे लिखित जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमे परिनिष्ठित अपभ्रश से कुछ आगे बढी हुई भाषा का रूप दिखाई देता है। दसवी शताब्दी की भाषा के गद्य मे तत्सम शब्दो का व्यवहार बढने लगा था परतु पद्य की भाषा में तद्भव शब्दो का ही एकच्छत्र राज्य था। चौदहवी शताब्दी तक के साहित्य म इसी प्रवृत्ति की प्रधानता मिलती है। वस्तुत छद, काव्यरूप, काव्यगत रूढ़ियो और वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से दसवी से चौदहवी शताब्दी तक का लोक-भाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढाव है, यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रश से थोडी भिन्न है। इसलिये दसवी से चौदहवी शताब्दी के उपलब्ध लोक-भाषा साहित्य को अपभ्रश से थोडी भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है। वस्तुतः वह हिंदी की आधुनिक बोलियो

आदिकाल

मे से किसो-किसी के पूर्वरूप के रूप मे ही उपलब्ध होता है। यही कारण है कि हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखक दसवी शताब्दी से इस साहित्य का आरंभ स्वीकार करते है। इसी समय से हिंदी भाषा का आदिकाल माना जा सकता है। पं० रामचद्र शुक्ल ने स० १०५० (६६३ ई०) से इसका आरंभ माना है।

इस काल मे दो प्रकार की रचनाएँ प्राप्त हुई है—एक तो जैन भाडारो मे सुरक्षित, और अधिकाश में जैन प्रभावापन्न परिनिष्ठित-साहित्यिक अपभ्रंश की रचनाएँ है, और दूसरी लोक-परंपरा मे बहती हुई आनेवाली, और मूल रूप से अत्यत भिन्न बनी हुई लोक-भाषा की रचनाएँ।

दो श्रेणी की रचनाएं

प्रथम श्रेणी में हेमचंद्र के व्याकरण, मेरुतुग के प्रबधचिंतामणि, राजशेखर के प्रबंधकोश आदि मे सगृहीत दोहे, अब्दुर्रहमान का सदेश-रासक तथा लक्ष्मीधर के 'प्राकृत पैंगलम्' मे उदाहृत लोक-भाषा के छंद है। इनको हम प्रामाणिक रचना कह सकते है। दूसरी श्रेणी मे पृथ्वीराजरासो और परमालरासो आदि रचनाएँ है जिनके मूल रूप बहुत परिवर्तित और विकृत हो गए हैं। इन्हें हम सदिग्ध-ग्रथ कह सकते है।

यह ध्यान देने की बात है कि अब तक जिन रचनाओं की चर्चा की गई है, उनमें अपेक्षाकृत जो प्रामाणिक और विश्वसनीय है वे मध्य देश के सीमात के प्रदेशो में सगृहीत या लिखित रचनाएँ है। चाहे वे गुजरात में संगृहीत संरक्षित जैन कवियों की रचनाएँ हो, या गौड (बगाल) देश के पाल राजाओ के संरक्षण में संगृहीत बौद्ध सिद्धो की कृतियाँ हों, सब मध्य देश के बाहर प्राप्त हुई है। मूल मध्य देश मे जहाँ आगे चल कर ब्रजभाषा और अवधी का साहित्य उद्भूत और विकसित हुआ है, वहाँ किसी प्रामाणिक साहित्यिक रचना का प्रमाण सन्

ईस्वी की १४वी शताब्दी से पहले का नही मिलता। चाहे वे नाथ-सिद्धो की रचनाएँ हो, चाहे चद और जागनिक जैसे चारण कवियो की हो, सभी विकृत और परिवर्तित रूप मे ही उपलब्ध है। केवल 'प्राकृत पैंगलम्' मे उदाहृत कुछ पद्यो के विषय मे हम कुछ नि सदिग्ध रूप से कह सकते है कि वे रचनाएँ मूल रूप मे सुरक्षित है। राजपूताने के 'ढोलामारू रा दोहा' जैसे प्रसिद्ध काव्यो की प्रामाणिकता के विषय मे भी सदेह ही है। इस प्रकार मूल मध्यदेश म १४वी शताब्दी के पहले की प्रामाणिक रचनाएँ प्राय एकदम अप्राप्त है। ऊपर हमने प्रामाणिक और सदिग्ध नाम का जो विभाग किया है, उसके विषय मे यही कहा जा सकता है, कि संदिग्ध रचनाएँ वे है जो मूलमध्य देश मे रची गई थी, और अपेक्षाकृत प्रामाणिक रचनाएँ वे है जो मध्य देश के वाहर गजरात, मान्यखेट, वरार, महाराष्ट्र, गौड और नैपाल में सुरक्षित है। कारण क्या है?

प्रामाणिक रचनाओ के अभाव का कारण

जिन दिनो हिंदी साहित्य बनने लगा, उन्ही दिनो मध्य देश पर वारवार मुसलमानो के आक्रमण हुए। उन दिनो उत्तर भारत की केन्द्रीय राजशक्ति दुर्बल हो गई थी। कान्यकुब्ज के प्रतीहार राजा राज्यपाल ने जव महमूद गजनवी को आत्म-समर्पण किया, तो अधीनस्थ राजपूत रजवाड़े बिगड खडे हुए और उसे मार डाला। उन्होने उसके पुत्र को गद्दी पर वैठा तो दिया, लेकिन वस्तुत दिल्ली और साभर के चौहान और कालिञ्जर के चदेल स्वतंत्र राजा हो गए। राजशक्ति क्षीण और हत-वीर्य हो गई। इसी समय काशी और कान्यकुब्ज पर गाहडवाल वश का राज्य स्थापित हुआ। लगभग दो सौ वर्षो से पश्चिम के सोलकी और पूर्व के पालवशी राजा लोग कान्यकुब्ज की राजलक्ष्मी को हस्तगत करने का प्रयत्न कर रहे थे। अव साभर के

चौहान, कालिंजर के चंदेल और गजनी के अमीरों ने भी कान्यकुब्ज की राजलक्ष्मी को हड़प लेने का प्रयत्न शुरू किया। इस बात का प्रमाण उपलब्ध है, कि दसवीं शताब्दी में त्रिपुर (तेवार) के राजा कर्ण ने काशी को अपनी राजधानी बनानी चाही, और उसने चंपारन तक समूचे सरयूपार के इलाके को हस्तगत कर लिया था। गोरखपुर जिले में इसके कई दान-पत्र प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार काशी-कान्यकुब्ज के अधिपतियों को पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन सब ओर शत्रुओं का सामना करना पड़ता था। गाहड़वालों में गोविंदचंद्र बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसने अपने अभिलेखों में अपने को गौड़ों की दुर्वार गज सेना का कुंभ विदीर्ण करने वाला कहा है और यह भी लिखा है, कि वह गजनी के अमीरों को नित्य लड़ाई के खेल खेलाया करता था। गोविंद-चंद्र ने यह अच्छी तरह समझ लिया था, कि उत्तरी भारत के विशाल मैदान का शासक वही हो सकता है, जिसके पास घोड़ों की सुशिक्षित सेना हो। इसीलिये उसने गर्वपूर्वक घोषणा की है, कि मैं उस पृथ्वी का भोग करता हूँ जो निरंतर दौड़ते हुए घोड़ों की टाप की मुद्रा से मुद्रित होती रहती है। इसीलिये वह अपने काल का अश्वपति राजा कहलाता था। इसी प्रकार गौड़ के शासक अपने को गजपति और कलिंग के शासक नरपति कहते थे। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने पद्मावत में अश्वपति, गजपति और नरपति नामक तीन राजाओं की चर्चा की है जो इसी काल की परंपरा का अवशेष जान पड़ता है। बारहवीं शताब्दी के बाद के अभिलेखों में ये शब्द नहीं मिलते। सिर्फ जायसी के पद्मावत में ही ये शब्द सुरक्षित रह गए हैं। यह तथ्य संभवतः बताता है कि जायसी ने अपने काव्य के लिये जिस कहानी का उपयोग किया था, वह कम-से-कम चार सौ वर्ष पुरानी

अवश्य थी ।

गाहडवालो के राज्य काल में कान्यकुब्ज की लक्ष्मी बहुत कुछ स्थिर हो गई और मध्य देश का मुख्य भाग उन्ही के शासन मे बना रहा, परंतु ऐसा जान पड़ता है, कि ये गाहड़वाल राजा इस प्रदेश के बाहर से आए थे और काशी और कान्यकुब्ज की स्थानीय जनता से अपने को बहुत दिनो तक भिन्न समझते रहे । कुछ लोगो का अनुमान है कि वे दक्षिण से आए थे । किंतु यह अनुमान बहुत पुष्ट प्रमाणो पर आधारित नही है । दो बातें इसके पक्ष मे कही जाती हैं । एक तो नयचन्द्र नामक जैन कवि की एक संस्कृत नाटिका प्राप्त हुई है, जिसमे वैतालिको ने अतिम गाहड़वाल राजा जयचन्द्र की स्तुति मराठी भाषा मे की है । यह कवि १४वी शताब्दी का है । इसकी देश भाषा में मराठी का प्रयोग अधिक से अधिक यही सूचित करता है कि कवि की मातृ-भाषा मराठी थी । दूसरा प्रमाण यह दिया जाता है कि गोविंद चद्र के जितने भी दान-पत्र मिले हैं वे दक्षिणी ब्राह्मणो को दिये गए दान हैं । परतु विद्वानो ने इस धारणा को भ्रात ही समझा है । एक दूसरे प्रकार के पडित है जिनका मत है कि गाहडवाल पश्चिम से आए थे । जो भी हो इतना तो निश्चित है कि गाहड़वालो ने देश भाषा को उतना प्रोत्साहन नही दिया, जितना चौहानो, सोलंकियो, परमारो और चदेलो ने दिया । गाहडवाल सस्कृत के अधिक संरक्षक थे । इधर हाल मे 'युक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' नाम का एक व्याकरण ग्रथ प्राप्त हुआ है, जो गोविंदचद्र के सभा पंडित दामोदर भट्ट का लिखा कहा जाता है । डा० मोतीचंद का अनुमान है कि इसमें राजकुमारो को काशी और कान्यकुब्ज की भाषा सिखाने का प्रयत्न है । यदि यह अनुमान सत्य है तो इससे भी यह अनुमान होता है, कि गाहड़वाल राजा इस प्रदेश

की भाषा के जानकार न थे। गोविन्दचन्द्र के पौत्र जयचन्द्र कान्यकुब्ज के अंतिम राजा थे। इनके दरबार में देशी भाषा के कवियों का सम्मान होने लगा। इनके महामन्त्री विद्याधर भट्ट स्वयं भी देशी भाषा के अच्छे कवि थे। इनकी कुछ रचनाएं 'प्राकृत पैंगलम्' में उदाहरण रूप में उद्धृत की गई है। किंतु जब इस प्रतापी राज-वंश ने देश-भाषा को प्रोत्साहन देना शुरू किया, तभी दुर्दैव का प्रचंड आघात हुआ और काशी-कान्यकुब्ज की लक्ष्मी मुसलमानों के हाथ चली गई। यह इतिहास बहुत ही करुण है, और इसके गर्भ में भावी भारतवर्ष के दुरवस्था के बीज वर्तमान हैं।

पुराने साहित्य का संरक्षण

लोकभाषा का साहित्य सुरक्षित नहीं रह सका। वह लोकमुख में ही जीवित रहा है। जो रचनाएं धर्म बुद्धि का करावलम्ब पा सकी वे ही कथंचित् सुरक्षित रह सकी हैं। बौद्ध साहित्य में कुछ लोकभाषा की रचनाएं सुरक्षित रह गई हैं और कुछ जैन साहित्य का आश्रय पाकर बच सकी हैं। जिन रचनाओं को धर्म का सहारा नहीं मिला वे बनती रहीं और परवर्ती काल में परिवर्तित, परिवर्द्धित या विस्तृत होती रहीं। पुराने साहित्य का संरक्षण तीन प्रकार से हुआ है—(१) राजकीय संरक्षण से, (२) संगठित धर्म संप्रदाय के प्रयत्न से, (३) लोक परंपरा से। जिन दिनों देश भाषा परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश से आगे बढ़कर काव्य का वाहन बनने लगी थी, उन दिनों उत्तरी भारत का राजनीतिक वातावरण बहुत ही विक्षुब्ध था। मध्य देश की शक्तिशाली राज शक्ति ने देश-भाषा को संरक्षण नहीं दिया, और विधर्मियों के तीव्र आक्रमण के कारण संगठित धर्म संप्रदाय मध्य देश के प्रांत भाग में बसे हुए गुजरात नेपाल आदि सुरक्षित देशों में हट गए। यही कारण है कि इस

काल मे मध्यदेश की भाषा के साहित्य को न तो राज-शक्ति का हस्तावलम्ब प्राप्त हुआ, और न जैन और बौद्धो के समान सुसंगठित धर्म सप्रदाय का ही सरक्षण मिल सका। कुछ अंतिम खेवे के राजाओ के साथ रहनेवाले कवियो की रचनाएँ लोक मुख मे सुरक्षित रह गई। पृथ्वीराजरासो और आल्हा खड ऐसी रचनाएँ है। इनकी प्रामाणिकता सदेह से परे नही।

हिंदी साहित्य के कुछ इतिहास-लेखको ने इस काल की कितनी ही ऐसी रचनाओ के नाम गिनाए है, जिनके विषय मे अब सदेह किया जाने लगा है। खुमानरासो बीसलदेव-रासो, हम्मीररासो, विजयपालरासो आदि ऐसी रचनाएँ है। शुरू-शुरू में इन्हे प्रामाणिक ग्रंथ समझा गया था। यह विश्वास कर लिया गया था कि इन रचनाओ का सबध जिन राजाओ के नाम के साथ है उन्ही के समय मे ये लिखी भी गई थी पर अब इस विश्वास को सदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा है।

खुमानरासो

खुमानरासो नामक पुस्तक के बारे में शिवसिंह सरोज मे बताया गया है कि किसी अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नाम का काव्य लिखा था, जिसमे श्री रामचन्द्र से लेकर खुमान तक के नरपतियों का वर्णन है। कर्नल टॉड ने भी इस पुस्तक की चर्चा विस्तार पूर्वक की थी। चित्तौर में खुमान नाम के तीन राजा हुए है, जिनमे प्रथम का समय ७५२ से ८०८ ई० तक, दूसरे का ८१३ से ८४३ ई० तक, और तीसरे का ६०८ से ६३३ तक राज्य था। चूँकि खुमानरासो में खलीफा अलमामू (८१३ ई०–८३३ ई०) का आक्रमण हुआ था, इसलिये अनुमान लगाया गया है कि खुमानरासो की रचना दूसरे खुमान के समय में हुई होगी अर्थात् यह पुस्तक सन ई० की नवी शताब्दी के आरभ की रचना है। इसके लेखक का

नाम दलपति विजय है। आज कल खुमानरासो की जो प्रति मिलती है वह अपूर्ण है। कर्नल टॉड ने जो प्रति देखी थी, वह इससे कहीं विस्तृत और पूर्ण थी। वर्तमान खुमानरासो में महाराणा राजसिंह (राज्यकाल १६५२ ई०-१६७० ई०) तक के राजाओं का वर्णन है। स्पष्ट ही यह ग्रंथ उतना प्राचीन नहीं है जितना समझा गया है। श्री मोतीलाल मेनारिया ने "राजस्थानी भाषा और साहित्य" में लिखा है कि "ये तपागच्छीय जैन साधु शांति विजय के शिष्य थे। इनका असली नाम दलपत था, पर दीक्षा के बाद बदल कर दौलत विजय रख दिया था। हिंदी के विद्वानों ने इन्हें मेवाड़ के रावल खुमाण (सं० ८७०) का समकालीन होना अनुमानित किया है, जो गलत है। वास्तव में इनका रचना काल सं० १७३० से लेकर १७६० के मध्य तक है।" इस प्रकार इस ग्रंथ की चर्चा हिंदी साहित्य के आदि काल में नहीं होनी चाहिए।

नरपति नाल्ह का बीसलदेवरासो भी संदिग्ध रचना ही है। ग्रंथ में निर्माण-काल इस प्रकार दिया है—

बारह सौ बहोत्तरहाँ मझारि।
जेठ बदी नवमी बुधवारि।
बीसलदेवरासो नाल्ह रसायन आरंभइ।
सारदा तूठी ब्रह्म कुमारि॥

इसका मतलब यह है कि नरपति नाल्ह नामक कवि ने सं० १२१२ में अर्थात् ११५५ ई० में इस ग्रंथ का प्रारंभ किया था। चूँकि पुस्तक में सर्वत्र वर्तमान कालिक क्रिया का प्रयोग

१. श्री सत्यजीवन वर्मा द्वारा संपादित और सं० २००८ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित। हाल ही में डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित होकर प्रयाग से प्रकाशित।

है, अतएव ग्रथ के सपादक श्री सत्यजीवन वर्मा ने अनुमान किया था, कि इस पुस्तक की रचना बीसलदेव के सम-सामयिक कवि की हो सकती है। इसके चार खंड हैं, प्रथम खड मे मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से शाकभरी-नरेश बीसलदेव (विग्रहराज) के विवाह का वर्णन है। दूसरे मे बीसलदेव राजमती से रूठकर उड़ीसा चला जाता है। तीसरे मे राजमती का विरह वर्णन है और चौथे मे भोजराज का अपनी पुत्री को लिवा जाना और बीसलदेव का उसे वहाँ से चित्तौर लौटा जाने का प्रसंग है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस बात की संगति नही बैठती। बीसलदेव भोज का समसामयिक नहीं था। दोनो के समयो मे लगभग ११० वर्ष का अंतर है। अतिरंजित बाते तो उसमे बहुत है, उनका यथाकथञ्चित् समाधान भी कर लिया जा सकता है, जैसे, बीसलदेवरासो के अनुसार भोज ने बीसलदेव को डालीसर, कुडार, झडोअर, गुजरात, सौरठ, साभर, टोक, तोड, चित्तौड आदि प्रदेश दहेज में दिए थे। इसे हम आश्रित कवि की अतिरजित कल्पना कह सकते हैं। किंतु बहुत सी काल-विरुद्ध और इतिहास-विरुद्ध बातें है जिनका समाधान नही हो सकता। महामहोपाध्याय डा० गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने इसे विग्रह राज तृतीय माना है और किसी प्रकार ऐतिहासिक सगति बैठा लेने का प्रयत्न किया है परन्तु बीसलदेव बहुत प्रतापशाली राजा था और स्वयं सस्कृत का अच्छा कवि भी था। इसने अपना 'हरकेलि-विजय' नाटक शिलापट्टो पर खुदवाया था। उसके राज-कवि सोमदेव ने 'ललित विग्रह' नाम का नाटक लिखा था जो राजपूताना म्युजियम मे सुरक्षित है। बीसलदेव के और भी बहुत से शिलालेख प्राप्त है। उनसे बीसलदेव जैसा प्रतापी राजा सिद्ध होता है उसका कोई भी आभास बीसलदेवरासो में नहीं मिलता। इसका कोई भी सबूत नहीं है कि बीसलदेव

ने कभी उड़ीसा पर चढ़ाई की थी या उसे जीता था। यह समझ में नहीं आता कि वीसलदेव का समसामयिक कवि उसकी वास्तविक विजय का वर्णन न कर कल्पित उड़ीसा विजय की कहानी क्यों कहेगा ?

ग्रंथ में बारबार लिखा है कि उसने रासो का गान किया था। 'गायो हो रास सुणै सब कोइ। षड ६ हरषि गायण कइ गाइ।' इत्यादि। इससे ज्ञात होता है कि ग्रंथ की रचना गाने के लिये हुई होगी पर राजपूताने के कुछ विद्वानों ने जोर देकर कहा है कि वीसलदेवरासो कभी राजपूताने में गाया नहीं गया।

यह तो निश्चित है कि नरपतिनाल्ह वीसलदेव का समसामयिक कवि नहीं है। वर्तमान कालिक क्रियाओं का प्रयोग देख कर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। राजपूताने के साहित्य में इस प्रकार की वर्तमान कालिक क्रियाओं का प्रयोग बराबर होता रहा है। इस पुस्तक की सबसे प्राचीन प्रति सं० १६६९ अर्थात् १६१२ ई० की है। श्री मोतीलाल मेनारिया का विश्वास है कि नरपतिनाल्ह गुजराती के नरपति नामक कवि से अभिन्न है। उनकी गुजराती रचनाओं से वीसलदेवरासो की भाषा का आश्चर्यजनक साम्य है। इस प्रकार मेनारियाजी के अनुसार वीसलदेवरासो का रचनाकाल १५४५-६० तक के आस पास निकलता है जिसकी पुष्टि उसकी भाषा से होती है 'जो हर्गिज १६वीं शताब्दी से पूर्व की नहीं है।'

इसी प्रकार भट्ट केदार और मधुकर नामक दो भाट कवियों के विषय में कहा जाता है कि इन्होंने जयचन्द के यश-वर्णन के लिये 'जयचन्दप्रकाश' और 'जयमयंकजसचन्द्रिका' नाम के ग्रंथ लिखे थे। ये पुस्तकें मिलती नहीं। केवल इनका

उल्लेख बीकानेर के राज पुस्तक भंडार में सुरक्षित सिंघायच दयालदास कृत 'राठौड़ाँ री ख्यात' में मिलता है। इस प्रकार ये पुस्तकें सिर्फ नोटिस मात्र हैं। 'शिवसिंह सरोज' में लिखा है कि ये कवि अलाउद्दीन गोरी के कवि थे। अलाउद्दीन मुहम्मद गोरी का चाचा था और उसी की ओर से राज्य करता था। पृथ्वीराजरासो में भी दुर्गा केदार और माधव भाट नामक दो कवियों की चर्चा आती है और चन्द-बरदाई के साथ उनकी प्रतिद्वंद्विता का भी विस्तारपूर्वक वर्णन दिया है। यह नहीं समझना चाहिए कि गोरी के दरबार में हिन्दू कवियों का आना असंभव है। वस्तुत: महमूद के पहले गजनी में ब्राह्मण वंश का राज्य था और यह बिलकुल असंभव नहीं है कि पुराने राजवंश के नष्ट हो जाने के बाद उनके आश्रित कवि नये राजाओं की सेवाओं में लग गए हों। जो हो, जब तक इन कवियों की पुस्तकें नहीं मिल जातीं तब तक इस विवाद में पड़ना व्यर्थ है कि ये कवि जयचन्द के दरबारी थे अथवा गोरी के।

भट्ट केदार और मधुकर भट्ट

इसी प्रकार शार्ङ्गधर कवि के हम्मीररासो की रचना भी असंदिग्ध नहीं है। 'प्राकृत पैंगलम्' में कुछ पद्य ऐसे आए हैं जिनमें हम्मीर की वीरता का वर्णन है जैसे—

हम्मीररासो

पिंधउ दिढ सण्णाह वाह उप्पर पक्खर दइ।
बंधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर बअण लइ।
उड्डुल णहपह भमउ खग्ग रिउ सीसहि डारउ,
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पव्वअ अप्फालउ।
हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुहमह जलउ।
सुरत्ताण-सीस करवाल दइ तेज्जि कलेवर दिअ चलउ।।

ऐसे और भी कुछ पद्य है। शिवसिंहसरोज में कहा गया था कि चन्द की औलाद में शार्ङ्गधर कवि हुए थे जिन्होने 'हम्मीररासो' और 'हम्मीर काव्य' भाषा में बनाया था। स्वर्गीय प० रामचद्र शुक्ल ने इस बात को ध्यान में रखते हुए अनुमान किया कि 'प्राकृत पैंगलम्' के जिन उदाहरणों मे हम्मीर की कीर्त्तिकथा है वे असली हम्मीररासो के पद्य है। परंतु ऊपर जो पद्य दिया हुआ है और जिसे शुक्ल जी ने उद्धृत भी किया है उसमे 'जज्जल भणइ' जज्जल की भणित दी हुई है। 'प्राकृत पैंगलम्' की टीका मे कहा गया है कि जज्जलस्योक्तिरियम् अर्थात् यह जज्जल की उक्ति है। महा पडित राहुल साकृत्यायन ने इन पद्यो को जज्जल कवि की रचना माना है। दो बातें हो सकती है—या तो यह किसी ऐसे काव्य के पद्य है जिसमें जज्जल कोई पात्र है अथवा यह स्वय जज्जल की उक्तियाँ है।

शुक्ल जी प्रथम मत को मानते है, राहुल जी दूसरे मत को। लेकिन अगर प्रथम मत स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी यह कैसे मान लिया जा सकता है कि वह काव्य शार्ङ्गधर का लिखा हुआ हम्मीररासो ही था। जब तक कोई पुष्ट प्रमाण नही मिल जाता तब तक यह बात निश्चित और असदिग्ध नही कही जा सकती।

शार्ङ्गधर द्वारा सगृहीत शार्ङ्गधरपद्धति नामक एक सस्कृत पद्यकोश अवश्य मिलता है जिसमे शार्ङ्गधर की कुछ अपनी रचनाएँ भी है। ऐसे तो इसके सब पद्य संस्कृत के है किंतु कुछ मंत्र और कुछ मिश्र भाषा की ऐसी रचनाएँ भी है जिनमें तत्काल प्रचलित लोक भाषा का कुछ आभास मिल जाता है। भाषा चित्र के नमूने के रूप में श्रीकंठ पडित का यह श्लोक उल्लेख योग्य है—

नून बादल छाइ खेह पसरी निःश्राण शब्दः खरः ।
शत्रु पाडि लुटालि तोडि हनिसौ एव भणन्त्युद्भटा. ।
झूठे गर्वभरा मघालि सहसा रे कन्त मेरे कहे
कठ पाग निवेश जाह शरण श्री मल्ल देव विभुम् ॥
श्लोक स० ५५०

मिश्रबधुश्रो ने नल्लसिंह रचित विजयपालरासो को भी इसी काल की रचना बताया है। कहा गया है कि नल्लसिंह ने स० १०९३ मे हुई विजयपाल सिंह और पग राजा की लडाई का वर्णन किया है। मिश्रबधुओं ने इसका रचना काल स० १३५५ माना है। लेकिन यह भी बहुत पुराना ग्रंथ नही मालूम होता। इसकी भाषा और शैली पर विचार करने से मालूम होता है कि इसकी रचना बहुत बाद मे हुई होगी।

विजयपाल रासो

इसी प्रकार सन् १२९३ ईस्वी में अमीर खुसरो की रचनाएँ[1] प्रारम्भ हुई। अमीर खुसरो निस्सदेह बहुत मेधावी विद्वान और सुकवि थे। उनकी रचनाओ मे तत्काल प्रचलित हिंदी का प्रयोग हुआ होगा। परतु उनके नाम पर जितनी पहेलियां, कह मुकरियाँ और ढकोसले प्रचलित है वे न तो मूल रूप में ही सुरक्षित है और न सब के सब प्राचीन ही है। इस प्रकार साहित्यिक कोटि मे आने वाले ये ग्रथ बहुत संदिग्ध है। कुछ तो निश्चित रूप से परवर्ती है, कुछ के अस्तित्व का ही ठिकाना नही और कुछ का अस्तित्व केवल अनुमान से मान लिया गया है। आदिकाल के इतिहास-लेखको ने इन ग्रथो की ऐति-

१. (१) खालिक बारी, मुफीदे खालिक प्रेस, आगरा १८६९
(२) ,, ,, सूरजमल, कमरुद्दीनखा, पटना १८७०
(३) अमीर खुसरो की हिंदी कविता, काशीनागरी प्रचारिणी सभा, काशी १९२२

हासिकता के पक्ष-विपक्ष में बहुत सी व्यर्थ की दलीलें पेश की है जो निरर्थक ही नहीं है साहित्य के विद्यार्थी के ऊपर बोझ के समान है और शुद्ध साहित्यिक आलोचना की गति को रुद्ध करने का कार्य करती है।

इस काल की कुछ रचनाएँ ऐसी भी है जिन्हें हम अर्द्ध प्रामाणिक कह सकते है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध

अर्द्धप्रामाणिक रचनाएँ—पृथ्वीराज रासो

ग्रंथ पृथ्वीराजरासो[1] है। काशी ना० प्र० स० प्रकाशित पृथ्वीराज रासो में २॥ हजार पृष्ठ है जो ६९ सर्गों में विभाजित है। सबसे बड़ा समय कनवज्ज युद्ध है जो संभवतः रासो का मूल कथानक है। यह विश्वास किया जाता है कि चन्द पृथ्वीराज का मित्र, कवि और सलाहकार था। रासो में वह तीनों रूपो में चित्रित है। इस ग्रंथ के अनुसार दोनों के जन्म और मरण की तिथि भी एक है। इस प्रकार सदा साथ रहने वाले अभिन्न मित्र की रचना निश्चय ही बहुत प्रामाणिक होनी चाहिए यही सोचकर सुप्रसिद्ध विद्वत्सभा रायल एसियाटिक सोसायटी बंगाल ने इस ग्रंथ का प्रकाशन आरंभ किया था। कुछ थोड़ा-सा अंश प्रकाशित भी हो चुका

---

[1] पृथ्वीराजरासो—(१) एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल से १८८३-८६ ई० में आरंभिक अंश प्रकाशित (२) मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या सं०, ई० जे० लाजरस एण्ड को०, बनारस सन् १८८८-१९०४ ई०; (३) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से श्यामसुंदरदास आदि द्वारा सं० १९०५-१९१३; (४) पृथ्वीराजरासो के दो समय (रेवातट और कनवज्ज समय) लखनऊ १९४२; (५) असली पृथ्वीराजरासो, मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर १९३८; (६) केवल रेवातट समय, 'हिंदी के कवि और काव्य' (प्रथम भाग) में १९२७ में प्रयाग से प्र०; (७) संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो, हजारीप्रसाद द्विवेदी और नामवर सिंह द्वारा सं०, साहित्य समिति काशी १९५२।

था किन्तु इसी समय डा० बूलर को पृथ्वीराज विजय नामक संस्कृत काव्य की एक खंडित प्रति हाथ लगी। इस पुस्तक की परीक्षा करने के बाद डा० बूलर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पृथ्वीराजविजय इतिहास की दृष्टि से अधिक प्रामाणिक ग्रंथ है और पृथ्वीराजरासो अत्यंत अप्रामाणिक. क्योंकि पृथ्वीराजकालीन अभिलेखों से पृथ्वीराजविजय में वर्णित घटनाएँ तो मिल जाती हैं लेकिन पृथ्वीराजरासो में वर्णित घटनाएँ नहीं मिलतीं। उनका पत्र सोसायटी के प्रोसीडिंग्स में छापा गया और पृथ्वीराजरासो का प्रकाशन बंद कर दिया गया। उन दिनों के यूरोपियन विद्वान् मध्यदेश की रचनाओं का महत्व दो दृष्टियों से आंकते थे—ऐतिहासिक तथ्यों को प्राप्त करने और भाषा शास्त्रीय समस्याओं को सुलझाने की दृष्टि से। रासो से यह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता था। कितनी हो ऐसी अनमिल बातें इस पुस्तक में मिलीं जो इसके ऐतिहासिक रूप को निर्विवाद रूप से गलत साबित करती थीं। पृथ्वीराजविजय के अनुसार पृथ्वीराज सोमेश्वर और कर्पूरदेवी के पुत्र थे। कर्पूरदेवी चेदि-नरेश की कन्या थी। जब पुत्र पृथ्वीराज नाबालिग था तो माता ने कदम्बवास नामक मंत्री की सहायता से राज्य संचालन किया था। यह बात अभिलेखों से मिलती है जबकि पृ० रासो के अनुसार वे दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री के लड़के थे। मजेदार बात यह है कि पृ० विजय में चंदवरदाई नामक किसी कवि का नाम नहीं है। एक जगह चन्द्रराज कवि का उल्लेख अवश्य है परन्तु उसे कुछ विद्वानों ने कश्मीरी कवि चन्द्रक से अभिन्न माना है। और भी बहुत सी अनैतिहासिक बातें रासो में मिलती हैं जैसे—

१—आबू पहाड़ के राजा जैत और सलख बताए गए हैं जिनका तात्कालिक शिला-लेखों में कोई उल्लेख नहीं मिलता,

और उस समय आबू पर सचमुच ही राज्य करने वाले धारावर्ष परमार की इस ग्रंथ में कोई चर्चा ही नहीं।

२—गुजरात का राजा भीमसेन रासो के अनुसार पृथ्वीराज के हाथो मारा गया था। पर शिलालेखो पर विश्वास किया जाय तो वह पृथ्वीराज के बहुत बाद तक जीता रहा।

३—शहाबुद्दीन रासो के अनुसार पृथ्वीराज के तीर से मारा गया था पर ऐतिहासिक तथ्य यह है कि सन् १२०३ में गक्करो के हाथ मारा गया।

४—पृथ्वीराज को बहन पृथाकुँवरि रासो के अनुसार चित्तौड के राजा समरसिंह से व्याही गई थी जो इतिहास विरुद्ध है क्योकि समरसिंह के अभिलेख सन् १२७८ और १२८५ के बीच के मिले है। इसके बहुत पहले पृथ्वीराज परलोक चले गए थे।

५—पृथ्वीराजरासो में जो तिथियाँ दी गई है वे वास्तविक ऐतिहासिक प्रमाणो की तुलना मे निराधार हैं। इस प्रकार की और भी अनेक प्रकार की ऐतिहासिक असगतियाँ इस पुस्तक मे मिलती है। स० १९८६ की नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे म० म० श्री-गौरीशकर हीराचन्द जी ओझा ने विस्तार पूर्वक पृथ्वीराजरासो की अनैतिहासिकता सिद्ध की है। उपसहार करते हुए उन्होंने उसी लेख मे लिखा हैं कि इस तरह हमने जाँच कर देखा कि पृथ्वीराजरासो बिलकुल अनैतिहासिक ग्रंथ है। उसमे चौहानों प्रतीहारो और सोलकियो की उत्पत्ति संबधी कथा, चौहानो, की वशावली पृथ्वीराज की माता, भाई, बहिन, पुत्र और रानियो आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत-सी घटनाओ के सवत् और प्रायः सभी घटनाएँ तथा सामतो आदि के नाम अशुद्ध और कल्पित है। कुछ सुनी सुनाई बातो के आधार पर उक्त

वृहत् काव्य की रचना की गई है यदि पृथ्वीराजरासो पृथ्वी-राज के समय में लिखा जाता तो इतनी बड़ी अशुद्धियों का होना असम्भव था। भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रथ प्राचीन नही दीखता। इसकी डिंगल भाषा में जो कहीं-कहीं प्राचीनता का आभास होता है वह तो डिंगल की विशेषता ही है। · · वस्तुत. पृथ्वीराजरासो वि० स० १६०० के आसपास लिखा गया। ···· यह भी नही कहा जा सकता कि पहले पृथ्वीराज रासो का मूलग्रथ उसके वर्तमान परिमाण से बहुत छोटा था, परतु पीछे से बढाया गया है क्योकि आज से १८५ वर्ष पूर्व उसी के वंशज कवि यदुनाथ ने उसका १०५०० श्लोको का होना लिखा है जो वर्तमान रासो का प्रमाण है।··· ··"

ओझा जी की अतिम उक्ति बहुत कमजोर है। इधर हाल ही में उसकी कमजोरी का सबूत भी मिल चुका है।

रासो के संपादक श्री मोहनलाल विष्णुलाल पड्या और बाबू श्यामसुन्दरदास ने इन्हें इतिहास-सम्मत सिद्ध करने का बहुत प्रयत्न किया है। यहाँ तक कि विशुद्ध अनुमान के बल पर अनन्द सम्वत् की भी कल्पना की है पर फिर भी रासो की ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं की जा सकती। म० म० गौरीशकर हीराचन्द जी ओझा को तो इनमें इतनी असगतियां दिखाई दी कि उन्होंने इसे जाली ग्रथ कह दिया। तब से हिंदी साहित्य के इतिहास नामक ग्रंथों में रासो की ऐतिहासिकता और अनैतिहासिकता पर पन्ने रँगे जा रहे है। इस निरर्थक मथन से जो दुस्तर फेनराशि तैयार हुई है उसे पार करके ग्रथ के साहित्यिक रस तक पहुँचना हिंदी साहित्य के विद्यार्थी के लिए असम्भव-सा व्यापार हो गया है।

इधर बाबू रामनारायण दूगड़ जी को उदयपुर राज्य के

और उस समय आबू पर सचमुच ही राज्य करने वाले धारावर्ष परमार की इस ग्रथ में कोई चर्चा ही नही ।

२—गुजरात का राजा भीमसेन रासो के अनुसार पृथ्वी-राज के हाथो मारा गया था । पर शिलालेखो पर विश्वास किया जाय तो वह पृथ्वीराज के वहुत वाद तक जीता रहा ।

३—गहाबुद्दीन रासो के अनुसार पृथ्वीराज के तीर से मारा गया था पर ऐतिहासिक तथ्य यह है कि सन् १२०३ में गक्करो के हाथ मारा गया ।

४—पृथ्वीराज की बहन पृथाकुँवरि रासो के अनुसार चित्तौड़ के राजा समरसिह से व्याही गई थी जो इतिहास विरुद्ध हे क्योकि समरसिह के अभिलेख सन् १२७८ और १२८५ के वीच के मिले है । इसके बहुत पहले पृथ्वीराज परलोक चले गए थे ।

५—पृथ्वीराजरासो मे जो तिथियाँ दी गई है वे वास्त-विक ऐतिहासिक प्रमाणो की तुलना मे निराधार हैं । इस प्रकार की और भी अनेक प्रकार की ऐतिहासिक असगतियाँ इस पुस्तक में मिलती है । स० १९८६ की नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे म० म० श्री गौरीशकर हीराचन्द जी ओझा ने विस्तार पूर्वक पृथ्वीराजरासो की अनैतिहासिकता सिद्ध की है । उपसहार करते हुए उन्होने उसी लेख मे लिखा है कि इस तरह हमने जाँच कर देखा कि पृथ्वीराजरासो विल्कुल अनैतिहासिक ग्रंथ है । उसमे चौहानो प्रतीहारो और सोलकियो की उत्पत्ति सवधी कथा, चौहानो, की वशावली पृथ्वीराज की माता, भाई, बहिन, पुत्र और रानियो आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत-सी घटनाओ के संवत् और प्राय. सभी घटनाएँ तथा सामतों आदि के नाम अशुद्ध और कल्पित है । कुछ सुनी सुनाई बातो के आधार पर उक्त

वृहत् काव्य की रचना की गई है यदि पृथ्वीराजरासो पृथ्वी-राज के समय में लिखा जाता तो इतनी बड़ी अशुद्धियों का होना असम्भव था। भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रंथ प्राचीन नहीं दीखता। इसकी डिंगल भाषा में जो कहीं-कहीं प्राचीनता का आभास होता है वह तो डिंगल की विशेषता-ही है।···वस्तुत. पृथ्वीराजरासो वि० सं० १६०० के आसपास लिखा गया।·····यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले पृथ्वीराज रासो का मूलग्रंथ उसके वर्तमान परिमाण से वहुत छोटा था, परतु पीछे से बढ़ाया गया है क्योंकि आज से १८५ वर्ष पूर्व उसी के वंशज कवि यदुनाथ ने उसका १०५०० श्लोको का होना लिखा है जो वर्तमान रासो का प्रमाण है।······"

ओझा जी की अंतिम उक्ति बहुत कमजोर है। इधर हाल ही में उसकी कमजोरी का सवूत भी मिल चुका है।

रासो के संपादक श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या और वावू श्यामसुन्दरदास ने इन्हे इतिहास-सम्मत सिद्ध करने का वहुत प्रयत्न किया है। यहाँ तक कि विशुद्ध अनुमान के वल पर अनन्द सम्वत् की भी कल्पना की है पर फिर भी रासो की ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं की जा सकती। म० म० गौरीशकर हीराचन्द जी ओझा को तो इनमें इतनी असगतियाँ दिखाई दीं कि उन्होंने इसे जाली ग्रथ कह दिया। तव से हिंदी साहित्य के इतिहास नामक ग्रंथों में रासो की ऐतिहासिकता और अनैतिहासिकता पर पन्ने रँगे जा रहे है। इस निरर्थक मंथन से जो दुस्तर फेनराशि तैयार हुई है उसे पार करके ग्रथ के साहित्यिक रस तक पहुँचना हिंदी साहित्य के विद्यार्थी के लिए असम्भव-सा व्यापार हो गया है।

इधर वावू रामनारायण दूगड़ जी को उदयपुर राज्य के

विक्टोरिया हाल मे एक पुस्तक मिली है जिसमे एक छद इस आशय का है कि चन्द के छद इधर उधर बिखरे हुए थे जिन्हें राजा अमरसिंह ने एकत्र करवा कर वर्त्तमान रूप दिया था। उदयपुर के राजवंश मे अमरसिह नाम के दो राजा हुए थे। एक का राज्यकाल सन् १६२१ ई० तक था तथा दूसरे का १६९८ से १७१० ई० तक। राजसिंह ने राजसमुद्र नामक तालाब की चौकी पर राजप्रशस्ति नामक एक सस्कृत महाकाव्य खुदवाया था (सन् १६७५) जिससे विदित होता है कि उस समय रासो का निर्माण हो चुका था अतएव रासो के सग्रह कराने वाले अमरसिह प्रथम अमरसिह ही होंगे। ऐसा भी कहा जाता है कि राजप्रशस्ति काव्य लिखाने के लिये महाराणा राजसिह ने प्रचुर अर्थ व्यय किया था। उसी समय किसी प्रतिभाशाली चारण ने नाना स्थानो से जोड़ बटोर कर यह महाकाव्य तैयार किया होगा। इसलिये रासो का वर्त्तमान रूप अधिक-से-अधिक १७वी शताब्दी के मध्य म ही प्राप्त हुआ होगा।

पृथ्वीराज रासो के प्रामाणिक अश

जहाँ तक रासो की ऐतिहासिकता का सबध है डा० बूलर, मारिसन, गौ० ही० ओझा, मु शी देवीप्रसादजी आदि प्रामाणिक ऐतिहासिक लेखको ने उसे अविश्व-सनीय सिद्ध कर दिया है। अब इसकी लिखित घटनाओ को ऐतिहासिक सिद्ध करने का प्रयत्न बन्द कर देना ही उचित है। किंतु फिर भी रासो का महत्त्व है। बहुत दिनो तक विद्वानो मे यह विश्वास रहा है कि यद्यपि रासो मे प्रक्षिप्त अंश बहुत है तथापि इसमें चन्द के कुछ न कुछ वचन अवश्य है जो काफी पुराने है। अब तक यही विश्वास किया जाता रहा है कि प्रक्षेपो के समुद्र में से मूल कविताओ के मोती चुन लेना असम्भव ही है। इधर हाल में मनि जिन-विजय जी ने

पुरातन प्रबंध संग्रह मे जयचन्द प्रबंध नामक एक प्रबंध प्रकाशित किया जिसमें चन्द के नाम से ४ छप्पय दिए है। इसकी भाषा परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रश के निकट की भाषा है यद्यपि उसमे कुछ चिह्न ऐसे भी मिलते है जिनसे हम अनुमान कर सकते है कि सदेश रासक की भाषा के सदृश यह भाषा भी कुछ आगे बढी हुई भाषा है। जिस प्रति से यह छप्पय उद्धृत किए गए है वह सभवत. पन्द्रहवी शताब्दी की लिखी हुई है। इससे यह सिद्ध होता है कि पन्द्रहवी शताब्दी में लोगो को चन्द के छप्पय का ज्ञान था और ये छप्पय परिनिष्ठित अपभ्रश से थोड़ी आगे बढी भाषा में लिखे गए थे। इन पद्यो के प्रकाशन के बाद से अब इस विषय मे किसी को सदेह नही रह गया है कि चन्द नामक कोई कवि पृथ्वीराज के दरबार मे अवश्य थे और उन्होने ग्रथ भी लिखा है। सौभाग्यवश वर्त्तमान रासो मे भी ये छद कुछ विकृत रूप मे प्राप्त हो गए है। इस पर से यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्त्तमान रासो मे चन्द के मूल छंद अवश्य मिले हुए है।

पृ० रा० रासो का अध्ययन करने के बाद और नवी-१०वी शताब्दी में प्रचलित कथाओ के लक्षण और काव्य रूपो को ध्यान में रख कर देखने से ऐसा लगता है कि यद्यपि चन्द के मूल वचनो को खोज लेना अब भी कठिन है किंतु उसमें क्या-क्या वस्तुएँ थी और कौन-कौन सी कथाएँ थी, इस बात का पता लगा लेना उतना कठिन नही है। उन दिनों की कथाएँ दो व्यक्तियों के संवाद के रूप मे लिखी जाती थी। चन्द ने भी रासो को शुक और शुकी के सवाद मे लिखा था जैसे विद्यापति ने कीर्तिलता को भृङ्ग और भृङ्गी के सवाद के रूप मे लिखा था और कौतूहल कवि ने लीलावती कथा को कवि और कविपत्नी के सवाद के रूप मे लिखा

था। फिर चन्दबरदाई का यह काव्य रासक भी है जो गेय काव्य हुआ करता था जिसमें मृदु और उद्धत प्रयोग हुआ करते थे। संदेश रासक में जिस प्रकार कवि ने अपनी नम्रता प्रकट करते हुए कहा है कि बड़े-बड़े कवियों की रचनाएँ उपलब्ध हैं तो क्या छोटे कवि अपनी रचनाओं से आनंदित न हों। उसी प्रकार और उसी शैली में पृथ्वीराज रासो में भी यह बात कही गई है। इतना ही नहीं एक दो प्राकृत गाथाएँ तो रासो में भी प्राय वही हैं जो संदेशरासक में हैं[१]।

फिर, संदेशरासक में बीच-बीच में कवि सूचना देता है कि अमुक पात्र ने अमुक छंद में अपनी बात कही। उसी प्रकार पृथ्वीराजरासो में भी बीच-बीच में कह दिया गया है कि अमुक पात्र ने अमुक छंद में अपनी बात कही। इन सब बातों पर विचार करने से ऐसा जान पड़ता है कि चन्द ने भी अपभ्रंश के रासकों की शैली पर ही अपना रासो लिखा। संदेशरासक में लगभग एक तिहाई पद्य रासक छंदों में है। पृथ्वीराजरासो में रासक छंद बहुत कम व्यवहृत हुआ है। पर संदेशरासक से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि रासक ग्रंथों में दूसरे छंदों का—विशेषकर दोहा और गाथा का प्रचुर प्रयोग होता था। वीर रस की प्रधानता होने के कारण चन्द ने छप्पय छंदों का अधिक प्रयोग किया था इस दृष्टि से विचार करने पर रासो के निम्नलिखित प्रसंग प्रामाणिक जान पड़ते हैं—

१—आरंभिक अंश, २—इंछिनी विवाह, ३—शशिव्रता का गन्धर्व विवाह, ४—तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, ५—संयोगिता का जन्म, विवाह तथा इंछिनी और संयोगिता

१. विशेष विस्तार के लिये देखिये—हजारीप्रसाद द्विवेदी का हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२।

की प्रतिद्वन्द्विता और समझौता[1] ।

इन अशो मे भाषा मे उस प्रकार का बेडौल और बेमेल ठूँसठाँस नही है और कवित्त का सहज प्रवाह है। इसमे चन्दबरदाई ऐसे सहज प्रफुल्ल कवि के रूप मे दृष्टिगत होते है जो विपम परिस्थितियो से भी जीवन रस खीचते रहते है। वे केवल कल्पना विलासी कवि ही नही निपुण मत्र, दाता के रूप मे भी सामने आते है। चाहे रूप और शोभा का वर्णन हो, चाहे ऋतु वर्णन की उत्फुल्लता का प्रसंग हो, या युद्ध की भेरी का प्रसग हो, चन्दबरदाई सर्वत्र एक समान अविचलित और प्रसन्न दिखाई पडते है। रूप और सौदर्य के प्रसग में उनकी कविता रुकना ही नही जानती। निस्सदेह उन्होने काव्यगत रूढियो का बहुत व्यवहार किया है और परंपरा प्रचलित उपमानो से सौदर्य की अभिव्यञ्जना उनके साहित्य का प्रधान कौशल है तथापि वह कवि के आनन्द-निर्झर चित्त को पूर्णरूप से प्रकट करती है। कथानक रूढियो की दृष्टि से तो चन्द का काव्य बहुत ही महत्वपूर्ण है और परवर्तीकाल मे जिन लोगो ने उसम प्रक्षेप किया है वे चन्द की इस प्रवृति को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे इसीलिए प्रक्षेप करने वालो ने चुन चुन करके कथानक रूढियो और काव्य रूढियो का सन्निवेश किया है।

इन अशो की विशेपता

साधारणत. भारतीय कथाओ में कथानक को अभीष्ट दिशा मे मोडने के लिये निम्नलिखित कथानक रूढियो का व्यवहार हुआ है:—

१—स्वप्न मे प्रियमूर्ति दर्शन, २—कहानी कहने वाला सुग्गा, ३—शिकार खेलते समय घोडे का जगल में मार्ग भूलना,

४–मुनि का शाप, ५–रूप परिवर्तन, ६–लिंग परिवर्तन, ७–पर-काय प्रवेश, ८–आकाश वाणी, ९–अभिज्ञान या साहिदानी, १०–परिचारिका का राजा से प्रेम और उसका राजकन्या रूप मे अभिज्ञान, ११–नायिका का चित्र, १२–नायक का औदार्य, १३–विरहवेदन, १४–चौर्य प्रेम और फिर विवाह, १५–नटनटी द्वारा रूप श्रवण और प्रेम, १६–सदेशवाहक हस या कपोत, १७–विजनवन में सुन्दरियो से साक्षात्कार, १८–उजाड शहर का मिल जाना और वहाँ नायक का राजा होजाना, १९–शत्रु-सतापित सरदार की प्रिया को शरण देना और युद्ध मोल लेना, २०–प्रतिप्राकृत दृश्य से लक्ष्मी प्राप्ति का शकुन इत्यादि इत्यादि ।

लगभग इन सभी कथानक रूढियो का प्रयोग पृथ्वीराज रासो मे किया गया है। महत्वपूर्ण प्रत्येक विवाहो के समय नट का नर्तकी का स्वप्न दर्शन का चित्र दर्शन का हस दौत्य या शुक दौत्य का उपयोग किया गया है । शशिव्रता या सयोगिता इन दोनो मुख्य रानियो को अप्सरा का अवतार बताया गया है । प्रत्येक विवाह में आगे या पीछे कुछ-न-कुछ युद्ध का प्रसग अवश्य आता है और प्राचीन निजधरी कथाओ के समान कन्याहरण प्रधान रूप से वर्णित हुआ है । शोभा चाहे प्रकृति की हो या मनुष्य की हो, परपरा-प्रचलित रूढ उपमानो के सहारे ही निखरी है और अधीनस्य सामन्तो की स्वामि-भक्ति और पराक्रम अत्यत उज्ज्वल रूप में प्रकट हुआ है । छंदों का परिवर्तन बहुत अधिक हुआ है । पर कही भी अस्वाभा-विकता नही आई है । १२वी १३वी शती के अपभ्रंश साहित्य मे छदो का यह परिवर्तन बहुत अधिक प्रचलित हो गया था । जो लोग छंद परिवर्तन के लिये केशव को दोषी समझते है वे बहुत ऊपर से काव्य रूपो की आलोचना करते

रासो मे कवित्त

हैं। वस्तुतः केशव की रामचन्द्रिका तक आते आते यह छंदो-बहुला प्रथा निर्जीव और विकृत हो गई थी। अत्यधिक प्रक्षेप होते रहने के बाद भी पृथ्वीराजरासो में यह प्रथा सजीव रूप मे वर्त्तमान है। अनुकरण करनेवालो ने भी चन्द की शैली को ठीक रूप में पकडा है और वर्त्तमान रूप मे भी रासो के छंद जब बदलते है तो श्रोता के चित्त में प्रसंगानुकूल नवीन कंपन उत्पन्न करते हैं।

वर्तमान रासो में युद्धो का प्रसंग बहुत अधिक है, और शहाबुद्दीन तो इसमे हर मौके-बेमौके अनायास आ पड़ता है। अधिकतर भट्टभणन्त और गलत तिथियों का हिसाब ऐसे प्रसङ्ग मे आता है। ऐसा कहने में कुछ भी संकोच मालूम नहीं पड़ता, कि ये युद्धों के अनावश्यक विस्तारित वर्णन, चौहान और कमधुज्ज के सरदारो के नामों की सूची आदि बाते परवर्ती ठूँसठाँस है। मूल रासो शुक और शुकी के संवाद रूप में ही लिखा गया था और संभवतः कीर्तिलता के समान प्रत्येक समय के आरंभ में शुक और शुकी प्रसंग उसम भी था। इधर रासो के अनेक संक्षिप्त संस्करणों का पता लगा है, और पंडितो मे यह जल्पना-कल्पना आरंभ हुई है कि इन्ही छोटे संस्करणो मे से कोई रासो का मूल रूप है या नहीं। अभी तक इन संस्करणो का जो कुछ विवरण देखने में आया है, उससे तो ऐसा ही लगता है कि ये सब संस्करण रासो के संक्षेप रूप ही हैं।

इस काल मे पृथ्वीराजरासो के समान ही जागनिक लिखित परमाल रासो नामक एक ग्रंथ का नाम मिलता है।

परमाल रासो

कहते है कि कालिंजर के राजा परमाल (परमर्दि देव) के यहाँ जागनिक नाम के एक भाट थे, जिन्होने महोबे के दो देश-प्रसिद्ध वीरो आल्हा और ऊदल के चरित्र का

एक वीर काव्य लिखा था। फर्रुखाबाद के कलक्टर मि० चार्ल्स इलियट ने लोक में प्रचलित इन गीतो का सग्रह 'आल्हा-खड' के नाम से छपवाया था। नि:सन्देह इस नये रूप में वहुत-सी नई वातें आ गई है और जागनिक के मूल ग्रथ का क्या रूप था, यह कह सकना कठिन हो गया है। अनुमानत: इस सग्रह का वीरत्वपूर्ण स्वर तो सुरक्षित है, लेकिन भाषा और कथानको मे वहुत अधिक परिवर्तन हो गया है। इसीलिये चन्दवरदाई के पृथ्वीराजरासो की तरह इस ग्रंथ को भी अर्द्ध प्रामाणिक ही कह सकते है। ऐसा जान पडता है, कि या तो जागनिक का काव्य वहुत दिनो तक वुन्देलखण्ड के वाहर प्रसारित नही हुआ, या यह रचा ही वहुत बाद मे गया। पुराने साहित्य में इस अत्यत लोकप्रिय काव्य का कही उल्लेख नही मिलता, और गोसाई तुलसीदासजी ने इस श्रेणी के काव्य रूप को शायद सुना ही नही था। यदि उन्होने सुना होता तो अपने स्वभाव और नियम के अनुसार इस पद्धति को भी राममय अवश्य वनाते।

राजपूताने के कुछ अन्य कवियो के लिखे हुए, इस काल के आसायित और श्रीधर आदि कवियो के कुछ अन्य वीर काव्य भी प्राप्त हुए है। इसी काल मे राजपूताने में डिगल काव्य का आरंभ हुआ। डिगल अपभ्रश के योग से बनी हुई

डिगल काव्य

१. (१) पद्मावती खण्ड तथा आल्हा खण्ट, केशवप्रसाद स०, आगरा १८७१

(२) पद्मावती खण्ड तथा आल्हा खण्ड, हरदेवसहाय स०, मेरठ १८८०

(३) पद्मावती खण्ड तथा आल्हा खण्ड, चार्ल्स इलियट स०, मुशी रामस्वरूप फतेहगढ १८८१।

राजस्थानी भाषा का साहित्यिक नाम था। डिंगल के तौल पर राजस्थानी कवियों ने एक और शब्द गढ लिया था, जिसका नाम है पिंगल। प्रादेशिक बोलियो के साथ मध्यदेशीय भाषा का मिश्रण होने से एक प्रकार की सर्व-भारतीय भाषा बनी; जिसे हिंदी मे व्रजभापा या केवल 'भाषा' कहते थे। इसी श्रेणी की भाषा को राजस्थानी कवि पिंगल कहा करते थे। डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से बताई गई है। कुछ लोग इसका अर्थ गँवारू भाषा करते है। कुछ 'डिम+गल' के योग से इसका अर्थ डमरू की आवाज वाली वीर-रस की भाषा कहते है, और कुछ दूसरे डीग या अतिशयोक्ति-पूर्ण बातो से इसका संबंध जोडते है। किंतु डिंगल वस्तुतः राजस्थानी चारणों की राजस्तुति और वीर दर्पोक्तियो को वहन करने वाली भाषा का नाम है। पिंगल छंद-शास्त्र के रचयिता का नाम है, और इसीलिये उस काल की परिष्कृत भाषा (व्रजभाषा) का नाम 'पिंगल' दे दिया गया है। बहुत दिनो तक शौरसेनी प्राकृत को और इसीलिये उससे निकली व्रजभाषा को नाग-भाषा कहा जाता रहा। मिर्जाखाँ ने फारसी मे लिखे हुए व्रजभाषा के व्याकरण मे प्राकृत को नाग-लोक की भाषा कहा है। पिंगल स्वयं नाग थे, संभवत. पिंगल का अर्थ हुआ शौरसेनी प्राकृत या व्रजभाषा। युद्धो के प्रसग मे पृथ्वीराज रासो की भापा डिंगल का रूप धारण करती है, किंतु विवाह और प्रेम के सुकुमार प्रसगो मे वह प्रधान रूप से पिंगल ही बनी रहती है। वस्तुत. मूल 'पृथ्वीराजरासो' शौरसेनी अपभ्रंश मे लिखा गया था, जो परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रश से थोड़ी भिन्न और उससे कुछ आगे बढी हुई भाषा थी।

मैने अपनी 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' नामक पुस्तक

में दिखाया है कि सातवी-आठवी शताब्दी से इस देश मे ऐतिहासिक व्यक्तियो के नाम पर काव्य लिखने की प्रथा खूब चली। इन्ही दिनो ईरान के साहित्य मे भी इस प्रथा का प्रवेश हुआ। इस काल मे उत्तर-पश्चिमी सीमात से बहुत-सी जातियों का प्रवेश इस देश मे होता रहा। वे राज्य-स्थापन करने मे भी समर्थ हुई। पता नही कि उन जातियो की स्वदेशी प्रथा की क्या-क्या बातें इस देश में चली। साहित्य में नये-नये काव्यरूपो का प्रवेश इस काल में हुआ अवश्य। सभवतः ऐतिहासिक पुरुषो के नाम पर काव्य लिखने या लिखाने की चलन भी उनके ससर्ग का फल हो। परन्तु भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही जिसमें काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण-सग्रह की ओर कम, कल्पनाविलास का अधिक मान था, तथ्यनिरूपण का कम, सभावनाओ की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओ की ओर कम, उल्लसित आनद की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम। इस प्रकार इतिहास को कल्पना के हाथो परास्त होना पड़ा। ऐतिहासिक तथ्य इन काव्यों में कल्पना को उकसा देने के साधन मान लिए गए है। राजा का विवाह, शत्रुविजय, जलक्रीड़ा, शैल-वन-विहार, दोला-विलास, नृत्य-गान-प्रीति—ये सब बाते ही प्रमुख हो उठी है। बाद में क्रमशः इतिहास का अश कम होता गया और सभावनाओ का जोर बढ़ता गया। राजा के शत्रु होते है, उनसे युद्ध होता है। इतिहास की दृष्टि में एक युद्ध हुआ, और भी तो हो सकते थे। कवि सभावना को देखेगा। राजा के एकाधिक विवाह होते थे। यह तथ्य अनेको विवाहो की सभावना उत्पन्न करता है, जलक्रीड़ा, और वन-विहार की

'ऐतिहासिक' काव्य क्या है?

संभावना की ओर संकेत करता है और कवि को अपनी कल्पना के पङ्ख खोल देने का अवसर देता है। उत्तरकाल के ऐतिहासिक काव्यो में इसकी भरमार है। ऐतिहासिक विद्वान् के लिये संगति मिलाना कठिन हो जाता है।

वस्तुत इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ मे कभी नही लिया गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक जैसा बना देने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी शक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है---जैसे राम, बुद्ध, कृष्ण आदि ---और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजधरी कथाओ का आश्रय बना दिया गया है---जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल। जायसी के रतनसेन, रासो के पृथ्वीराज में तथ्य और कल्पना का---फैक्टस् और फिक्शन का---अद्भुत योग हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता में, दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्भुत-शक्ति में और मनुष्य के अपूर्व शक्तिभाडार होने मे दृढ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यो को सदा काल्पनिक रग मे रँगा है। यही कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियो का भी चरित्र लिखा जाने लगा तब भी इतिहास का कार्य नही हुआ। अंत तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकी, इतिहास नही। फिर भी निजंधरी कथाओ से वे इस अर्थ में भिन्न थी कि उनमें बाह्य तथ्यात्मक जगत् से कुछ-न-कुछ योग अवश्य रहता था। कभी-कभी मात्रा मे कमी बेशी तो हुआ करती थी पर योग रहता अवश्य था। निजंधरी कथाएँ अपने आप में ही परिपूर्ण होती थी।

जिस प्रकार भारतीय कवि काल्पनिक कथानकों मे ऐसी घटनाओ को नही आने देता जो दु.ख-परक विरोधो को उकसावें उसी प्रकार वह ऐतिहासिक कथानको में भी करता है। सिद्धांतत: काव्य में उस वस्तु का आना भारतीय कवि

उचित नहीं समझता जो तथ्य और औचित्य की भावनाओं में विरोध उत्पन्न करे, दुःखोद्रेचक विषम परिस्थितियों—ट्रेजिक कट्रेडिक्शस—की सृष्टि करे; परंतु वास्तव जीवन में ऐसी बातें होती ही रहती हैं। इसलिये इतिहासाश्रित काव्य में भी ऐसी बातें आएँगी ही। बहुत कम कवियों ने ऐसी घटनाओं की उपेक्षा कर जाने की बुद्धि से अपने को मुक्त रखा है। यही कारण है कि इन ऐतिहासिक काव्यों के नायक को धीरोदात्त बनाने की प्रवृत्ति ही प्रबल हो गई है; परंतु वास्तविक जीवन के कर्त्तव्य-द्वंद्व, आत्मविरोध और आत्म-प्रतिरोध जैसी बातें उसमें नहीं आ पाती। ऐसी बातों के न आने से इतिहास का रस भी नहीं आ पाता और कथानायक कल्पित पात्र की कोटि में आ जाता है। फिर जीवन में कभी हास्योद्रेचक अनमिल स्वर भी मिल जाते हैं। संस्कृत काव्य का कर्ता कुछ अधिक गंभीर रहने में विश्वास करता है और ऐसे प्रसंगों को छोड़ जाता है। और ऐसे प्रसंगों को तो वह भरसक नहीं आने देना चाहता जहाँ कथानायक के नैतिक पतन की सूचना मिलने की आशंका हो। यदि ऐसे प्रसंगों की वह अवतारणा भी करता है तो घटनाओं और परिस्थितियों का ऐसा जाल तानता है जिसमें नायक का कर्त्तव्य उचितरूप में प्रतिभात हो। सब मिलाकर ऐतिहासिक काव्य काल्पनिक निजंधरी कथानकों पर आश्रित काव्य से बहुत भिन्न नहीं होते। उनसे आप इतिहास के शोध की सामग्री संग्रह कर सकते हैं, पर इतिहास को नहीं पा सकते—इतिहास, जो जीवन्त मनुष्य के विकास की जीवनकथा होता है, जो कालप्रवाह से नित्य उद्घाटित होते रहने वाले नव-नव घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय-यात्रा का चित्र उपस्थित करता है, और जो काल के पर्दे पर प्रतिफलित होने वाले नये-नये दृश्यों को हमारे

सामने सहज भाव से उद्घाटित करता रहता है। भारतीय कवि इतिहास-प्रसिद्ध पात्र को भी निजधरी कथानको की ऊँचाई तक ले जाना चाहता है। इस कार्य के लिये वह कुछ कथानक-रूढियो का प्रयोग करता है जो कथानक को अभिलषित दिशा में मोड देने के लिये दीर्घकाल से प्रचलित है। इनसे कथानक मे सरसता आती है और घटना प्रवाह मे एक प्रकार की लोच आ जाती है। अस्तु।

सदेशरासक

मुलतान के ग्यारहवी शती (?) के कवि अद्दहमाण या अब्दुलरहमान ने 'संदेशरासक'[1] नाम की एक बडी सुन्दर प्रेम कहानी लिखी थी। इस पर दो सस्कृत टीकाएँ उपलब्ध हुई है। टीकाकार ने लिखा है कि उसे कवि के मुँह से काव्य का भाव सुनने का अवसर तो नही मिला पर एक अन्य व्यक्ति से सुनकर वह अर्थ लिख रहा है। किसी किसी विद्वान् ने टीकाकार की इस उक्ति पर से यह बताने का प्रयत्न किया है कि चौदहवी शताब्दी के टीकाकार की बात से अनुमान होता है कि उसे कवि के मुँह से काव्य का भाव सुनने का अवसर मिल सकता था पर किसी कारणवश मिला नही। अर्थात् कवि अधिक-से-अधिक १३वी शदी के अत मे वर्तमान होगा। इस उक्ति मे कुछ सार अवश्य है परंतु इस युक्ति को बहुत दूर तक न घसीटना ही अच्छा है। हेमचद्र के दोहो मे सदेशरासक के एक दोहे को उदाहृत देखकर इसे ग्यारहवी शती का काव्य ही मानना ठीक जान पड़ता है। जो हो, संदेशरासक की प्रेम-कहानी मुलतान के आस-पास के प्रदेशो मे गाई गई होगी। मध्ययुग के अनेक प्रेम-कथाओ की उत्स-भूमि यही प्रदेश रहा है। 'हीर राझा की कहानी' 'पूरन भगत की कहानी' और 'नौटंकी की कहानी' की जन्म-

---

१. सिंघी जैन ग्रथमाला, विद्याभवन बबई से मुनिजिनविजय जी द्वारा सपादित।

भूमि यही प्रदेश रहा है ।

'सदेशरासक' की कहानी बहुत सरल और मर्मस्पर्शी है, यद्यपि वह कुछ आदिम मनोभाव वाली रचनाओं की श्रेणी की है । मुलतान से जाते हुए किसी पथिक से एक विरहिणी स्त्री का साक्षात्कार होता है, जिसका पति कार्यवश मुलतान गया था । वह विरहिणी अपना दुखड़ा सुनाती है और वर्ष के भिन्न ऋतुओ में उस पर जो बीती है उसकी कहानी सुना देती है और फिर प्रिय के लिये कुछ सदेश भेजती है । इस सदेश में ऐसी करुण वेदना है, जो पाठक को बरबस आकृष्ट करती है। उपमाएँ अधिकाश मे यद्यपि परम्परागत और रूढ़ ही है, तथापि बाह्य-वृत्त की वैसी व्यजना उसमें नही है जैसी आतरिक अनुभूति की । ऋतु वर्णन के प्रसंग में बाह्य-प्रकृति इस रूप मे चित्रित नही हुई, जिससे आंतरिक अनुभूति की व्यजना दब जाय । प्रिय के नगर से आने वाले अपरिचित पथिक के प्रति नायिका के चित्त में किसी प्रकार के दुराव का भाव नही है । वह बड़े सहज ढंग से अपनी कहानी कह जाती है । सारा वातावरण विश्वास और घरेलू-पन का वातावरण है ।

'सदेशरासक' बहुत महत्त्वपूर्ण विरह काव्य है । एक तरफ 'ढोला मारु' की मारवणी की याद दिलाता है, और दूसरी तरफ पद्मावत की नागमती की ।

सदेशरासक और पृथ्वीराजरासो

यह 'पृथ्वीराजरासो' से भिन्न प्रकृति का काव्य है । पृथ्वीराजरासो प्रेम के मिलन पक्ष का काव्य है, और 'सदेशरासक' विरह पक्ष का; रासो काव्य रूढ़ियो के द्वारा वातावरण तैयार करता है, और 'सदेशरासक' हृदय की मर्म-वेदना के द्वारा । 'रासो' में घर के बाहर का वातावरण प्रमुख है, और 'सदेशरासक' में भीतर का । 'रासो' नये-नये

प्रेम का 'रोमास' प्रस्तुत करता है, और 'संदेशरासक' पुरानी प्रीति को निखार देता है।

'प्राकृत पैंगलम्' मे विद्याधर, शार्ङ्गधर (?) जज्जल, वब्बर आदि कवियों की रचनाओं में कई प्रकार के विषय हैं—वीर, शृंगार, नीति, शिवस्तुति, विष्णुस्तुति, ऋतुवर्णन आदि। पर इनकी मात्रा वहुत कम है। परतु ये सभी रचनाएँ और सदेशरासक, पृथ्वीराजरासो, कीर्तिलता आदि के कवि उस श्रेणी के कवि नही थे, जिन्हें आदिम-मनोवृत्ति के कवि कहते हैं वस्तुत. इन रचनाओं में एक दीर्घकालीन परंपरा का स्पष्ट परिचय मिलता है। ये कवि काव्य-लक्षणो के जानकार थे, प्राचीनतर कवियों की रचनाओ के अभ्यासी थे, और अपने काव्य के गुण-दोषों के प्रति सचेत थे। इसीलिये इन्हे साहित्य के आरंभिक काल का कवि कहना ठीक नही। इस दृष्टि से भी हिंदी के इस काल के साहित्य को दीर्घकाल से चली आती हुई परंपरा का वढाव समझना ही संगत जान पड़ता है। काव्य-गत रूढ़ियों और कथानक रूढियों का इस साहित्य में जम कर प्रयोग किया गया है। इसीलिये इस श्रेणी की रचनाओं में आदिम कविता की स्पष्टता, अव्यवहित प्रभाव-विस्तरण, और अनगढ़ भाव नही है बल्कि शास्त्रीय कविता की जटिलता और सुगढ भाव-व्यंजना का प्रयास मिलता है। वस्तुत: 'हिन्दी का आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनो-भावापन्न, परंपराविनिर्मुक्त, काव्य-रूढ़ियो से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल वहुत अधिक परंपरा-प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग और सचेत कवियों का काल है।

'प्राकृत पंगलम्' के उदाहरण

सौभाग्य-वश विद्यापति की कीर्तिलता में इस प्रकार प्रक्षेप नही हो सका। और उसमें थोड़ी-बहुत ताजगी बची रह गई है। ऐतिहासिक काव्यों में 'कीर्तिलता' का स्थान कुछ विशिष्ट है। यद्यपि यह पुस्तक भी आश्रयदाता समसामयिक राजा को कीर्ति गाने के उद्देश्य से ही लिखी गई है और कविजनोचित अलकृत भाषा में रची गई है तथापि इसमें ऐतिहासिक तथ्य कल्पित घटनाओ या सभावनाओ के द्वारा धूमिल नही हो गया है। कीर्तिसिंह का चरित्र बहुत ही स्पष्ट और उज्ज्वल रूप में चित्रित हुआ है। कवि की लेखनी चित्रकार की उस तूलिका के समान नही है जो छाया और आलोक के सामजस्य से चित्रो को ग्राह्य बनाती है, वल्कि उस शिल्पी की टाँकी के समान है जो मूर्तियों को भित्तिगात्र मे उभार देता है, हम उत्कीर्ण मूर्ति की ऊँचाई-नीचाई का पूरा-पूरा अनुभव करते हैं। उस काल के मुसलमानो का, हिंदुओं का, सामतो का, शहरो का, लड़ाइयो का, सेना के सिपाहियो का इतना जीवत और यथार्थ वर्णन अन्यत्र मिलना कठिन है। कवि ने जो भी सामने आ गया उसका ब्यौरेवार वर्णन करके चित्र को यथार्थ बनाने का प्रयत्न नही किया है बल्कि आवश्यकतानुसार निर्वाचन, चयन और समंजस योजना के द्वारा चित्र को पूर्ण और सजीव बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार यह काव्य इतिहास की सामग्री से निर्मित होकर भी केवल तथ्य-निरूपक पुस्तक नहीं बना है; बल्कि सचमुच का काव्य बना है। बहुत कम स्थलों पर कवि ने केवल संभावनाओं को वृहदाकार बनाया है। कीर्तिसिंह का वीररूप भी स्पष्ट हो जाता है और जौनपुर के सुलतान फीरोज शाह के सामने उसका अति नम्र भक्तिमान् रूप भी प्रकट हुआ है। इन चित्रणों में कवि ने

कीर्तिलता की विशेषता

कीर्तिसिंह के द्वितीय रूप को दवाने या उज्ज्वलतर रूप मे चित्रित करने का प्रयास नही किया; वल्कि ऐतिहासिक तथ्य को इस भाँति रखने का प्रयत्न किया है कि जिस स्थान पर कथानायक झुकता है, वहाँ भी वह पाठक की सहानुभूति और परिशंसन का पात्र वना रहता है। छदो के चुनाव मे भी कवि ने कुशलता का परिचय दिया है। तथ्यात्मक विवरण को मोड़ने के साथ-ही-साथ वह छंदो को वदल देता है और पाठक के चित्त मे उत्पन्न हो सकनेवाली एकघृण्टता या मोनोटोनी को कम कर देता है। सव मिलाकर कीर्तिलता अपने समय का वहुत ही सुन्दर चित्र उपस्थित करती है। वह इतिहास का कविदृष्ट जीवत रूप है। उसमे न तो काव्य के प्रति पक्षपात है, न इतिहास की उपेक्षा, उसमे यथास्थान पाठक के चित्त मे करुणा, सहानुभूति, हास्य, औत्सुक्य और उत्कठा जागृत करने के विचित्र गुण है। इस पुस्तक में उन कथानक-रूढियो का प्रयोग वहुत कम किया गया है जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश की रचनाओ में एक ही प्रकार के अभिप्राय ला देती है और तथ्यात्मक जगत् से कम सवध रखकर कल्पना-विलास की ओर पाठक का मन मोड़ दिया करती है। परन्तु इसकी भाषा साहित्यिक परिनिष्ठित अपभ्रंश से भिन्न भाषा है क्योंकि इसमे तत्कालीन मैथिली का मिश्रण है। साधारणत अपभ्रश के कवि अपनी भाषा को अपभ्रश नही कहते थे। संस्कृत विद्वान् ही इसको अपभ्रश या विगडी हुई भाषा कहते हैं। १४वी शताब्दी के दो सस्कृत के पडितो अर्थात् विद्यापति और ज्योतिरीश्वर ने इस भाषा को 'अवहट्ठ' कहा है। इसीलिये कुछ विद्वानो ने परिनिष्ठित अपभ्रश से आगे वढ़ी हुई भाषा को अपभ्रश न कहकर 'अवहट्ठ' कहना शुरू किया है। परंतु भाषा-शास्त्रियों मे यह शव्द अभी तक स्वीकृत नही हुआ है।

कीर्तिलता के रचयिता विद्यापति मिथिला के बिसपी नामक ग्राम के रहने वाले थे। राजा शिवसिंह ने सन् ई० की १४वी शती मे यह ग्राम अभिनव जयदेव को उपाधि सहित दिया था। कहते है, इस दान-पत्र के अक्षरो का तत्कालीन प्रचलित वर्ण-माला से साम्य नही है। इसे विद्वानो ने जाली दान-पत्र बताया है। संभवत. इनका जन्म १३६८ ई० मे हुआ था, और १५वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक ये जीवित रहे। कीर्तिलता में इन्होंने अपने को कीर्तिसिंह का लेखन कवि कहा है जो संभवत. इन्हें कीर्तिसिंह का बाल्य-बन्धु सिद्ध करता है। इस हिसाब से इनका जन्मकाल कुछ और पहले होना चाहिए। विद्वानों का अनुमान है कि इस हिसाब से उनका जन्म सन् १३६० में हुआ होगा।

विद्यापति

मैथिली मे लिखित विद्यापति के पदावली[1] की भाषा के वर्तमान रूप के सबध मे सदेह करने का कारण है, इसका वक्तव्य विषय राधा तथा अन्य गोपियो के साथ-साथ श्रीकृष्ण की प्रेम लीला है। इस पुस्तक की विस्तृत चर्चा हम आगे भक्त कवियो के प्रसङ्ग मे करेंगे। राधा और कृष्ण के प्रेम प्रसगो को यह पुस्तक प्रथम बार उत्तर भारत में गेय पदो मे प्रकाशित करती है। इस पुस्तक के पदो ने आगे चलकर बङ्गाल, आसाम और उड़ीसा के वैष्णव भक्तो को खूब प्रभावित किया और यह उन प्रदेशो के भक्ति-साहित्य मे नयी प्रेरणा और नयी प्राणधारा सचारित करने मे समर्थ हुई। इसीलिये पूर्वी प्रदेशो में सर्वत्र यह पुस्तक धर्म ग्रथ की महिमा पा सकी है।

कीर्तिलता अपने काल की बहुत सुन्दर और प्रामाणिक

---

१. (१) नगेन्द्रनाथ गुप्त, लाहौर १९१०; (२) रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी, लहेरिया सराय १९२६ और बाद में भी।

रचना है। इसकी भाषा में पुरानी मैथिली के कई चिह्न पाए जाते है, जैसे विशेषण और क्रिया मे स्त्रीलिंग का व्यवहार, बहुवचन में न्हीं, न्ह, आ, या; किसी भी विभक्ति चिह्न का अभाव; कर्त्ता मे ए, जे का प्रयोग या परसर्गाभाव; तृतीया में ए और ही, पंचमी मे तहे और सओ, षष्ठी मे करि, करो, कर और करेओ का व्यवहार है। सप्तमी में ए, एँ और ही का प्रयोग है। सभी विभक्तियो के लिये चन्द्रविन्दु का व्यवहार है। वर्तमान काल उत्तम पुरुष ओ, ञो, मध्यपुरुष मे सी तथा अन्य पुरुष में इ, ए और यि का प्रयोग है। विधिक्रिया मे उ, ऊँ और ह का व्यवहार है। भूतकाल मे इअ और भविष्य में इह विकरण प्रत्यय का प्रयोग है। कृदन्त के लिये न्ते और न्ता का प्रयोग है। पूर्वकालिक के लिये इ, ए का व्यवहार तथा स्वरो का सानुनासिकीकरण है।

कीर्तिलता की भाषा कवित्व

ऐसा जान पड़ता है कि कीर्तिलता बहुत कुछ उसी शैली मे लिखी गई थी, जिसमें चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज-रासो लिखा था। यह भृंग और भृंगी के संवाद रूप मे है, इसमे भी संस्कृत और प्राकृत के छंदो का प्रयोग है। संस्कृत और प्राकृत के छंद रासो मे बहुत आए हैं। जिन स्थानों पर ये छंद व्यवहृत हुए हैं, वहाँ रासो के कवि ने भाषा में थोड़ा संस्कृत की छौंक देना चाहा है। या, यह भी हो सकता है कि मूलरूप मे वे छंद संस्कृत में लिखे गए हों; रासो के वर्तमान रूप मे विकृत हो गए हों। विद्यापति ने भी आरंभ मे और अंत में संस्कृत छंदों का आश्रय लिया है और भाषा भी संस्कृत रक्खी है। रासो की भाँति कीर्तिलता में भी गाथा (गाहा) छंद का व्यवहार प्राकृत

कीर्तिलता का काव्यरूप

भाषा मे हुआ है। यह विशेष लक्ष्य करने की बात है कि संस्कृत और प्राकृत के पदो में तथा गद्य में भी तुक मिलाने का प्रयास किया गया है, जो अपभ्रंश परंपरा के अनुकूल ही है। पद्धरी छंद का इस ग्रंथ में भी उपयोग है। अपभ्रंश के चरित काव्यो में पद्धरी का इतना अधिक प्रयोग है, कि इस शैली का नाम ही 'पद्धड़िया बंध' रख दिया गया था। अपभ्रंश के सुप्रसिद्ध कवि स्वयंभू ने 'त्रिभुवन' नामक अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश कवि को 'पद्धड़िया बंध' का प्रवर्तक कहा है। कीर्तिलता मे इस छंद का इतना व्यापक प्रयोग तो नही है, पर जो है वह इस बात को सूचित करने के लिये पर्याप्त है कि यह ग्रंथ अपभ्रंश काव्यो की कथा-साहित्य की परंपरा मे ही पड़ता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विद्यापति ने इस ग्रंथ को अपभ्रंश मे प्रचलित कथा-काव्यों की श्रेणी मे ही रखना चाहा था। फिर भी उन्होने इस काव्य को कथा नहीं कहा था, बल्कि 'काहाणी' कहा है। इसका क्या कारण हो सकता है ?

'काहाणी' का रूप

काशी के सुप्रसिद्ध राजा गोविंदचन्द्र के सभा पंडित दामोदर भट्ट ने 'उक्ति व्यक्ति प्रकारण' नाम से एक व्याकरण ग्रंथ की रचना की थी। इस पुस्तक से काशी की तात्कालिक भाषा का कुछ परिचय मिलता है और यह भी पता लगता है कि उन दिनो इस लोक-भाषा मे कथा और कहानियाँ लिखी जाती थी। उन कहानियों का काव्य-रूप कैसा था, यह जानने का कोई साधन अब प्राप्त नही है। अपभ्रंश काव्यों में कथा को उसी श्रेणी का अलकृत काव्य माना गया है, जिस श्रेणी की रचनाएँ संस्कृत में मिलती है। पुष्पदंत के 'नागचरित' में एक जगह एक अलंकारहीना रानी की उपमा कुकवि-कृता-कथा से दी गई है, जो यह सूचित करता है कि

अपभ्रश कवियो को कथा में अलंकार और रस देने की रुचि थी । विद्यापति ने कीर्तिलता की भाषा को अलकृत करने का प्रयत्न किया है । दामोदर भट्ट की पुस्तक से पता चलता है कि उन दिनों कहानियो मे गद्य का भी प्रयोग होता था। सभवत: संस्कृत के 'चपू' काव्यो के ढग की ये रचनाएँ होती थी । विद्यापति की कीर्तिलता मे गद्य का प्रचुर प्रयोग है । यद्यपि लीलावती नामक प्राकृत कथा मे भी कही-कही गद्य थोड़ा-बहुत आगया है, पर वह नाममात्र को है । अपभ्रश के चरित काव्यो मे तो गद्य का लोप ही होगया था, इस प्रकार विद्यापति की कीतिलता इस बात में अपभ्रश के चरित काव्यो से विशिष्ट है । रुद्रट के सामने जो सस्कृतेतर भाषाओ की कथाएँ थी, उनमे भी कही कही गद्य का प्रयोग होता था । जान पड़ता है कि विद्यापति के पूर्ववर्ती काल मे जो कथाएँ लिखी गई, उनमे गद्य का प्रयोग होने लगा था । फिर कथा काव्यो मे राज्यलाभ तथा कन्याहरण और गन्धर्व विवाहो का प्राधान्य होता था, जो कीर्तिलता मे केवल राज्यलाभ तक ही सीमित रह गया है । इस प्रकार विद्यापति की कीर्ति-लता कथा-काव्य के कुछ लक्षणो से युक्त नही है । इसलिये वह ठीक-ठीक 'कथा' नाम नही पा सकती । जान पड़ता है कि विद्यापति ने अपने काव्य को कथा से भिन्न श्रेणी की रचना समझकर उसे 'काहाणी' कहा था । इसमें कथा के मुख्य-मुख्य लक्षण आजाते है और एकाध लक्षण छूट जाते है । यह भी हो सकता है कि विद्यापति के पूर्व में इस 'कहानी' नाम की अन्य रचनाएँ भी रही हो जिनकी सूचना दामोदर भट्ट की पुस्तक मे मिल जाती है । यहाँ उल्लेख योग्य है कि विद्यापति की एक अन्य पुस्तक 'कीर्तिपताका' है, जिसमें प्रेम कथा वर्णित है । सभवत. विद्यापति ने कथा के दोनो उद्देश्यो—युद्ध और प्रेम—के लिये अलग-अलग पुस्तक लिखी थी ।

इस पुस्तक मे कई प्रकार की भाषाएँ है। गद्य में तो सस्कृत पदावली का प्राचुर्य है, केवल बीच-बीच में मैथिली की विभक्तियाँ या क्रिया पद आ जाते हैं। पद्य मे दोहो और छप्पयों मे अपभ्रश के निकट जाने का प्रयत्न है, परंतु हरिगीतिका आदि छदो में मैथिली का पुट मिल जाता है। पद्यो मे तद्भव शब्दो का ही प्रयोग है, किंतु गद्य में तत्सम शब्दो का आधिक्य है। यह भाषा उस काल की सूचना देती है जब बोल-चाल की भाषा मे तत्सम शब्दो का प्रयोग बढ़ने लगा था, परतु पद्य की भाषा मे अपभ्रश भाषा का ही प्रभुत्व था, आधुनिक समय मे भी कुछ लोग इस मत के पोषक थे कि हमेशा ही गद्य और पद्य की भाषा का व्यवधान बना रहना चाहिए। १४वी शताब्दी में भी कुछ इसी प्रकार का भाव था।

दो प्रकार के साहित्यिक प्रयत्न

दो प्रकार के साहित्यिक प्रयत्न इस काल में प्रमुख हैं—एक तो बौद्ध और नाथ-सिद्धों की तथा जैन मुनियों की रूक्ष तथा उपदेश-मूलक और हठयोग या काया-योग की महिमा प्रचार करने वाली रहस्य-मूलक रचनाएँ। इनका उद्देश्य रस सृष्टि नही था। साहित्य के इतिहास में दो कारणों से इनका महत्व है। एक तो परवर्ती धार्मिक काव्य रूपों के विकास में ये सहायक है, और उस धार्मिक पृष्ठ-भूमि को समझने मे सहायता पहुँचाती है, जिनके बिना हम काव्य-प्रयत्नों को समझ ही नही पाएँगे; और दूसरे इनके अध्य-यन से उस युग की भाषा, शैली छंदोविधान आदि का अध्ययन सुकर होता है। इन दो दृष्टियो से इन रचनाओं का महत्व है। फिर इन रचनाओं में सहज सत्य को कभी-कभी बड़ी प्रभावशाली भाषा में प्रकट किया गया है, जो तत्कालीन रूढ़ि-प्रवण धर्म विचारो से जकड़े मनुष्य को—विद्युत् की चमक के समान—सत्य को उद्भासित कर देता है। मनुष्य चित्त

को रूढ़ि-ग्रस्त धर्म भावना से मुक्त करके और सहज सत्य के प्रति उन्मुक्त करके उन्होंने परवर्ती भक्त कवियो के लिये क्षेत्र प्रस्तुत किया है। इसलिये इन रचनाओ को हम साहित्य के इतिहास से हटा नही सकते। इन्होने जितनी दूर तक मनुष्य-चित्त को रूढि के विचार से मुक्त करके सहज सत्य तक पहुँचाने में सहायता की है उतनी दूर तक वे सच्चे साहित्य के अंतर्गत गिनी जाने योग्य है। इन रचनाओ से इससे अधिक की आशा साहित्य के विद्यार्थी को नही करनी चाहिए।

दूसरी श्रेणी में चारण कवियों के चरित-काव्य है जिनमे राजस्तुति, युद्ध, विवाह आदि के वर्णन है। साधारणतः इनमें परपरा से प्राप्त काव्य-रूढ़ियो के साँचे मे ढली हुई, चिराचरित कथानक-रूढियो से पली हुई, और बँधे बँधाए मार्ग में चली हुई कविता ही प्राप्त होती है। सिर्फ एक बात में इसमें नवीन प्राणो का स्पन्दन सुनाई देता है, और नवीन वक्तव्य भंगिमा की ताज़गी अनुभूत होती है। वह है इस श्रेणी की रचनाओ की वीर दर्पोक्तियाँ। इस साहित्य के पुरुष स्वामी के लिये हँसते-हँसते प्राण दे देते है, मदमत्त कुंजर घटा मे अवलीलया घँस जाते है, दुर्घर्ष शत्रु-वाहिनी से अकेले भी भिड़ पड़ते है, और उनकी स्त्रियाँ पति के इस वीरत्व पर अभिमान करती है, और मन-वचन-कर्म से पति के साथ सूर्यमडल को भेद कर अज्ञात-अननुभूत आनन्दलोक में यात्रा करने के लिये सदा प्रस्तुत रहती है। हेमचंद्र के व्याकरण में ही इस श्रेणी के वीर दर्प का यह नया स्वर सुनाई देने लगा है। उसमे नवीन ताज़गी तो है ही, सहज अकुतोभय भावना से उसमें अपूर्व तेजस्विता भी मिलने लगती है। बाद में ज्यों-ज्यो समय बीतता गया त्यों-त्यो इसमे बासीपन आता गया; और ढलती वयस की भारसाम्य-विहीन (डिस्-

बैलेंड) अतिरंजना और अपरंजना बढ़ती गई। सत्रहवीं शताब्दी में जब रासो का नये सिरे से संपादन हुआ, तो इस श्रेणी की भावसान्द्र-विहीन प्रवृत्ति वाली रचनाएँ उसमें घुस गईं। आल्हा-काव्य के वर्तमान रूप की भी यही कहानी है।

इस काल का नाम

इन दोनों विशेषताओं को ध्यान में रखकर हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने इस काल का नाम देने का प्रयास किया है। स्वर्गीय पं० रामचंद्र शुक्ल ने इसका नाम 'वीरगाथा काल' दिया था क्योंकि उनका विश्वास था कि इस काल की जो रचनाएँ साहित्यिक कोटि में आने योग्य हैं उनमें अधिकांश वीरगाथाएँ हैं। हमारे पिछले विवेचन से स्पष्ट है कि यह नाम वर्तमान ज्ञान के आलोक में बहुत उचित नहीं प्रतीत होता। शुक्लजी ने इन रचनाओं को प्रामाणिक मान कर इस काल का नामकरण किया था उनमें से अधिकांश संदिग्ध और अप्रामाणिक हैं। फिर इधर अनेक अज्ञातपूर्व काव्यों का पता लगा है जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। नामकरण के समय शुक्लजी के सामने ये पुस्तकें नहीं थीं। परन्तु यह सत्य है कि इस काल की रचनाओं में वीरत्व का एक नया स्वर सुनाई देता है। इस काल में वीर रस को सचमुच ही बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त है। किन्तु इसी काल में या इसके कुछ पूर्व से ही नाथपंथी और सहजयानी सिद्धों तथा जैन मुनियों की निर्गुणिया भावापन्न कविताएँ भी प्राप्त होती हैं। इन रचनाओं का महत्त्व पहले दिखाया जा चुका है। सातवीं-आठवीं शताब्दी से इन रचनाओं की प्राप्ति होने लगती है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन जी ने आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक के काव्य में दो प्रकार के भाव पाए हैं—(१) सिद्धों की वाणी और (२) सामंतों की स्तुति। इसलिये उन्होंने इस काल को सिद्ध-सामंत युग कहा है।

किंतु इस नाम से उन अत्यंत महत्वपूर्ण लौकिक रस की रचनाओं का कुछ भी आभास नही मिलता जो परवर्ती काव्य में भी वहुत व्यापक रूप मे प्रकट हुई हैं। कुछ आलोचकों को इस काल का नाम 'आदि काल' ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इस पुस्तक मे भी इस काल को इसी नाम से कहा गया है। इस नाम से एक भ्रामक धारणा की सृष्टि होती है। हमने ऊपर (पृष्ट ७३) इस वात को दिखाया है। यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम वुरा नही है। क्योंकि यद्यपि साहित्य की दृष्टि से यह काल वहुत-कुछ अपभ्रंश काल का वढाव ही है, पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे वढ़ी हुई भाषा की सूचना लेकर आता है। इसमे भावी हिंदी भाषा और उसके काव्य-रूप अंकुरित हुए हैं।

[इस काल के अध्ययन के लिये सहायक पुस्तकें—मिश्रवंधु· मिश्रवंधु विनोद; रामचन्द्र शुक्ल. हिंदी साहित्य का इतिहास, हजारीप्रसाद द्विवेदी· 'हिंदी साहित्य का आदि काल'; राहुल साकृत्यायन. काव्यधारा; उदयनारायण तिवारी. वीर-काव्य सग्रह, रामकुमार वर्मा हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास; मोतीलाल मेनारिया: राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा; नामवरसिंह हिंदी के विकास में अपभ्रश का योग, राजस्थान भारती (त्रैमासिक)।]

३

भक्ति साहित्य का आविर्भाव

३

भक्ति साहित्य

वास्तविक हिंदी साहित्य का आरंभ

चौदह ीं शताब्दी तक हिंदी भापी प्रदेशो मे देशी भापा का साहित्य कैसा था, इस वात की धारणा वहुत असपष्ट रूप में ही होती है। हम केवल इतना जानते है कि पूर्वी प्रदेशो में सहजयानी और नाथपंथी साधको की साधनात्मक रचनाएँ प्राप्त होती है और पश्चिमी प्रदेशो मे नीति, शृंगार और कथानक साहित्य की कुछ रचनाएँ उपलब्ध होती है। एक मे भावुकता, विद्रोह और रहस्यवादी मनोवृत्ति का प्राधान्य है और दूसरी मे नियम-निष्ठा, रूढिपालन और स्पष्टवादिता का स्वर है, एक मे सहज सत्य को आध्यात्मिक वातावरण में सजाया गया है, दूसरी मे ऐहलौकिक वायुमंडल में चौदहवीं-पन्द्रहवी शताब्दी में दोनो प्रकार की रचनाएँ एक में सिमटने लगी थी। दोनों के मिश्रण से उस भावी साहित्य की सूचना इसी समय मिलने लगी जो समूचे भारतीय इतिहास मे अपने ढग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति-साहित्य है। यह एक नई दुनियाँ है और जैसा कि डाक्टर ग्रियर्सन ने कहा है, "कोई भी मनुष्य जिसे पन्द्रहवी तथा बाद की शताब्दियो का साहित्य पढ़ने का मौका मिला है उस भारी व्यवधान को लक्ष्य किये बिना नही रह सकता जो पुरानी और नई धार्मिक भावनाओ मे विद्यमान है। हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते है जो उन सब आन्दोलनों से कही अधिक व्यापक और विशाल

भक्ति साहित्य का आरंभ

जिन्हें भारतवर्ष ने कभी भी देखा है। यहाँ तक कि वह धर्म के आन्दोलन से भी अधिक व्यापक और विशाल है क्योकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। इस युग में धर्म ज्ञान का नही वल्कि भावावेश का विषय हो गया था। यहाँ से हम साधना और प्रेमोल्लास के देश मे आते है और ऐसी आत्माओ का साक्षात्कार करते है जो काशी के दिग्गज पंडितो की जाति की नही है वल्कि जिनकी समता मध्य युग के यूरोपियन भक्त वर्नर्ड आफ क्लेयरवक्स, टामस-ए-केम्पिन और सेंट थेरिसा से है।" जो लोग इस युग के वास्तविक विकास की कथा नही जानते उन्हे आश्चर्य होता है कि ऐसा कैसे हुआ। स्वय डाक्टर ग्रियर्सन ने लिखा है कि "विजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नयी बात दिखाई दी। कोई हिंदू यह नही जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चय नही कर सकता····।" इत्यादि। ग्रियर्सन का अनुमान है कि वह ईसाइयत की देन है। ईस्वी सन् की दूसरी या तीसरी शताब्दी मे नेस्टोरियन ईसाई मद्रास प्रेसीडेसी के कुछ हिस्सो मे आ बसे थे और रामानुजाचार्य को इन्ही ईसाई भक्तो से भावावेश और प्रेमोल्लास के धर्म का संदेश मिला[1] यह बात एकदम गलत है। अब इस अटकल के सहारे स्थिर किए हुए मत पर कोई विश्वास नही करता, इसलिये इसका उत्तर देना बेकार है।

यह भी बताया गया है कि जब मुसलमान हिंदुओ पर अत्याचार करने लगे तो निराश होकर हिंदू लोग भगवान् का भजन करने लगे। यह बात अत्यंत उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मंदिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगो ने

भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानो के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिंध में और फिर उत्तर भारत मे प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण मे। असल बात यह है कि जिस बात को ग्रियर्सन ने 'अचानक बिजली की चमक के समान फैल जाना' लिखा है वह ऐसा नही है। उसके लिये सैकड़ों वर्ष से मेघखड एकत्र हो रहे थे। फिर भी ऊपर ऊपर से देखने पर लगता है कि उसका प्रादुर्भाव एकाएक हो गया। इसका कारण उस काल की लोकप्रवृत्ति का शास्त्रसिद्ध आचार्यो और पौराणिक ठोस कल्पनाओ से युक्त हो जाना है। शास्त्रसिद्ध आचार्य दक्षिण के वैष्णव थे। सन ईस्वी की सातवीं शताब्दी से—और किसी के मत से तो और भी पूर्व से—दक्षिण मे वैष्णव भक्ति ने बड़ा जोर पकड़ा। इसके पुरस्कर्ता आलवार भक्त कहे जाते है। इनकी सख्या बारह हैं जिनमें कम से कम नौ को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने मे किसी को कोई आपत्ति नही है। इनमे 'अन्दाल' नाम की एक महिला भी थी। इनमे से अनेक ऐसी जातियो मे उत्पन्न बताए जाते है जिन्हे अस्पृश्य समझा जाता है। इन्ही लोगो की परंपरा मे सुविख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुजाचार्य का प्रादुर्भाव हुआ।

उन दिनो भी दक्षिण में आज की ही भाँति जाति विचार जटिलतर अवस्था मे था, फिर भी रामानुजाचार्य जैसे सद्वंश-जात, सर्वजन श्रद्धेय आचार्य ने तथा कथित नीच जातियो मे प्रचलित एकान्तिक भक्ति धर्म को बहुमान दिया और देशी भाषा मे लिखित शठकोप प्रभृति के तिरुवेल्लुअर शास्त्रो को वैष्णवो के वेद का सम्मान देकर समादर दिया। धर्म की दृष्टि में सभी समान माने गए पर सामाजिक व्यवहार मे जाति भेद की मर्यादाएँ बनी रही। एक मध्य मार्ग यह निकाला गया

कि प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग भोजन करे, इसी को दक्षिण में तेनकलाई या दक्षिणवाद कहते हैं। इस वात को कुछ अधिक स्वाधीनता समझकर १५वी शताब्दी में वेदांतदेशिक ने इसके साथ वेदवाद और प्राचीन रीति को पुन: प्रवर्तित किया। स्पष्ट है कि अलवारो का भक्तिवाद भी जनसाधारण की वस्तु था जो शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारत में फैल गया। भक्तों के अनुभूतिगम्य सहज सत्य को बाद के आचार्यों ने दर्शन का क्रमवद्ध और सुचिन्तित रूप दिया।

यही वात उत्तर भारत के विषय मे भी सत्य है। यहाँ भी साधारण जनता के भीतर जो धर्म भावना वर्तमान थी उसने शास्त्र की अगुलि पकड कर अपने को शक्तिशाली रूप में प्रकट किया। इन प्रदेशों में पौराणिक धर्म का प्रचार पहले से ही था। गाहड़वार राजाओ के समय उत्तर भारत प्रधानरूप से स्मार्त धर्मावलम्बी था। निस्संदेह नाथो का शैव धर्म भी पर्याप्त प्रभावशाली था किंतु साधारण जनता स्मार्त मतावलम्बी थी। भक्ति के लिये जो वात नितांत आवश्यक है वह है भगवान् के ऐसे रूप की कल्पना जिसके साथ व्यक्तिगत सबंध स्थापित किया जा सके। उत्तर भारत की जनता विष्णु के विविध अवतारों में विश्वास करती थी। यद्यपि महाभारत के पुराने अंशों से पता चलता है कि पहले विष्णु के छः ही अवतार माने जाते थे परंतु धीरे-धीरे वह सख्या दस तक पहुँच गई और मध्य युग के सबसे अधिक प्रभावशाली पुराण भागवत में अवतारो की संख्या २४ तक हो गई है। इस युग में अवतार को मानने वाली दृष्टि में थोड़ा परिवर्तन भी हुआ है। पहले विश्वास किया जाता था कि भगवान् दुष्टों के दमन और साधुओ के परित्राण के लिये अवतार धारण करते हैं—गीता में अवतार का हेतु यही

उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन

बताया गया है—किंतु बाद में इस दृष्टिकोण में परिवर्त्तन हुआ। भागवत पुराण के अनुसार भगवान् बैकुंठ आदि धामों मे तीन रूपो मे रहते है—स्वयरूप, तदेकात्मरूप और आवेश-रूप। स्वयंरूप तो श्रीकृष्ण है। तदेकात्मरूप मे उन अवतारो की गणना होती है जो तत्वत भगवत् रूप होकर भी रूप और आकार मे भिन्न होते है। मत्स्य, वाराह, कूर्म, आदि अवतार इसके उदाहरण है। ज्ञान शक्ति आदि विभाग द्वारा भगवान् जिन महत्तम जीवो में आविष्ट होकर रहते है उन नारद, शेष, सनक सनदन आदि महानुभावो को आवेशरूप कहा जाता है। इस काल तक आकर यह विश्वास किया जाने लगा कि भगवान् के अवतार का मुख्य हेतु भक्तो पर अनुग्रह करने के लिये लीला का विस्तार करना ही है। भक्त भगवान् के चरित का अनुशीलन किसी अन्य उद्देश्य से नही, भक्ति पाने के उद्देश्य से करते है। भागवत का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ऐकातिक भक्ति ही है। कैवल्य (मोक्ष) या अपुनर्भव को भी भक्त लोग इसके सामने तुच्छ समझते है।

मध्यकाल के भक्तिमार्ग में इसी ऐकान्तिक भक्ति का स्वर प्रवल रहा है। अवतारों की कल्पना ने इसको वहुत सहारा दिया। अवतारो से ही उस लीला का विस्तार होता है जिसका श्रवण और मनन भक्ति का प्रधान साधन है। अवतारो के विविध लीलाओं के फलस्वरूप ही विविध नामो का उद्भव होता है जिनका कीर्त्तन और जप भक्त के लिये वहुत आवश्यक साधन है।

मध्यकालीन भक्ति साहित्य का प्रधान स्वर अवतारवाद

भक्ति के लिये भगवान के साथ वैयक्तिक संबंध आवश्यक है और अवतार उस संबंध के लिये आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि मध्ययुग के प्राय: सभी धार्मिक संप्रदायों ने किसी-न-किसी रूप में अवतार को

कल्पना अवश्य की है। शिव के अनेक अवतारों की चर्चा मिलती है। गोरखनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ को भी शिव का अवतार माना गया है। और तो और, आगे चलकर अवतारवाद के घोर विरोधी कबीर को भी ज्ञानीजी का अवतार ही माना जाने लगा। केवल भगवान् के ही अवतार में नहीं, सतो के अवतार में भी विश्वास किया जाने लगा। इस प्रकार सूरदास उद्धव के, हितहरिवंश मुरली के, और तुलसीदास वाल्मीकि के अवतार समझे गए। वस्तुतः सगुण भक्ति के मार्ग के मूल में अवतार की कल्पना है।

मुख्य अवतार

वैसे तो अवतारो की संख्या बहुत मानी गई है परन्तु मुख्य अवतार राम और कृष्ण के हैं। इनमें भी कृष्णावतार की कल्पना पुरानी और व्यापक है। इन दो अवतारो की प्रधानता स्थापित होने का प्रधान कारण इनकी लीला की बहुलता ही है। शुरू के साहित्य और शिल्प मे इनका प्रधान चरित दुष्टो का दमन और भक्तो की उनसे रक्षा ही था पर धीरे-धीरे दुष्टदमन वाला रूप दबता गया और लीलारूप ही प्रधान होता गया। श्रीकृष्णावतार के दो मुख्य रूप है। एक में वे यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न है, वीर है, राजा है, कंसारि है; दूसरे में वे गोपाल है, गोपीजनवल्लभ है, 'राधावर-सुधापानशालि-वनमाली' हैं। प्रथम रूप का पता बहुत पुराने ग्रंथो से चल जाता है परन्तु दूसरा रूप अपेक्षाकृत नवीन है।

रामावतार का महत्व भी बहुत अधिक रहा है। पुराने से-पुराने अवतार-प्रसंगो में भी श्रीरामचन्द्र का उल्लेख मिलता है। कालिदास ने रघुवंश में विस्तारपूर्वक चर्चा की है कि किस प्रकार विष्णु को भूभार हरण के लिये देवताओं ने प्रसन्न किया था। हमेशा से श्रीरामचन्द्र दुष्टदमनकारी और मर्यादा-

पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित हुए हैं। १५वी शताब्दी के बाद के साहित्य में राम के भक्त साहित्यिकों मे भी लीलागान की दृष्टि समादृत हुई किंतु उनका दुष्टदमन और मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप कभी भी म्लान नही हुआ। १८वी शताब्दी के बाद के साहित्य में श्रीरामचरित को भी माधुर्य भावना के रंग में रँगना पड़ा और ऐसे साहित्य की रचना हुई जिसमे प्रेम-क्रीड़ा और रासलीला का प्राधान्य था।

९वी-१०वी शताब्दी के बाद से भारतीय साहित्य में दशावतारचरित नाम देकर अनेक काव्य लिखे गए। पृथ्वीराजरासो में भी एक 'दसम' है जो वस्तुतः दशावतारचरित है। इन पुस्तको मे दश अवतारों की स्तुति और चरित लिखे गए है लेकिन प्रधानता राम और कृष्ण की ही है। मनुष्य रूप मे होने के कारण और मनुष्य को प्रभावित करने वाली लीलाओं का आश्रय होने के कारण इन दो अवतारो को प्रधानता मिल गई है। तुलसीदासजी के बाद से उत्तरी भारत में राम अवतार को बहुत प्रमुखता प्राप्त हो गई परंतु श्रीकृष्ण अवतार की महिमा घटी नही, क्योंकि श्रीकृष्णावतार की लीलाओ मे एक विचित्र मानवीय रस है। सख्य, वात्सल्य और माधुर्य की लीलाओ का आश्रय होने के कारण यह चरित सार्वभौम आकर्षण का कारण बना है।

उत्तर भारत मे भक्ति की धारा को नये सिरे से प्रवाहित करने का श्रेय दो आचार्यो को है—स्वामी रामानन्द और महाप्रभु वल्लभाचार्य। स्वामी रामानन्द का संबंध दो श्रेणी के भक्तों से बताया जाता है। एक तो वे जो निर्गुण भाव से राम के उपासक भक्त थे; दूसरे वे, जो राम की उपासना अवतार रूप में करते थे। इन दोनों प्रकार के भक्तों में प्रधान समानता केवल राम नाम की थी। दूसरे आचार्य वल्लभाचार्य

दो मुख्य आचार्य

ने श्रीकृष्ण भक्ति का प्रचार किया। इन्होंने लीला पक्ष पर बहुत अधिक जोर दिया इसीलिये इस संप्रदाय के भक्तों में भगवान् के धर्मरक्षक मर्यादापुरुषोत्तम और दुष्टदमन रूप गौण हो गए और निखिलानन्द सन्दोह प्रेममय रूप प्रधान हो गया। बगाल के श्री चैतन्यदेव के अनुयायी भक्तों ने भी वृन्दावन को अपना साधना-क्षेत्र बनाया था। इनमें रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी और जीव गोस्वामी बड़े भारी शास्त्रज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने भागवत द्वारा प्रचारित भक्ति को क्रमबद्ध दर्शन और तर्कसगत शास्त्र का रूप दिया। परंतु प्रधान रूप से इन गौडीय वैष्णवो मे उपासना भाव विह्वल आराधना के रूप मे ही प्रकट हुआ। ये लोग गोपी-भाव से भगवान् का भजन करते है। इन लोगो का व्रज की भक्ति-धारा पर प्रभाव पड़ा है और शास्त्रीय चिन्तन पद्धति पर भी इनकी विचारधारा का प्रभाव पडा है। यहाँ तक कि अठारहवी उन्नीसवी शताब्दी मे गलता (जयपुर), चित्रकूट, जनकपुर और अयोध्या की मधुर भाव की उपासना भी इन आचार्यों के ग्रंथो से प्रभावित हुई है। बंगाल के प्रेम-विलास और भक्तिरत्नाकर नामक ग्रथो से पता चलता है कि चैतन्यदेव के प्रधान शिष्य श्री नित्यानद प्रभु की छोटी पत्नी जान्हवी देवी जब वृन्दावन गई तो उन्हें यह देख कर बड़ा दु ख हुआ कि श्रीकृष्ण के साथ श्री राधिका की मूर्त्ति की कही पूजा नही होती थी। घर लौटकर उन्होंने नयान भास्कर नामक मूर्तिकार से श्री राधिका की मूर्तियाँ बनवाई और उन्हे वृन्दावन भिजवाया। जीव गोस्वामी की आज्ञा से ये मूर्तियाँ भगवान् के पार्श्व में रखी गई और तभी से श्रीकृष्ण के साथ राधिका की भी पूजा होने लगी। इस प्रकार गौडीय वैष्णव सप्रदाय ने भक्ति साहित्य की भावधारा और विचार-दर्शन को ही नही, उसकी उपासना-पद्धति को भी प्रभावित किया है।

आगे चलकर ब्रजभूमि में ऐसे भी संत हुए जिनके भक्त-गण यह नही स्वीकार करना चाहते थे कि उनका वल्लभाचार्य और श्री चैतन्यदेव के संप्रदायो से किसी प्रकार भी संबध है। यथास्थान उनकी चर्चा आगे की जाएगी। उनका सवंध इन संप्रदायों से हो चाहे न हो परंतु उनकी विचार-धारा पर इन संप्रदायों के भक्तों का प्रभाव पड़ा अवश्य है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म सं० १५३५ की वैशाख कृष्णा एकादशी को अर्थात् सन् १४७८ ई० मे हुआ था और ये स० १५८७ अर्थात् सन् १५३० ई० तक जीवित रहे। ये नाना शास्त्रों के निष्णात पंडित थे। इनका प्रवर्तित मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है। भगवान् के अनुग्रह से ही प्रेम-प्रधान भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति होती है। भगवान् के इस अनुग्रह को ही पोषण या पुष्टि कहते हैं। इसी से इस मार्ग को पुष्टिमार्ग कहते है। जीव तीन प्रकार के होते हैं—प्रवाहजीव, मर्यादाजीव और पुष्टिजीव। प्रवाहजीव तो सांसारिक पचड़ो मे पड़े हुए साधारण कोटि के जीव हैं; मर्यादाजीव सामाजिक विधि-निषेध के अनुसार चलने वाले तथा लोक-मर्यादा का पालन करने वाले मध्यम कोटि के जीव है परतु पुष्टिजीव वे ही है जो भगवान् पर एकात भाव से विश्वास करते हैं, उनके अनुग्रह का भरोसा करते है और इसी अनुग्रह से पोषण पाते हुए और अन्त मे नित्यलीला मे लीन होते हैं। तात्पर्य यह है कि पुष्टिमार्ग भगवान् के अनुग्रह पर पूर्ण रूप से निर्भर रहने का मार्ग है, इसमे शास्त्रविहित विधि-निषेध का बंधन नही है। इनके सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रथ वेदांतसूत्र पर लिखा हुआ अणुभाष्य और भागवत् की सुबोधिनी टीका है। इनकी और भी कई पुस्तकें मिलती हैं, पर ये दोनो विशेष महत्त्वपूर्ण है। पहली शुद्धाद्वैतवाद का प्रधान मूल है और दूसरी

वल्लभाचार्य

भक्ति सिद्धातो का आकर ग्रंथ ।

वल्लभाचार्य के सप्रदाय में पाई जाने वाली परंपराओं से पता चलता है कि सूरदास ने महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा ली थी । एक मनोरजक कहानी में बताया गया है कि सूरदास पहले दीनभाव के भजन बनाया करते थे, बाद मे महाप्रभु के उपदेश से लीलागान करने लगे । परंतु यह नही कहा जा सकता कि सूरदास को यह वस्तु एकदम नई प्राप्त हो गई । इस बात को जानने का कोई साधन नही है कि सूरदास के पहले लीलागान किस प्रकार का होता था । हमने पहले ही देखा है कि ध्रुवक या टेक देकर पद लिखने की प्रथा पूर्व भारत मे पहले ही से थी । १२वी शताब्दी के कवि जयदेव के संस्कृत पद, बौद्ध साधको के गान, और चडीदास और विद्यापति के पद इस बात के सबूत है । भगवान् के अवतार को लक्ष्य बनाकर लीलागान करने वाले भक्तो में सूरदास के पूर्व के तीन भक्तो की चर्चा प्राय की जाती है— उडीसा के सस्कृत कवि जयदेव, बगाल के चडीदास और मिथिला के विद्यापति । तीनों ही महाप्रभु चैतन्यदेव के प्रिय थे और उनके भक्तो के साथ वृदावन मे भी इन तीन कवियों के भजन निश्चितरूप से पहुँच चुके थे । जहाँ तक सूरसागर का सबध है उसमें गीतगोविद के प्रभाव का प्रमाण तो खोजा जा सकता है परतु विद्यापति या चडीदास के भजनों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव इस ग्रथ मे नही खोजा जा सकता । हिंदी साहित्य का इतिहास कहे जाने वाले ग्रथो में सूरदास के भजनो की परपरा विद्यापति के पदो के साथ मिलाने का प्रयत्न किया जाता है पर विद्यापति की वैष्णव पदावली का प्रभाव पूर्व की ओर ही अधिक रहा है । इसने बंगाल, आसाम और उड़ीसा के साहित्य को तो प्रभावित

गेय पदो की परपरा

किया है किंतु पश्चिम के साहित्य को प्रत्यक्षरूप से वह प्रभावित नही कर सका । टेक या ध्रुवक देकर पद लिखने की प्रथा पश्चिम भारत मे भी थी, यह बात सिद्ध की जा सकती है । राजपूताने के नाथ-सिद्धो के भजन काफी पुराने है और ग्रथसाहेब में सगृहीत पश्चिम और दक्षिण प्रदेशो के भक्तो की इस श्रेणी की रचनाएँ प्राप्त हुई है । दसवी शताब्दी के कवि क्षेमेन्द्र के 'दशावतारचरित' मे गोपियो के मुख से एक भजन गवाया गया है जो बहुत कुछ गीतगोविंद की पद्धति पर है । भजन इस प्रकार है—

ललितविलासकलासुखखेलन—
ललनालोभनशोभनयौवन मानितनवमदने ।
अलिकुलकोकिलकुवलयकज्जल—
कालकलिन्दसुताविव लज्जल, कालियकुलदमने ।
केशिकिशोरमहासुरमारण,
दारुणगोकुलदुरितविदारण गोवर्धनधरणे ।
कस्य न नयनयुगं रतिसङ्गे,
मज्जति मनसिजतरलतरङ्गे, वररमणीरमणे ।
—दशावतारचरित, ८-१७३

इससे यह सूचित होता है कि पश्चिम भारत में भी लोक भाषा मे भी उस प्रकार के गान प्रचलित थे जिनका पता गीतगोविंद के भजनो में लगता है । निश्चय ही व्रजभूमि मे भी इस प्रकार के भजन प्रचलित थे । तानसेन और बैजूबावरा के पदो में इस श्रेणी के गानो का संस्कार किया गया था और हो सकता है कि सूरदासजी भी वल्लभाचार्य से मिलने के पहले दैन्य भाव के भजनो के साथ इस जाति के भजन भी बनाया करते हो । दीर्घ काल से इस प्रकार के पद जनता में प्रचलित थे, और जनता के पदो मे दो बातो की ही प्रधानता रहती है—शृंगार की और धर्म की । शृगार और धर्म के लिये रचे

जाने वाले इन पदों को सूरदास ने नया स्वर दिया। इनमें भगवान् की लीला की प्रमुखता हो गई और ऐकान्तिक भक्ति का प्राधान्य प्रतिष्ठित हुआ।

शास्त्रीय मतवाद का सहारा पाने के कारण इन भजनों की भाषा भी बदली। दसवी शताब्दी के बाद से हमारे साहित्य मे धीरे-धीरे गद्य की भाषा मे तत्सम शब्दो का प्रचार बढने लगा था। सूरदास आदि भक्त कवियो के साहित्य मे पद्य मे भी सस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रवेश हुआ। पद्य की भाषा को अपभ्रंग की रूढ़ियो से जकड़ने का प्रयत्न शिथिल हुआ और बोलचाल की भाषा का सहज-प्रसन्न प्रवाह आया। यहाँ से क्या भाव, क्या भाषा, और क्या वक्तव्य वस्तु, सब ओर से नवीन प्राणो का स्पन्दन दिखाई दिया। अब सच पूछा जाय तो यहीं से हिंदी भाषा के साहित्य का वास्तविक सूत्रपात हुआ। इसके पहले के ४०० वर्षों का साहित्य अपभ्रश की रूढियो से जकडा हुआ था, ह्रासोन्मुखी कविता के कवि-समयो और काव्य-रूढियो से ग्रस्त था, गतानुगतिक ढग से पिटे-पिटाए छदो में बंधी-सधी बोलियो के बोलने का अभ्यस्त था। उसमें पुरानी प्रथा के अधानुकरण की जरठ मनोवृत्ति का प्राधान्य था। यहाँ से उसमें नवीन आदर्शों के निर्माण का उल्लास और नवीन आशाओ और आकाक्षाओं को रूप देने का उत्साह प्रकट हुआ।

भाषा में परिवर्तन

जिस काल से हिंदी साहित्य का बनना शुरू हुआ वह काल भारतीय इतिहास का बहुत ही उथल-पुथल और परिवर्तन का काल है। इस समय देश की केन्द्रीय शक्ति क्षीण हो गई थी और पश्चिमी सीमांत से मुसलमानों का आक्रमण हो रहा था। आक्रमण होना कोई नई बात नही थी, इसके पहले भी भारत पर अनेक आक्रमण हो चुके

सास्कृतिक द्वद्व का काल

थे, परंतु वे आक्रमण अधिकतर सैनिक और राजनीतिक आक्रमण थे। परतु इस बार का आक्रमण एक विशिष्ट धर्म मत और सस्कृति का भी आक्रमण था। इस बार के आक्रमण एक सगठित धर्म या मजहब के अनुयायी थे। मजहब और सगठित धर्म सस्था भारत के लिये अपरिचित ही थी। इस धर्म मत मे एक ईश्वर को माना जाता है, एक आचरण का पालन किया जाता है, और ये लोग जब किसी नस्ल, कबीले या जाति के व्यक्ति को एक बार अपने सगठित समूह में मिला लेते है तो उसकी सारी विशेषता दूर हो जाती है। यह धर्म-साधना व्यक्तिगत नही, समूहगत होती है। यहाँ धार्मिक और सामाजिक विधि-निषेध एक दूसरे से गुँथे होते है। भारतीय समाज नाना जातियो का सम्मिश्रण था। किसी जाति का कोई व्यक्ति दूसरे में नही जा सकता था। परतु मजहब ठीक इससे उल्टा है, वह व्यक्ति को अपने समूह का अंग बना देता है, और अगीकृत होने के बाद व्यक्ति की जाति हमेशा के लिये गायब हो जाती है। भारतीय समाज जातिगत विशेषता रखते हुए व्यक्तिगत साधना का पक्षपाती था जब कि इस्लाम जातिगत विशेषता को लोप करके समूह-गत उपासना का प्रचारक था। एक का केन्द्र-बिन्दु चारित्र्य था, दूसरे का धर्म मत। भारतीय समाज मे यह स्वीकृत तथ्य था कि विश्वास चाहे जो भी हो, चरित्र शुद्ध है तो व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है, फिर चाहे वह किसी जाति का क्यो न हो। मुसलमानी समाज के साधारण लोगो का विश्वास था कि इस्लाम ने जो धर्म मत प्रचार किया है उसको स्वीकार कर लेनेवाला ही अनंत स्वर्ग का अधिकारी होता है, और जो इस धर्म मत को नही मानता है, वह अनंत नरक मे जाने के लिये बाध्य है। इस्लाम ने भारत के समस्त कुफ्र को तोड़ डालने की प्रतिज्ञा लेकर इस देश में पदार्पण किया।

इस देश की धार्मिक और सामाजिक स्थिति पर इसकी बडी ही कठोर प्रतिक्रिया हुई। भारतीय समाज अपनी आत्मरक्षा के लिये धीरे-धीरे अपने आप में ही सिमटता गया। ऊँची समझी जाने वाली जातियो में सुरक्षित स्थान में पहुँच कर अपनी विशेषता बना रखने का उद्योग शुरू हुआ और इस प्रकार देश-विशेष के नाम से अपना परिचय देने की प्रथा चल पडी। १०वी शताब्दी के पहले के दान-पत्रो में ब्राह्मणो के केवल गोत्र और प्रवर का उल्लेख मिलता है किंतु बाद के दान-पत्रों में देश और ग्राम भी दिए जाने लगे और यह सकोचनशील प्रवृत्ति निरतर बढती गई।

जाति-प्रथा की कठोरता का कारण

इस प्रकार यह अद्‌भुत विरोधाभास है कि जाति-पाँति के कुफ को तोड़ने वाले धर्म-संप्रदाय के संपर्क में आने के बाद हिंदुओं की जाति-पाँति की प्रथा और भी सकीर्ण और कठोर हो गई और कसी जाने लगी। इस कसाव का परिणाम यह हुआ कि किनारे पर पड़ी हुई बहुत-सी जातियाँ छूँट गईं और बहुत दिनों तक ना-हिंदू ना-मुसलमान बनी रही। बहुत-सी पाशुपत मत को मानने वाली और सन्यासी से गृहस्थ बनी जातियाँ धीरे-धीरे मुसलमान होने लगी। इस प्रकार काशी की जुलाहा जाति नाथ मत को मानने वाली थी जो निरंतर उपेक्षित रहने के कारण क्रमश. मुसलमान होती गई। इसी जाति मे मध्यकाल के स्वाधीनचेता सत कबीर उत्पन्न हुए थे।

दसवी से चौदहवी शताब्दी मे एक ओर जहाँ उत्तर भारत से समस्त हिंदू राज्य नष्ट हो गए वही दूसरी ओर सामाजिक और धार्मिक सकीर्णता से हिंदू जाति अभिभूत हो गई। विचार के क्षेत्र में यह युग टीकाओ का है। ज्ञान के प्रत्येक

टीका युग

क्षेत्र मे यह विश्वास कर लिया गया कि जो कुछ उत्तम और अविसंवादी सत्य है वह पूर्वकाल के ऋषियो ने और आचार्यों ने लिख दिया है। इस युग के आदमी केवल उसके अर्थ समझने का प्रयास कर सकते हैं, नया कुछ नही दे सकते। टीकाओ की टीका और उसकी भी टीका लिखने मे इस काल के पडितो ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। एक दूसरे प्रकार का प्रयोग सगति लगाने वाले निवध ग्रथ थे जो वहुत-कुछ टीकाओ की ही श्रेणी के हैं। ऐसी ही स्वाधीन चिता की कुठा के समय वौद्ध और नाथ-सिद्धो ने अपनी अक्खड शैली मे वाह्याचार और निरर्थक रूढ़ियो का विरोध किया। परन्तु उनके पास देने लायक कोई नई सामग्री नही थी, वे केवल अर्थहीन आचारों का विरोध भर करते रहे।

नाथ मत और भक्ति मार्ग

ऐसे ही समय मे दक्षिण से भक्ति की नई धारा उत्तर भारत की ओर आई। उन दिनो उत्तर के हठयोगियो का धर्म मत प्रवल था। उनमें और दक्षिण के भक्तो मे मौलिक अतर था। एक के लिये समाज की ऊँच-नीच भावना उपहास और आक्रमण का विषय थी पर दूसरे के लिये मर्यादा और स्फूर्ति का। वज्रयानी और नाथ-पथी योगी डटकर जाति भेद पर आघात करता था, वाह्या-चार और उनमूलक श्रेष्ठता को फटकार बताता था और चौरासी लाख योनियो मे निरतर भटकते हुए माया के गुलाम गृहस्थो से अपने को श्रेष्ठ समझता था। दक्षिण से आया हुआ भक्तिवाद समाज मे प्रचलित वर्णव्यवस्था और ऊँच-नीच मर्यादा को स्वीकार करके भी उसकी कठोरता को शिथिल करने में समर्थ हुआ। इनके पास अनन्त शक्ति, ऐश्वर्य और प्रेम के आकर लीलामय भगवान् की भक्ति का सबल था। एक बार भगवान् की शरण गहने पर नीच-से-

नीच व्यक्ति अनायास भवसागर पार कर सकता था। इस युग के हिंदू गृहस्थ के लिये यह एक महत्त्वपूर्ण निधि थी। इसे बौद्ध और नाथ-सिद्ध नहीं दे सके थे, टीका और निबन्धो के लेखक शास्त्रज्ञ विद्वान् नही बना सके थे और अलङ्कारों से लदी हुई कविता भी नही दिखा सकी थी।

क्या भक्ति आंदोलन प्रतिक्रिया है?

कुछ विद्वानो ने इस भक्ति आन्दोलन को हारी हुई हिंदू जाति की असहाय चित्त की प्रतिक्रिया के रूप में बताया है। यह बात ठीक नही है। प्रतिक्रिया तो जातिगत कठोरता और धर्मगत संकीर्णता के रूप मे प्रकट हुई थी। उस जातिगत कठोरता का एक परिणाम यह हुआ कि इस काल में हिंदुओं में वैरागी साधुओं की विशाल वाहिनी खडी हो गई क्योंकि जाति के कठोर शिकंजे से निकल भागने का एकमात्र उपाय साधु हो जाना ही रह गया था। भक्तिमतवाद ने इस अवस्था को संभाला और हिंदुओ मे नवीन और उदार आशावादी दृष्टि प्रतिष्ठित की। १४वी शताब्दी के बाद हिंदी साहित्य की मूल प्रेरणा भक्ति ही रही। इसके पूर्ववर्ती साहित्य में यह वस्तु नही है इसीलिये उसमें न तो किसी प्रकार का स्पदन दिखाई देता है और न वक्तव्य-वस्तु की कोई ताजगी। १४वी शताब्दी के बाद का हिंदी साहित्य अत्यत सवेदनशील प्राणधारा से उद्वेलित है और महान् आदर्शो से अनुप्राणित है। रोगमुक्त मनुष्य की भाँति उसमें स्वास्थ्यजन्य क्षुधा और नैरुज्यजन्य स्फूर्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। यहाँ से हिंदी साहित्य नई मोड़ पर खड़ा हो जाता है और यद्यपि वह पुरानी परपंरा से एकदम विच्युत नही हो जाता तथापि उसमें रूप और शोभा के प्रति रुग्ण आकर्षण का अभाव है। रूप और शोभा में वह दैवी ज्योति देख सकता है और अपने

पाठक को ऊँचे धरातल पर बैठा कर तलदेश की गंदगी से दूर रख सकता है। इस साहित्य में कृत्रिमता का अभाव है और सहज-सरल मानव जीवन के प्रति आस्था है।

इस भक्ति आंदोलन के आरम्भ में इस युग के महा गुरु रामानंद का नाम सुनाई देता है। इसके पहले भी कुछ भक्त संतो की साहित्य-रचना प्राप्त होती है जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे। परंतु रामानद अपने पाडित्य और औदार्य के कारण सबसे श्रेष्ठ ठहरते हैं। माघ कृष्ण सप्तमी सवत् १३५६ वि० अर्थात् सन् ईस्वी की १३वी शताब्दी के अन्त मे इनका जन्म हुआ था और लगभग पूरी १४वी शताब्दी भर ये अपने धार्मिक प्रचार का कार्य करते रहे। ऐसी प्रसिद्धि है कि प्रयाग के किसी कान्यकुब्ज ब्राह्मण वश मे इनका जन्म हुआ था। इनके लिखे तीन सस्कृत ग्रथ प्राप्त हैं। एक तो वेदात सूत्रो पर 'आनद भाष्य', दूसरी 'रामार्चन पद्धति' और तीसरी 'वैष्णव मताब्जभास्कर'। श्री रामार्चन पद्धति में उन्होने जो गुरु-परपरा दी है उसके अनुसार रामानदजी रामानुज से १४ पीढी नीचे आते हैं। रामानुज जी का परलोकवास सन् ११३७ ई० मे हुआ था। यदि प्रत्येक पीढी के लिये २० वर्ष का समय रखे तो इनका समय सन् ईस्वी की १४वी शताब्दी के शुरू मे या १३वी के अत में पड़ेगा।

गुरु रामानद

आनद भाष्य के विषय मे विद्वानो में मतभेद है। अभी तक कोई ऐसा पुष्ट प्रमाण नही उपलब्ध हुआ जिससे यह कहा जा सके कि स्वामी रामानद ने इस भाष्य को नही लिखा था। रामानुजाचार्य के मत से इस भाष्य के प्रतिपादित मत का अतर नाममात्र का है। यह तो मान ही लिया जा सकता

आनद भाष्य और प्रसग पारिजात

है कि रामानद जी मनस्वी सत थे इसलिये उन्होने स्वय यदि भाष्य लिखकर अपनी स्वतत्र चिंतन शक्ति का उपयोग किया हो तो यह आश्चर्य या शका की बात नही है। परंतु इधर साप्रदायिक प्रतिद्वद्वितावश बहुत-सी जाली पुस्तके तैयार होने लगी है, अत. खूब सावधानी से इनकी छानबीन होनी चाहिए। रामानद के आनद भाष्य के सबध मे भी इस प्रकार की सावधानी आवश्यक है। हाल ही मे 'प्रसग पारिजात' नामक विचित्र पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसकी भाषा से लेकर भविष्यवाणियो के विषय तक सभी बातें मनोरंजक है। पुस्तक पैशाची भाषा में लिखी बताई जाती है। इसे स्वामी रामानदजी के साथ रहने वाले किसी स्वामी चेतनदास ने दैवी शक्ति की सहायता से लिखा था। इसमे स्वामी जी का जीवन-वृत्त तो आया ही है उनकी भविष्यवाणियाँ भी है। एक अष्टपदी मे कबीरदास के मोहनदास के रूप में अवतरित होकर देश को स्वाधीन कराने की भी भविष्यवाणी है। अब तक यह ग्रथ इसलिये नही प्रकाशित किया गया था कि इसमें एक स्थान पर कहा गया है कि जब तक स्वराज्य न हो जाए तब तक जो इसे प्रकाशित करेगा वह पागल हो जाएगा। सौभाग्यवश अब वह बाधा नही है। अब प्रकाशित करने वालो के पागल होने की कोई आशका तो नही है पर विश्वासपूर्वक इसे सत्य मानने वालो के वैसा हो जाने की पूर्ण आशका बनी हुई है। इसकी भाषा का एक नमूना इस प्रकार है—

मस्तीन सुरवा डाहिबी। आसीम औरम थाहिबी ॥
धीधी घुना नुप जाहिबो। फीफी फिना सत साहिबो ॥
फौड़ीस कोणप करतरी। उनत्रीस ओखर धरधरी ॥
फातेस जसता जरजरी। टाणेस टरवर भरभरी ॥
इत्यादि।

मूड मारकर भी कोई पैशाची का पडित इस नई पिशाच भाषा का उद्धार नही कर सकेगा। सौभाग्यवश टीकाकार ने इसका अर्थ स्पष्ट कर दिया है---शंखवार्ता रूपी दिव्य निनाद को सुनकर सर्पराज शेष ध्यानमग्न हो गए, लक्ष्मी रूपी मृगी आनंदित और थकित हो गई, इत्यादि। बावा तुलसीदासजी के साथ रहने वाले बावा वेणीमाधवदास की 'डायरी' का जो सम्मान विद्वानो ने किया है उसे देखते हुए इस प्रकार की नयी-नयी वाणियो का अवतार होने लगना कुछ आश्चर्य की बात नही है। तुलसीदास की पत्नी और चेलो की बातें छप चुकी हे। यदि उनकी ससुराल के अन्य संबंधियो की भी कुछ रचनाएँ छप जायँ तो आश्चर्य करने की बात नही होगी। ऐसो भारवर्द्धक पुस्तको की कड़ी आलोचना होनी चाहिए, नही तो साहित्य के इतिहास मे ऐसी बे-सिरपैर की पुस्तको के तथ्य की आलोचना होने लगेगी तो फिर साहित्य के मूल प्रवाह को समझना असभव हो जायगा। नित्य नये ग्रामो के जन्म-स्थान होने के दावो ने साहित्य के मदिर के सामने बे-मतलब के कूड़ो का अम्बार लगा रखा है। अस्तु।

रामानुज और रामानद

कुछ पडितों का दावा है कि रामानद चाहे जिस दृष्टि से रामानुज के मतावलम्बी क्यो न रहे हो, तत्त्व दृष्टि से तो उनके मतावलम्बी नही थे। कुछ दूसरे पडित ठीक इसके विरुद्ध मत का प्रतिपादन करते है। वे तत्त्व-दृष्टि से तो रामानद को रामानुज का अनुयायी मानते है पर उपासना-पद्धति मे एकदम अलग। इसमे कोई सन्देह नही कि सारी परम्पराएँ रामानंद का रामानुज सम्प्रदाय से सम्बन्ध बताती हैं, पर साथ ही कुछ ऐसी दलीले भी उपस्थित की गई है जिनसे इस अनुमान की पुष्टि हो जाती है कि दोनों आचार्यों

का सबंध दूर-दूर का ही था। कहा गया है कि रामानद द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय मे राम और सीता को जिस प्रकार एकमात्र परमाराध्य माना जाता है उस प्रकार रामानुज के प्रवर्तित श्रीवैष्णव सप्रदाय मे नही माना जाता। श्रीवैष्णव सभी अवतारो की उपासना करते है। फिर रामानदी लोगो मे जो मंत्र प्रचलित है वह भी रामानुज संप्रदाय के मत्र से भिन्न है। उनका तिलक रामानुजी मत के तिलक से मिलता-जुलता है फिर भी हू-ब-हू वही नही है बल्कि थोड़ा भिन्न है। स्वय रामानद जी त्रिदडी सन्यासी नही थे, यह भी सिद्ध किया गया है। फिर एक बात और भी विचारणीय है--रामानदी सप्रदाय का नाम भी हू-ब-हू वही नही जो रामानुजीय सप्रदाय का है। इस प्रकार नीचे लिखी तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि दोनो सप्रदायो में सभी महत्त्वपूर्ण बातो मे भेद है --

	रामानुजीय	रामानदीय
सप्रदाय	श्री वैष्णव सप्रदाय	श्री सप्रदाय
मत्र	ॐ नमो नारायणाय	ओ रामायनमः
भाष्य	श्री भाष्य	आनद भाष्य

फिर भी परपरा से रामानद का सम्बन्ध रामानुजीय सम्प्रदाय से सिद्ध हैं। इसका समाधान एक प्रकार से किया गया है कि तामिल देश में बहुत पुराने जमाने से कोई राम सप्रदाय चला आ रहा था जो कभी श्रीवैष्णवो में प्रविष्ट हो गया था। रामानद उसी संप्रदाय के आचार्य थे। कहा गया है कि ऐसा मान लेने से सभी बातो की सतोषजनक मीमासा हो जाती है। पहले एक समस्या खड़ी करके फिर उसका समाधान करने का प्रयत्न भारतीय साहित्य और समाज के क्षेत्र मे यह अकेला ही नही है।

रामानद जी का रचित बताया जाने वाला आनंदभाष्य अनन्य भक्ति को ही मोक्ष का एकमात्र और अव्यवहित उपाय मानता है और प्रपत्ति को मोक्ष का हेतु, और कर्म को भक्ति का अग बताता है। इसके अनुसार जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म है। इसके अनुसार जीवो का परस्पर भेद और नानात्व सिद्ध है। इसी प्रकार स्वरूपत: जीव, अणु, कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता तथा नित्य है। जीव और ब्रह्म का भेद है। यह मत वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार करता है और विवर्तवाद का बारबार प्रत्याखान करता है और नारद पांचरात्र को प्रमाणरूप मे उद्धृत करता है। निर्विशेषक ब्रह्म का अनेक स्थलो पर तिरस्कार करके और सविशेषक ब्रह्म का प्रतिपादन करके सत्ख्यातिवाद को स्वीकार करता है। इस प्रकार जहाँ तक इस भाष्य के मुख्य प्रतिपादित सिद्धातो का प्रश्न है उसकी प्रामाणिकता को अस्वीकार करने का कोई कारण नही है।

आनंदभाष्य का मत

परंतु सुप्रसिद्ध विद्वान् फर्कुहर का कहना है कि परंपरा से यह प्रसिद्ध है कि पहले पहल रामानद जी ही अध्यात्म रामायण और अगस्त्य-सुतीक्ष्ण सवाद दक्षिण से ले आए थे। नि संदेह उनके सप्रदाय मे इन ग्रथो का बडा समादार है। प्रसिद्ध रामभक्त गोसाई तुलसीदास के रामचरितमानस पर इन ग्रथो का प्रभाव सर्वविदित है। आज भी रामानदी वैष्णव इन ग्रथो को सप्रदाय मान्य ग्रथ मानते है और यह आश्चर्य की बात है कि ये ग्रंथ विशिष्टाद्वैत की अपेक्षा शंकर मत की ओर अधिक झुकते है (तुलनीय—अध्यात्म रामायण १·३२–५१)। इस प्रकार यह अनुमान असगत नही कहा जा सकता कि रामानुज जी के मत मे भक्ति ही बड़ी चीज थी, तत्त्ववाद नहीं। उनके

शिष्यो मे केवल एक बात को छोड़ कर बाकी बातो में काफी स्वतन्त्रता का परिचय पाया जाता है। वह बात है अनन्य भक्ति। उनके कितने ही शिष्य उनकी भाँति वर्णाश्रम व्यवस्था नही मानते, जीवो का ब्रह्म से भेद नही मानते और कितने तो यह भी नही मानना चाहते कि दिव्य गुणो से भगवान् का सगुणत्व भी सिद्ध होता है और सम्पूर्ण वेदात शास्त्र सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन करता है। केवल प्रपत्ति या शरणागति को मोक्ष का साधन समझने में उनके सभी शिष्य एक हैं।

रामानंद के गुरु राघवानद थे। भक्तमाल में नाभादास जी ने गुरु राघवानद को ही रामानद का गुरु माना है। इन गुरु राघवानद की एक हिन्दी रचना सिद्धान्त पचमात्रा प्राप्त हुई है जो काशी विद्यापीठ से प्रकाशित और स्व० डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल द्वारा संपादित योग प्रवाह नामक पुस्तक में सगृहीत है। सिद्धान्त पचमात्रा मे ही स्पष्ट हो जाता है कि राघवानद जी योग मार्ग को साधना से परिचित थे और अन्त साधना और अनुभव सिद्ध ज्ञान की महिमा के विश्वासी थे। गुरु रामानद को उदार दृष्टि और व्यापक भक्ति चेतना अपने गुरु से उत्तराधिकार के रूप मे ही मिली थी।

रामानद मे कुछ न कुछ ऐसी साधना अवश्य थी जिसके कारण योगप्रधान भक्तिमार्ग निर्गुणपथी भक्तिमार्ग और सगुणोपासक भक्तिमार्ग, तीनो ही के पुरस्कर्त्ता भक्तो ने उन्हे अपना गुरु माना है।

गुरुग्रथसाहब में इनका एक पद सगृहीत है जिसमे इन्होने बहुत कुछ निर्गुण उपासको की ही तरह अपने विचार प्रकट किए है—

जहाँ जाईए तहँ जल पषान, तू परि रहिउ है नभ समान।
वेद पुरान सब देषे जोई, ऊहाँ तउ जोइऐ जउ इह्याँ न होई।

हिंदी में गुरु रामानंद की नई रचनाएं प्राप्त होती हैं जो आकार में बहुत छोटी हैं। स्व० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इनकी राम रक्षा, ज्ञानलीला, योगचिन्तामणि, ज्ञान तिलक नाम की रचनाओं का संपादन किया था जो अब नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो रही हैं। इन में रामरक्षा को उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक रचना समझा था किन्तु खोज विवरणों से इसके अनेक रूपों का पता चलता है। अन्य रचनाओं के प्राप्त रूप भी पूर्ण रूप से प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। परन्तु इन रचनाओं से रामानद के विश्वासों का थोड़ा बहुत पता तो चल ही जाता है। इन ग्रथों में से कई बाद में रामानद के नाम के साथ जोड़े गए जान पडते हैं (आगे देखिए)।

भक्तमाल में इनके बारह शिष्य बताए गये हैं-- अनतानंद, सुखानंद, सुरसुरानद, नरहर्यानंद, भावानद, पीपा, कबीर, सेन, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसरी। इनमें से कई छोटी समझे जाने वाली जातियों में उत्पन्न हुए हैं जो रामानद के औदार्य के साक्षी हैं।

इस प्रकार इन दो महात्माओं (श्री रामानंद और श्री वल्लभाचार्य) ने इस काल के साहित्य को प्रधान रूप से प्रभावित किया। हिंदी भाषी प्रदेशों में जो धर्म साधनाएँ उन दिनों प्रचलित थी उन पर इन आचार्यों द्वारा प्रवर्तित भक्ति भावधारा का प्रभाव पड़ा। निर्गुण भावापन्न योगप्रधान भावधारा के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ा और वह निर्गुण मार्ग के रूप में प्रकट हुआ। प्रेमलीला-प्रधान सगुण भावधारा के क्षेत्र में वह श्रीकृष्ण अवतार को केन्द्र करके अपूर्व प्रेमाभक्ति के रूप में प्रकट हुआ और स्मार्त-भाव प्रधान पौराणिक विश्वासों के क्षेत्र में उसने राम

रामानद और वल्लभाचार्य का प्रभाव

अवतार को केन्द्र करके अत्यन्त विशाल रूप में आत्मप्रकाश किया। इस प्रकार यह भक्ति का अकुर तीन रूप मे विकसित हुआ। यही भक्ति साहित्य हिंदी की मुख्य भावधारा है। इसी ने उत्तर भारत के लोकचित्त को मथित और चालित किया है, इसी ने उसे नवीन लक्ष्य और नवीन आदर्श दिए है।

महान् आदर्श का साहित्य

रामानद और वल्लभाचार्य के पहले का हिंदी साहित्य किसी वडे आदर्श से चालित नही था। आश्रयदाता राजाओं के गुणकीर्तन और काव्यगत रूढियो पर आधारित साहित्य सूक्तियो को जन्म दे सकता है पर वह समाज को किसी नये रास्ते पर चलने की स्फूर्ति नही दे सकता। चौदहवी शताब्दी से पूर्व के साहित्य ने कोई नयी प्रेरणा नही दी। किन्तु नया साहित्य मनुष्य जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद्भक्ति, आदर्श है शुद्ध सात्विक जीवन, और साधन है भगवान् के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओ का गान। इस साहित्य को प्रेरणा देने वाला तत्व भक्ति है इसीलिये यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से सब प्रकार से भिन्न है। उसका लक्ष्य था राजसंरक्षण, कवियश और वाक्सिद्धि। प्रेरक तत्व के बदलने के कारण १५वी शताब्दी के बाद का साहित्य विल्कुल नवीन-सा जान पड़ता है। चन्द, जज्जल, विद्याधर, शार्ङ्गधर आदि की रचनाओं मे अनाडम्वर स्वस्थ जीवन और अलौकिक पारमार्थिक लक्ष्य प्राप्त करने की स्फूर्तिदायिनी प्रेरणा नही है। परन्तु इस युग के साहित्य में वह प्रेरणा पूरी शक्ति के साथ काम करती दिखाई देती है।

कारण है कि इस काल के आरम्भ में ही कबीर, नानक, मलिक मुहम्मद जायसी और

दादूदयाल जैसे महान् साहित्यकार उत्पन्न हुए जो अपने-अपने क्षेत्रो मे दिक्पाल जैसे दिखाई देते है। इस काल का हिंदी साहित्य ऊर्ध्वबाहु होकर घोषणा करता है कि लक्ष्य बडा होने से ही साहित्य बडा होता है। जिस दिन हिंदी साहित्य इस तथ्य को भूल गया और सूक्तियो को लेकर खिलवाड़ करने के चक्कर में पड़ गया उसी दिन से साहित्य का अधःपतन शुरू हुआ।

वास्तविक लोक-साहित्य

इस प्रकार पद्रहवी शताब्दी के बाद सचमुच का लोक-भाषा का साहित्य बना। भाषा इसकी वास्तविक और सच्ची है, शैली सहज और प्रसन्न। लोक-प्रचलित काव्यरूपो के साथ जीवन के बडे लक्ष्य और आदर्श का योग हो जाने से इस साहित्य में अपूर्व तेजस्विता आ गई है। उसके छंदो मे किसी प्रकार की कृत्रिमता का बोझ नही है और भाषा और भाव के अनाडम्बर महिमा को वहन करने में वह पूर्ण समर्थ है। यहाँ से मात्रिक छदो का अबाध प्रवेश होता है। हिंदी के जितने भी महान् कवि हुए है उनकी रचनाऍ मात्रिक वृत्तों मे ही चमकी है। जिन कवियो ने कई छंदो में रचना की है वे भी मात्रिक छंदो वाली रचना लिखकर ही कृतकार्य हुए है। यहाँ से हिंदी कविता ने अपने असली छदो को पहचाना। संभवतः लोक मे इन्ही छंदो का अधिक प्रचार था।

४

निर्गुण-भक्ति का साहित्य

पिछले अध्याय मे मध्य युग के महान् गुरु रामानंद की चर्चा हुई है। नाभादासजी के भक्तमाल[1] मे इनके बारह शिष्यो की चर्चा है। ये बारह शिष्य हैं—

रामानद के शिष्य

(१) अनतानंद, (२) सुखानद, (३) सुर-सुरानंद, (४) नरहर्यानिद, (५) भावानद, (६) पीपा, (७) कबीर, (८) सेना, (९) धना, (१०) रैदास, (११) पद्मावती, (१२) सुरसुरी। इनमे से कई भक्तों को तथाकथित छोटी जातियो मे उत्पन्न कहा जाता है। उस काल मे उच्च समझे जाने वाले वर्ण के लोग छोटी समझी जाने वाली जातियो के प्रति जिस दृष्टि से देखते थे उसे देखते हुए रामानन्द का अद्भुत साहस, मानव-प्रेम और औदार्य आश्चर्यचकित करने वाले हैं। यदि नाभादासजी का वक्तव्य विश्वसनीय हो तो मानना पडेगा कि उन्होने अपने शिष्यो पर किसी प्रकार का आचारधर्म लादा नही। प्रत्येक को अपने स्वभाव, रुचि और संस्कार के अनुसार भक्ति की साधना की छूट दी। यह महागुरु ही कर सकता है। शिष्य को

---

[1] (१) भक्तिमाल, नृत्यलाल सील, कलकत्ता १८७३, (२) सटीक—, एज्यूकेशन मिशन, बम्बई १८७८; (३) चश्मए-नूर प्रेस, अमृतसर १८८६, (४) वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १८९६; (५) सीतारामशरण भगवानप्रसाद, अयोध्या १९०४, (६) सटीक—, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, कल्याण १९९९; (७) सटीक—, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।

अपने व्यक्तित्व को विकसित करने का पूर्ण अवसर आकाशधर्मा गुरु ही दे सकता है।

इनमे अनतानद के शिष्य कृष्णदास पयहारी हुए जो भक्त-माल के लेखक नाभादास के गुरु महात्मा अग्रदास के गुरु थे। नरहर्यानद का सबंध भक्तप्रवर तुलसीदासजो से बताया जाता है। रैदास से कभी मीराबाई ने दीक्षा ली थी, यह प्रसिद्ध है। सुरसुरानद की परपरा मे दादूदयाल और सु दरदास हुए। इस प्रकार रामानद की शिष्य-परपरा मे विभिन्न भाव से भजन करने वाले भक्त हुए। तुलसीदास सगुण-मार्गी थे, कबीर और दादू निर्गुण-मार्गी। दोनों प्रकार के सतो मे समानता सिर्फ एक ही बात की है। दोनो ही 'राम' के भक्त हैं। ऐसा जान पडता है कि स्वामी रामानंद ने अपने शिष्यो को अनन्य भक्ति का ही उपदेश दिया था। अपनी रुचि और सस्कारो के अनुसार उन लोगो ने उसे नाना रूपो मे विकसित किया। यह रामानद के औदार्य का प्रमाण है। आकाश की भाँति उन्होने अपनी छाया में शिष्यो को बढने का पूर्ण अव-काश दिया। वे मध्य काल के सच्चे महागुरु थे। उन्होने युग-धर्म की नाडी पहचानी थी।

इस बात का तो ऐतिहासिक प्रमाण उपलव्ध है कि रामा-नद के शिष्यो मे से किसी-किसी ने नाथ-मार्गी योगियो के प्रतिष्ठित अखाडो को अपने प्रभाव मे लाकर उनके शिष्यो को अपना अनुयायी बनाया है। जयपुर के पास जो गलता की गद्दी है वह पहले नाथमत के अनुयायियो के हाथ में थी। अपने प्रभाव से रामानद के शिष्य कृष्ण-दास पयहारी ने उस पर अधिकार किया। आमेर के राजा इसके बाद रामानदी सप्रदाय में दीक्षित हुए। रामानुज सप्रदाय मे तोताद्रि का जो महत्व है वही रामानद सप्रदाय में इस गद्दी को

नाथपथी योगियो से सपर्क

प्राप्त हुआ और इसे उत्तर तोताद्रि कहा जाने लगा। इस घटना से आसानी से समझा जा सकता है कि इस स्थान की पूजा-पद्धति, विश्वासो और धारणाओ में कुछ प्राचीनतर भाव रह गए है। कितनी भी सावधानी क्यो न बर्ती गई हो, नाथपथी मठ के शिष्यों को एक दम नही बदला जा सका होगा, बहुत-सी बाते वैसी ही रह गई होगी। ऐसे अवसरो पर प्राय ऐसा ही होता है कि पुराने गुरु के स्थान पर नये गुरु का नाम बैठा दिया जाता है और शेष बाते वैसी हो चलती रहतो हैं। पयहारीजी के दो प्रसिद्ध शिष्यो में से कील्हदास की प्रवृत्ति रामभक्ति के साथ योग-साधना की ओर बनी हुई थी। नाभादास ने इन्हें अष्टाग योग का उपासक कहा है। तपसी नामक वैरागियो की शाखा मे प्रसिद्ध है कि रामानंद ने बारह वर्ष तक योग-साधना की थी। इसी प्रकार के नवदीक्षित योगि भक्तो में रामानंद के नाम से प्रचारित ऐसी पुस्तके मिलती है जिनमे योग-महिमा और नाद-बिंदु की उपासना प्रचारित है। 'योगचिंतामणि', 'रामरक्षास्तोत्र', आदि ग्रथ केवल नवदीक्षित भक्तों की पुरानी प्रथा और विश्वास के साथ उनके नाम को सबधित कर देने का प्रयास जान पड़ते हैं। इन पुस्तकों मे जिन बातो का प्रचार किया गया है वे पुराने मत का अवशेष है। नये गुरु का नाम जोड़कर उन्हें नये विश्वास के अनुरूप कर लिया गया है। कभी-कभी पुराने वाक्यों मे जहाँ पुराने गुरु और पुराने उपास्य का नाम होता है वहाँ नये गुरु और नये उपास्य का नाम जोड़ने का भी प्रमाण मिलता है। रामरक्षास्तोत्र के अनेक उपलब्ध रूपो में यही प्रयास है।

नामदेव कबीर के पूर्ववर्ती निर्गुण भाव के साधक थे। कबीर ने अपनी पुस्तको में बड़े गौरव के साथ इनका नाम लिया है और गुरुग्रथसाहब में इनके भजनों का बड़े आदर के साथ सग्रह किया गया है।

नामदेव

कहते हैं कि ये जाति के छीपी थे। महाराष्ट्र के सतारा जिले मे नरसी बैनी गाँव में १२६७ ईस्वी में इनका जन्म बताया जाता है। इनके गुरु सत विसोबा खेचर थे और सत ज्ञानेश्वर के प्रति भी इनकी भक्ति थी। नामदेव के भजन मराठी और हिंदी दोनो मे उपलब्ध है। हिंदी भजन गुरुग्रथसाहब में सगृहीत है। इन भजनो की सख्या ६० से भी अधिक है। इनमे उनके प्रेम-निर्भर सहज अकपट चित्त का बहुत अच्छा प्रकाशन हुआ है।

महाराष्ट्र के अनेक भक्तो ने हिंदी मे कविता लिखी है। श्री भास्कर रामचद्र भालेराव ने सवत् १९८६ की नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भाग १०) मे इस विषय में एक महत्वपूर्ण लेख लिखा था। उनके लेख से जान पडता है कि जन्मकाल से ही हिंदी भाषा की यह विशेषता रही है कि भारत के दूरस्थ प्रातो के दूरदर्शी सत-महात्मा, राजा-महाराजा, कवि तथा योद्धा स्थानीय भाषाओ के अतिरिक्त इसमे (हिंदी मे) भी रचना करते चले आ रहे हैं। महाराष्ट्र और गुजरात मे यह परपरा आज तक अक्षुण्ण चली आ रही है। प्रमाण के लिये महाराष्ट्र को लीजिये। चदवरदायी के काल में चालुक्यवशी महाराज सोमेश्वर 'सर्वज्ञभूप' उपनाम से हिंदी में काव्य रचना करते रहे। उनके मानसोल्लास ग्रंथ मे राग-रागनियो का वर्णन हिंदी भाषा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस ग्रथ का रचना-काल ११८४ सं० विक्रमी (११२७ ई०) है।

महाराष्ट्र के हिंदी कवि

राजा-महाराजा लोगो के अतिरिक्त सत-महात्माओ की रचनाएँ महाराष्ट्रवासियो को हिंदी से अभिज्ञ कराने में सहायक होती रही। महानुभाव पथ (जयकृष्णी) के सस्थापक चक्रधर महाराज का रचनाकाल शाके ११९४ है। जयकृष्णी पथ का प्रसार महाराष्ट्र से सीमात प्रदेश तक हुआ था। इसी

लिये इस पंथ के अनुवर्ती संत महात्मा अपनी शिष्य-परंपरा को अपने धार्मिक सिद्धांतों का बोध कराने के लिये हिंदी में रचना करते रहे। श्री चक्रधर जी उभाम्बर दामोदर ने ईश-भक्ति विषयक विभिन्न राग-रागनियों की कविताएँ रची जो उत्कृष्ट कोटि की रचनाएँ मानी जाती है।

इसी प्रकार नाथपंथी साधू महात्माओं ने हिंदी में प्रचुर रचनाएँ की। ज्ञानेश्वर महाराज और मुक्ताबाई की हिंदी कविता का पाठ आज भी महाराष्ट्र में होता है। नामदेवजी ने मराठी के साथ-साथ हिंदी में भी प्रचुर रचना की।

सूर-तुलसी काल मे वैष्णव भक्तों की हिंदी रचनाएँ अपना अलग विशेष महत्व रखती है। भानुदास, जनार्दन स्वामी, दादू पिंजारा, एकनाम, तुकाराम, कान्होबा, जनी जनार्दन की रचनाएँ हिंदी साहित्य में अमूल्य निधि है।

महात्माओं के अतिरिक्त मुसलमान और हिंदू शासकों ने भी हिंदी मे रचनाएँ की। इब्राहीम शाह का 'नवरस' हिंदी विषयक एक अनुपम ग्रंथ है। शिवाजी के पिता शाहजी के दरबार मे ३८ कवियों का उल्लेख मिलता है। जयराम, रघुनाथ व्यास, रघुनाथ कवि, ठाकुर चतुरद, लछीराम, श्याम गुसाईं, ठा० शिवदास केहरि, गग, गय, ददेव सुखलाल, रामानुज, दुर्ग ठाकुर, सुविद्ध राव, विश्वभर भाटकी की रचनाएँ आज भी उपलब्ध है। इस काल में महानुभावपंथी कृष्ण मुनि, चक्रमणि व्यास, विधिचंद्र शर्मा की विविध रचनाएँ मिलती है। 'अवताररासा', 'ब्रह्मविद्यार्थप्रकाश' आदि ग्रंथ प्रसिद्ध है। शिवाजी महाराज स्वयं कवि थे और कवियों का आदर करते थे। भूषण, गंगेश, श्री गोविंद आदि विविध कवियों की रचनाएँ उपलब्ध है।

शिवाजी के समकालीन नाथपंथीय संत मानसिंह नाथ स्वामी के अतिरिक्त नाभा, सेनानाई, शेख सुलतान, शेख फरीद, काजी मुहम्मद, जिंदा फकीर, सैयद हुसेन, बहादुर बाबा, लतीफ शाह, सुलतान कादर आदि की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। अस्तु।

जयदेव

यहाँ प्रसग नामदेवजी का है। नामदेवजी के समान ही दूरस्थ प्रात के एक और भी पुराने भक्त जयदेव के कुछ निर्गुण भाव के पद ग्रथसाहब मे सगृहीत हैं। साधारणत यह विश्वास किया जाता है कि यह गीतगोविंद के रचयिता जयदेव से अभिन्न हैं परतु ग्रंथसाहब में सगृहीत पद केवल विषय-वस्तु की दृष्टि से ही गीतगोविंद से भिन्न नही हैं उनमे गीत-गोविंद के रचयिता की चपल-चटुल शैली और मनोहर पद-विन्यास का कुछ भी साम्य नही मिलता। इसलिये साहित्य के विद्यार्थी के लिये यह विश्वास करना कठिन है कि दोनों जयदेव एक ही हैं।

कबीरदास

निर्गुण भाव के साधको मे निस्संदेह कबीरदास प्रमुख और श्रेष्ठ हैं। काशी में किसी सद्योधर्मांतरित जुलाहा जाति मे इनका प्रादुर्भाव हुआ था। प्रसिद्ध यह है कि ये किसी विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे। माता ने सामाजिक भय से काशी के लहरतारा तालाब के पास इन्हें फेंक दिया था, वही नीरू और नीमा नामक जुलाहा दपति ने इन्हें प्राप्त किया और पाल-पोसकर बड़ा किया। यह प्रसिद्धि कहाँ तक सत्य है, यह नही कहा जा सकता। पर निर्विवाद बात यह है कि ये काशी के जुलाहा जाति मे पालित और बर्धित हुए थे। यह जुलाहा जाति नाथपंथी योगियो की शिष्य थी और इनमे उनके विश्वास और संस्कार पूरी मात्रा मे वर्तमान थे। मुसलमान ये नाम मात्र के ही थे। इस नाथ-

भावापन्न सद्योधर्मांतरित जुलाहा जाति में पालित होने के कारण कबीरदास में नाथपंथी विश्वास सहज रूप मे वर्त्तमान थे। उनका मन योगियो के संस्कार से सुसंस्कृत था। इसी क्षेत्र मे इस काल के श्रेष्ठ गुरु स्वामी रामानद द्वारा प्रचारित भक्ति सिद्धांत का बीज पड़ा। इस प्रकार कबीर मे एक ओर यौगिक सिद्धानो की पूरी जानकारी है तो दूसरी ओर भक्ति-साधना की बलदायिनी प्रेरणा। कबीरदास का जन्म कब हुआ था यह निश्चित रूप ने नही कहा जा सकता। सप्रदाय मे माना जाता है कि—

चौदह सौ पचपन साल गए, चद्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए॥

अर्थात् कबीरदास का जन्म स० १४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा को हुआ था। परतु गणना से ज्येष्ठ पूर्णिमा को इस वर्ष सोमवार नही पड़ना, १४५६ स० में पड़ता है। इसलिये विद्वानो का विचार है कि कबीरदास का जन्म स० १४५६ अर्थात् १३९९ ई० मे हुआ था। लोकप्रसिद्धियो मे बताया गया है कि अधेरे मे गगा तट पर सोए हुए कबीर के शरीर पर रामानद जी के खड़ाऊँ पड़ गए थे और वे 'राम' 'राम' कह उठे थे। रामानद से कबीर के दीक्षा लेने की यही कहानी है। कबीर के मुसलमान शिष्य बताते है कि उन्होने प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख तकी से दीक्षा ली थी। कबीर के पदो मे शेख तकी का नाम आया है किंतु उसमे उस प्रकार की श्रद्धा का भाव नही मिलता जो किसी गुरु के लिये अपेक्षित है, जैसे—'घट-घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख'। इस पद्य मे कबीर शेख तकी को गुरु भाव से स्मरण करते नही जान पड़ते किंतु इसके विरुद्ध कबीर ने जहाँ कही भी रामानद का नाम लिया है वहाँ उनका नाम बड़े गौरव और श्रद्धा के साथ लिया है। जैसे—

सतगुरु के परताप ते मिटि गयो सब दुख द्वंद।
कह कबीर दुविधा मिटी, गुरु मिलिया रामानद॥

—

इससे सिद्ध होता है कि कबीर वस्तुत. रामानद के शिष्य थे और उन्ही से उन्हे राम नाम का अपूर्व मत्र मिला था।

१५वी शताब्दी में कबीर सबसे शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक व्यक्ति थे। सयोग से वे ऐसे युग-सधि के समय उत्पन्न हुए थे जिसे हम विविध धर्म साधनाओ और मनोभावनाओ का चौराहा कह सकते है। उन्हे सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के सस्कार पडने के रास्ते हे वे प्राय सभी उनके लिये बद थे। वे मुसलमान होकर भी असल मे मुसलमान नही थे। वे हिंदू होकर भी हिंदू नही थे। वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नही थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नही थे। वे योगी होकर भी योगी नही थे। वे कुछ भगवान् की ओर से ही सब से न्यारे बनाकर भेजे गए थे। वे भगवान् के नृसिहावतार की मानो प्रतिमूर्ति थे,। नृसिह की भाँति नाना असभव समझी जाने वाली परिस्थितियो के मिलन-विंदु पर अवतीर्ण हुए थे। हिरण्यकश्यपु ने वर माँग लिया था कि उसको मार सकने वाला न मनुष्य हो न पशु, मारे जाने का समय न दिन हो न रात, मारे जाने का स्थान न पृथ्वी हो न आकाश, मार सकने वाला हथियार न धातु का हो न पाषाण का, इत्यादि। इसीलिये उसे मार सकना एक असभव और आश्चर्यजनक व्यापार था। नृसिह ने इसीलिये नाना कोटियो के मिलन-विंदु को चुना था। असभव व्यापार के लिये शायद ऐसी ही परस्पर विरोधी कोटियो का मिलन-विंदु भगवान् को अभीष्ट होता है। कबीरदास ऐसे ही मिलन-विंदु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिंदुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा; जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना; उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खडे

कबीर की विशेषता

थे। वे दोनो ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा मे गए मार्गों के दोष-गुण उन्हे स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होने इसका खूब उपयोग किया।

कबीर के ग्रथ

वैसे तो कबीर के नाम पर चलने वाली पुस्तको की सख्या कई दर्जनो तक पहुँचती है परन्तु इनमे अधिकाश वस्तुत: कबीर की लिखित नही हैं[1]। कबीरदास साक्षर नही थे इसे तो सभी स्वीकार करते हैं। उन्होने जो कुछ पद लिखे थे वे दूसरो के सग्रह

---

१ कबीरदास के लिखे कहे जाने वाले मुद्रित ग्रथ—

(१) कबीरदास का बीजक, विश्वनाथसिंह जू की टीका, बनारस, १८६८, (२) वही, नवलकिशोर प्रेस १९१५, (३) वही, वेंकटेश्वर प्रेस, बबई १९०४, (४) वही, पादरी अहमदशाह स० कानपुर १९११, (५) मूल बीजक, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ १८७३, (६) वही, प्रेमचन्द स०, कलकत्ता १८९०, (७) वही, गगाप्रसाद आदर्स, लखनऊ १८९८, (८) वही, विचारदास, बनारस १९२८, (९) वही, रामखेलावन गोसाई, धनौती मठ १९३८ ई०, (१०) बीजक, पूरनदास कृत तृज्या टीका सहित, लखनऊ १८९२, (११) वही, वेंकटेश्वर प्रेस १९०५, (१२) वही, बालगोविंद मिस्त्री, इलाहाबाद १८०५, (१३) वही, जम्मू शहर १९०५, (१४) वही, पुरुषोत्तम मावजी, बबई १९११, (१५) राघवदास की टीका सहित, बनारस १९४०, (१६) वही, सस्कृत टीका सहित, बड़ौदा, १९५० (१७) कबीरदास की रमैनी, विश्वनाथसिह, बनारस १८६३, (१८) — की शब्दावली, वेल्वेडियर प्रेस, इलाहाबाद १९२२, (१९) अखरावली, वे० प्रे० इलाहाबाद १९१३, (२०) —का अनुरागसागर, रावलपिंडी १९०२, (२१) वही, लखनऊ १९०३; (२२) वही, पटना १९०७, (२३) वही, लक्ष्मी वेंकटेश्वर, कल्याण १८९५, (२४) वही, बनारस १९२९, (२५)—का आत्मबोध, हैदराबाद सिंध १९०२; (२६) —का काफिरबोध, बबोला १८९२, (२७) —की रमैनी, विश्वनाथसिंह, बनारस १८६६, (२८) —का बोधसागर (६ भाग) वेंकटे० १९०६, (२९) कबीरसागर, कल्याण १९२१, (३०) —की साखी, लखनऊ १८६९ (३१) साखी-सग्रह, इलाहाबाद १९१८: (३२) सत्य कबीर की साखी (युगलानन्द) बबई, (३३) सद्गुरु कबीर की साखी

किये है । यह वता सकना कठिन है कि कौन-सी रचना उनकी अपनी है और कौन-सी परवर्तीकाल के भक्तो का प्रक्षेप । उनकी रचनाओ का कोई भी सग्रह ऐसा नही मिला है जिसके वारे में निस्सदिग्ध होकर कहा जा सके कि ये उनके समय की रचना है ।

तीन मूलो से प्राप्त रचनाओ के वारे में प्रामाणिकता का दावा किया गया है । एक तो ना० प्र० स० द्वारा प्रकाशित और श्री श्यामसुदरदास द्वारा सपादित कवीर ग्रथावली 'कबीर ग्रथावली' है जिसकी आधारभूत प्रति के सवंध म यह दावा किया गया है कि वह कबीरदास की मृत्यु से १५ वर्ष पहले लिखी जा चुकी थी, अत वह अत्यधिक प्रामाणिक है । मैने अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक मे सिद्ध किया है कि यह दावा गलत है । ना० प्र० स० द्वारा प्रकाशित पुस्तक मे उक्त प्रति के अतिम पृष्ठ का फोटो दिया गया है । उसमें जो सवत् दिया हुआ है वह वाद को लिखावट में है । एक वार 'इति श्री कबीर जी की वाणी सपूरन समाप्त.' इत्यादि लिखकर फिर से अपेक्षाकृत मोटी लिखावट मे 'संपूर्ण स० १५६१' इत्यादि लिखना क्या सदेहास्पद नही है ? पहली वार 'सपूरन' और दूसरी वार 'सपूर्ण' लिखना भी सकेतपूर्ण है । पुष्पिका की अतिम डेढ पक्तियाँ स्पष्ट ही दूसरे हाथ की लिखावट है । अत. यह पुस्तक १५६१ की नही हो सकती । वस्तुत. यह

(रानवदास) वडौदा, (३४) साखी, वनारस १९४०, (३५) मूल वीजक, हसराज शास्त्री, वारावकी १९५०, (३६) हंसमुक्तावली, वंवई १९०५, (३७) हसमुक्ता शव्दावली वंवई १९०५, (३८) ज्ञानसमाज, गुड़गाव १८६६; (३९) वही, मुरादावाद १९११, (४०) कवीर वाणी, वंवई १९१० (४१) कवीर वचनावली (अयोध्यासिंह उपाध्याय) वनारस (४२) कवीर ग्रथावली, ना० प्र० सभा १९२८, (४३) संत कवीर (डा० राजकुमार वर्मा) इलाहावाद १९४०, इत्यादि इत्यादि ।

परवर्तीकाल की लिखावट है। डा० श्यामसुंदरदास ने इस प्रति का नाम 'क' दिया है। एक और प्रति से भी सपादन मे सहायता ली गई है। बाबू साहब ने उसका नाम 'ख' दिया है। यदि १८८१ अर्थात् सन् १८२४ ई० की लिखी है।

दोनो प्रतियो मे पाठ-भेद बहुत कम है। 'क' प्रति की अपेक्षा 'ख' मे १३१ दोहे और पाँच पद अधिक है। ऐसा जान पड़ता है कि दोनो प्रतियो के लेखनकाल में बहुत अधिक अतर नही होगा। इसका एक प्रमाण तो यह है कि दोनो पुस्तको में रमैनी शब्द का व्यवहार है जो बहुत बाद मे सत साहित्य में प्रचलित हुआ है। 'ख' प्रति मे तो एक ऐसी रमैनी है जिसे बीजक मे भी रमैनी नही कहा गया। बीजक के प्रसग में हम इस बात पर विचार करेगे। यहाँ प्रकृत यह है कि 'कबीर ग्रथावली' की 'क' प्रति 'ख' प्रति से बहुत अधिक पुरानी नही है। सभवत. यह भी १८वी शती के अत्य भाग मे सकलित हुई है।

यह प्रसिद्ध है कि स० १६६१ अर्थात् सन् १६०५ मे सिखो के गुरुग्रथसाहब का सकलन किया गया था। इसमे कबीर की बहुतसी वाणियो का सकलन किया गया है।

आदिग्रथ के पद आदि ग्रंथ से इन वाणियो को उद्धृत करके डा० रामकुमार वर्मा ने इन्हे अलग से मुद्रित कराया है। इस सग्रह मे ऐसे पद जरूर है जो सन् १६०५ तक कबीर-लिखित माने जाते थे। सभवत कबीर के पदो का सबसे पुराना सग्रह यही है। ग्रंथसाहब मे ही कभी-कभी दूसरे सतो के नाम से भी वही पद मिल गए ह जो कबीर के नाम से सगृहीत है। इससे यह सदेह होता है कि आदि-ग्रथ में सकलित पदो की प्रामाणिकता भी उतनी विश्वसनीय नही है। फिर भी प्राचीनता की दृष्टि से इसका सम्मान है।

तीसरा सग्रह कवीरपथी सप्रदाय मे समादृत बीजक है। यह सप्रदाय मे सवसे अधिक मान्य ग्रथ है। यह प्रसिद्धि है कि कबीरदास ने स्वयं इस ग्रथ को अपने दो शिष्यो जगजीवनदास और भगवानदास को दिया था। भगवानदास द्वारा स्थापित गद्दी इस समय छपरा जिले के धनौती मठ मे है। कहा जाता है कि वर्त्तमान बीजक १८वी शताब्दी मे धनौती मठ से प्रकाशित हुआ है। पिछले ५० वर्षों से इसकी वहुत चर्चा हुई है और कवीर सप्रदाय के सिद्धातो के समझने के लिये इसी ग्रंथ को प्रमाण माना जाता रहा है। इस पर कई महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गई है जिनमे दो वहुत अधिक प्रसिद्ध है। एक तो पूरनदास की लिखी हुई 'तिज्या' टीका जो पहले-पहल १८९२ मे प्रकाशित हुई थी और वाद मे वम्वई के वेकटेश्वर प्रेस तथा अन्य कई स्थानो से प्रकाशित हुई और दूसरी रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिह जू देव की टीका जो प्रथम वार बनारस से छपी थी और वाद में कई जगहो से प्रकाशित होती रही। बीजक की टीकाओ में यह सवसे अधिक पाडित्यपूर्ण है परतु इसमे साकेतवासी राम का प्रतिपादन है अतएव सप्रदाय में इसका आदर नही है।

बीजक

बीजक का महत्त्वपूर्ण अश रमैनियाँ है। इनमे साधारणत. सात-सात चौपाइयो के वाद एक-एक दोहा सकलित किया गया है जिसे कवीरपथी सप्रदाय में 'साखी' कहते हं। इसमे से कुछ रमैनियाँ आदि ग्रथ मे भी मिल जाती हे पर उन्हें किसी राग के नाम से ही लिखा गया है। इससे जान पडता है कि आदिग्रथ के संकलित होने तक रमैनी शब्द का प्रयोग नही होता था। ना० प्र० स० की खोज रिपोर्ट के अनुसार कवीर कृत सबसे पुरानी बताई जाने वाली हस्तलिखित प्रतियाँ चार है—कवीर

रमैनी

जी के पद, कवीर जी की साखी, कबीर जी की रमैनी और कवीर जी की कृत। इनका लिपिकाल सं० १६४९ बताया गया है। खोज करने पर डा० रामकुमार वर्मा को यह दोनो ही बाते निराधार मालूम हुईं। सभा को इन पुस्तको का संधान जोधपुर से प्राप्त हुआ था। डा० वर्मा ने जोधपुर से इन पुस्तको को मँगाया। उनमें 'कवीर जी की कृत' और 'कबीर जी की रमैनी' तो थीं ही नही, एक पुस्तक के सिवाय किसो मे लिपिकाल भी नही दिया था। अत. यह अनुमान करने मे कोई बाधा नही कि 'रमैनी' शब्द का प्रचलन बाद मे हुआ। आगे चलकर बीरपथी संप्रदाय मे दोहे-चौपाइयो मे लिखी बातो को रमैनी कहना रूढ हो गया। इस प्रकार बीजक मे जिसे 'ग्यान चौतीसा' कहा गया है और आदिग्रंथ मे जिसे 'बावन आखरी कहा गया है उसे भी स० १८८१ में लिखी हुई कबीर ग्रथावली की 'ख' प्रति मे रमैनी कहा गया है। मेरा अनुमान है कि दोहा-चौपाइयो में लिखी गई तुलसीदास के रामायण के प्रभाव ने कबीरपथियो को भी अपनी रामायण बनाने को प्रोत्साहित किया और सन् ई० की १८वी शताब्दी में किसी समय दोहा-चौपाई में लिखित पदो को रमैनी कहा जाने लगा। बाद मे चलकर तो कबीरपथी साधुओ ने जो कुछ भी लिखा उसे कबीर कृत रमैनी मान लिया गया। 'अक्षरखंड की रमैनी' रामरहेस साहब की लिखी हुई है पर वह भी कबीर के नाम पर चल पड़ी है। इसी प्रकार 'वलख की रमैनी', 'पैंज की रमैनी' आदि ऐसी ही रमैनियाँ है। इन वातों पर विचार करने से मालूम होता है कि बीजक का वर्त्तमान रूप १८वी शताब्दी मे कभी प्राप्त हुआ होगा। लगभग इसी समय संप्रदाय का भी नये सिरे से संघटन हुआ और बीजक ने इस नव संघटित धर्म सप्रदाय के धर्मग्रंथ का काम किया। इसी के बाद इस पर टीकाओं की भी आवश्यकता अनुभूत हुई होगी।

कबीर की रचनाओ में साखी और शब्द अर्थात् 'दोहे और पद' पर्याप्त पुराने है । गोस्वामी तुलसीदास जी को इस प्रकार की रचनाएँ देखने को मिली थी । वे 'साखी सबदी दोहरा' लिखनेवालो से बहुत प्रसन्न नही थे । 'साखी' शब्द का अर्थ है साक्षी अर्थात ये वाक्य मानो गुरु के उपदेशो का प्रत्यक्ष रूप है । बौद्ध सिद्ध कण्हपा ने 'साखि करब जालधर पाएँ' वाले पद मे गुरु को साक्षी बनाने की बात कही है । जान पडता है कि आगे चलकर गुरु के उपदेशो को ही गुरु की 'साखी' समझा जाने लगा । शुरू-शुरू मे गुरु के सभी उपदेशो को—चाहे वे जिस किसी छद में लिखे गए हो, 'साखी' कहा जाता होगा । गोस्वामी जी ने दोहरा को साखी से अलग गिनाया है, जिससे दो बाते सूचित होती है—एक तो यह कि सभी दोहो को 'साखी' नही कहा जाता था और दूसरे यह कि साखी दोनो से भिन्न छद मे भी लिखी जाती थी ।

साखी

ग्रथसाहब मे कबीर की साखियो को सलोकु या श्लोक कहा गया है । बीजक मे सगृहीत साखियो का कोई विभाग नही है परतु कबीर ग्रथावली मे इन साखियो को अगो मे विभाजित किया गया है, 'जैसे गुरु को अग', 'निहकरमी पतिव्रता को अग' इत्यादि । इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि बाद मे चल कर साखियो को गुरु का अग ही मान लिया गया है । कहा जाता है कि दादूदयाल की साखियो को प्रथम बार उनके शिष्य रज्जब जी ने अगो मे विभाजित किया था और तभी से साखियो को अगो में विभाजित करने की प्रथा चल पडी । यदि यह सत्य है कि रज्जब जी के अग-विभाजन के बाद ही साखियो को अगो मे विभाजित किया जाने लगा तो कबीर ग्रथावली का सकलन काल भी निश्चय ही रज्जब जी के बाद ही होगा । कबीर की साखियों का विश्लेषण करने से पता चलेगा कि अगो की संख्या उत्तरोत्तर बढती गई ।

शब्द

'शब्द' वस्तुतः गेय पद हैं। इनकी परंपरा बहुत पुरानी है। बौद्ध और नाथ सिद्धो ने ध्रुवक देकर विभिन्न रागो में पद लिखे थे। कबीरदास के पद उसी परपरा के हैं। बीजक मे जो पद सगृहीत हैं उनमे खडन-मडन की और ज्ञान की कथनी की प्रवृत्ति अधिक है और ग्रथसाहब तथा कबीर ग्रथावली में सगृहीत पदो मे भक्ति और आत्म-समर्पण के भावो की प्रधानता है। ऐसा जान पडता है कि बीजक को सप्रदाय का धर्म ग्रथ बनाने का प्रयत्न अधिक हुआ है और इसीलिये उसके स्वर को ज्ञान-प्रधान और आक्रामक बनाने का प्रयत्न किया गया है। निस्सदेह कबीरदास मे रूढियो, साप्रदायिक भावनाओ, और निरर्थक बाह्याचारो पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति थी पर यह उनकी नकारात्मक दृष्टि थी। उनकी वास्तविक देन तो उनकी भक्ति-भावना ही थी।

कबीर का व्यक्तित्व बीजक में कम है

कबीर मे एक प्रकार की घरफूक मस्ती और फक्कड़ाना लापरवाही के भाव मिलते है। उनमे अपने आपके ऊपर अखड विश्वास था। उन्होने कभी भी अपने ज्ञान को, अपने गुरु को, अपनी साधना को संदेह की दृष्टि से नही देखा। वे जब पडित या शेख पर आक्रमण करने को उद्यत् होते है तो उन्हे इस प्रकार पुकारते है मानो वे नितात नगण्य जीव हो, केवल बाह्याचारो के गट्ठर, केवल कुसंस्कारो के गुड्डे, साधारण हिंदू गृहस्थ पर आक्रमण करते समय लापरवाह रहते है और इस लापरवाही के कारण ही उनके आक्रमण-मूलक पदो में एक सहज-सरल भाव और एक जीवंत काव्य मूर्तिमान हो उठा है। यही लापरवाही कबीर के व्यंगो की जान है। उनके पूर्ववर्त्ती सिद्धो और योगियो ने भी आक्रमणकारी उक्तियाँ कही है पर उनमें उनके मन की हीनता-ग्रथि स्पष्ट हो जाती है।

मानो वे लोमड़ी के खट्टे अगूरो की प्रतिध्वनि हों। उनमें तर्क तो है पर लापरवाही नही है, आक्रोश तो है पर मस्ती नही है, क्योकि वे बराबर पर पक्ष की संभावना से चिंतित रहते थे। कबीरदास के आक्रमणो मे जहाँ लापरवाही का कवच है वहाँ आत्मविश्वास का कृपाण भी है। कबीर ग्रथावली के पदो और साखियो मे यह घरफूक मस्ती और फक्कड़ाना लापरवाही मिल जाती है परतु बीजक के पदो में वह बहुत कम हो गई है। इसी लिये भाव की दृष्टि से कबीर ग्रथावली के पदो मे कबीरदास का मूल रूप अधिक सुरक्षित है। दोनो ही सग्रहो में पाई जाने वाली आक्रमण-मूलक उक्तियो की तुलना करने से ही यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

कबीरदास मुख्यरूप से भक्त थे। वे उन निरर्थक आचारो को व्यर्थ समझते थे, जो असली बात को ढँक देते है और झूठी बातो को प्राधान्य दे देते है। उनके प्रेम के आदर्श सती और शूर है। जो प्रेम या भक्ति पद-पद पर भक्त को भाव विह्वल कर देती है, मन और बुद्धि का मथन करके मनुष्य को परवश बना देती है और जो उन्मत्त भावावेश के द्वारा भक्त को हतचेतन बना देती है वह कबीर को अभीष्ट नही। प्रेम के क्षेत्र मे वह गलदश्रु भावुकता को कभी बर्दास्त नही करते। बडी चीज का मूल्य भी बड़ा होता है। भगवान् जैसे प्रेमी को पाने के लिए भी मनुष्य को बडे-से-बडा मूल्य चुकाना पडता है। और अपने आपा को दे देने से बढकर मनुष्य और कौन सा मूल्य चुका सकता है ?

'यह तो घरु है प्रेम का खाला का घरु नाहिं।
सीस उतारे भुइँ धरे सो पइठे इहि माँहि ॥'

इसी अनाविल आत्म-समर्पण ने कबीर की रचनाओ को श्रेष्ठ काव्य बना दिया है। ससार में जहाँ कही भी यह रचना गई है वही इसने लोगो को प्रभावित किया है। सहज-सत्य को

सहज ढग से वर्णन करने मे कबीरदास अपना प्रतिद्वद्वी नही जानते। वे मनुष्य-बुद्धि को व्याहत करने वाली सभी वस्तुओ को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे। पंडित, शेख, मुनि, पीर, औलिया, कुरान, पुरान, रोजा, नमाज, एकादशी, मंदिर और मस्जिद उन दिनो मनुष्य-चित्त को अभिभूत कर बैठे थे, परतु वे कबीरदास का मार्ग न रोक सके। इसीलिए कबीर अपने युग के सबसे बड़े क्रातदर्शी थे।

कबीर सप्रदाय का साहित्य

यह कह सकना कठिन है कि कबीर सप्रदाय का सघठन कब आरभ हुआ। कबीर पथ की इस समय दो मुख्य शाखाएँ हैं—कबीरचौरा (बनारस) वाली और छत्तीसगढ वाली। दोनों की गुरु-परपराएँ उपलब्ध हैं। दोनो का दावा है कि उनके सस्थापक कबीर के साक्षात् शिष्य थे। अब, जहाँ तक कबीरदास का सबध है वे सप्रदाय-स्थापन के विरोधी ही थे। उनके पुत्र कमाल से सप्रदाय-स्थापन के लिये प्रार्थना की गई थी पर उन्होने यह कह कर अस्वीकार कर दिया था कि एसा करने से हमे 'अध्यात्मिक गुरु-हत्या का पाप लगेगा'। कहते है, इसी अपराध के कारण शिष्यो मे यह उक्ति प्रचलित हुई कि 'बूडा वंश कबीर का कि उपजा पूत कमाल'।[1] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है कि कमाल के विरोध के होते हुए भी सुरतगोपाल और धर्मदास को आश्रय करके कबीर का सप्रदाय गठित होकर ही रहा।[2] फिर भी यह कहना सभव नही है कि काशी वाली शाखा के प्रवर्तक महात्मा सुरतगोपाल ने सचमुच ही सप्रदाय का सघठन किया था या नही। कुछ

---

१ दादू, उपक्रमणिका, पृ० १३-१४

२ वही, पृ० १५

शिष्य-मंडली का होना एक बात है और सप्रदाय का संघठन दूसरी बात। महात्मा सुरतगोपाल द्वारा प्रवर्तित कहा जाने वाला कबीरचौरा का संप्रदाय निश्चय ही धर्मदासी शाखा से अधिक प्राचीन है।

सुरतगोपाली शाखा

आजकल कबीरचौरा वाली शाखा के प्रधान गुरु महात्मा रामविलास साहेब हैं। ये इक्कीसवें गुरु हैं।[1] कहा जाता है कि कबीरचौरा मे गुरुओ की जो समाधियाँ हैं उनमें बहुत प्राचीन गुरुओ की समाधियाँ नही हैं। सबसे पुरानी समाधि उन्नीसवी शताब्दी के आरभ की है। उन दिनो काशी के राजा महाराजा बलवतसिह (मृत्यु १७७० ई०) और उनके पुत्र महाराजा चेतसिह सप्रदाय के भक्तो मे से थे। इसके कुछपहले के अवश्य ही सप्रदाय का पूर्ण सघठन हो गया रहा होगा। यह भी कहा जाता है कि नीरूटीला आठवें गुरु सुखदास ने अधिकृत किया था और वर्त्तमान चौरा तो बाद मे अधिकृत हुआ है। इतना निश्चित है कि पुराने गुरुओ का बहुत ब्यौरेवार इतिहास सुरक्षित नही है। और इस बात का सबूत है कि कबीर की मृत्यु के दीर्घकाल बाद तक सप्रदाय का कोई अच्छा-सा सुसघठित रूप नही था। परतु फिर भी सुरतगोपाल जी द्वारा स्थापित गद्दी का बहुत मान है। बीजक की टीकाओ के द्वारा और नये-नये ग्रंथो के निर्माण के द्वारा इस शाखा ने सप्रदाय को क्रमबद्ध

---

१. कबीरचौरा की गुरुपरपरा इस प्रकार है—(१) कबीर (२) सुरतगोपाल (३) ज्ञानदास (४) श्यामदास (५) लालदास (६) हरिदास (७) सीतलदास (८) सुखदास (९) हुलासदास (१०) माधोदास (११) कोकिलदास (१२) रामदास (१३) महादास (१४) हरिदास (१५) शरणदास (१६) पूरनदास (१७) निर्मलदास (१८) रंगीदास (१९) गुरुप्रसाद (२०) प्रेमदास (२१) रामविलास दास—गुरुमहात्म्य, बनारस, पृ० २-२

२ 'कबीर एण्ड हिज फालोअर्स' पृ० ९४

सुरतगोपाल की शाखा कबीर को विद्वानों का तत्त्वज्ञ और बुद्धिवादी दार्शनिक रूप देने के गौरव की अधिकारिणी है। इस शाखा के पूर्ववर्ती गुरुओं ने यदि कुछ साहित्य लिखा भी हो तो वह प्राप्य नहीं है इसलिये बहुत से विद्वानों ने अनुमान किया है कि संप्रदाय की स्थापना बाद में हुई है।

धर्मदासी शाखा

धर्मदासी शाखा के बारे में कुछ अधिक कहा जा सकता है। सौभाग्यवश इस शाखा की गुरु-परंपरा भी प्राप्य है। इस शाखा के अनुयायियों का विश्वास है कि कबीरदास ने स्वयं धर्मदास के वंशजों को बयालिस पीढ़ी तक गद्दी पाने की भविष्यवाणी की थी और यह भी कहा था कि प्रत्येक गुरु २५ वर्ष और २१ दिन तक गद्दी पर विराजेगा। इस शाखा के अनुयायी इस भविष्यवाणी पर विश्वास करते आए हैं, पर हाल के गुरुओं का इतिहास इस विश्वास में बाधक बना है। इस संप्रदाय की जो गुरु-परंपरा

प्राप्त है¹ उसमें ग्यारहवें गुरु प्रगटनाम का स्वर्गवास सन् १८६१ ई० में हुआ। इनके दो पुत्रों ने अपने को गद्दी का हकदार घोषित किया। 'धीरजनाम' को बम्बई के हाई कोर्ट ने ही गद्दी का वास्तविक हकदार घोषित किया परन्तु उग्र नाम अधिक योग्य और गुणी थे और शिष्यों की श्रद्धा आकृष्ट करने में धीरजनाम से अधिक सफल सिद्ध हुए। धीरजनाम १८६४ में गुरुगद्दी पर विराजे और १७ वर्ष तक बने रहे। सन् १९१४ में दयानाम साहेब गद्दी पर समासीन हुए। धीरजनाम के बराबर कवर्धा में अलग गद्दी पर बैठते रहे। पर इस शाखा के वास्तविक गुरु उग्रनाम ही बने रहे जिनकी गद्दी दामाखेड़ा में थी। सो, इस प्रकार १८६४ ई० के बाद का इतिहास बताता है कि प्रत्येक गुरु के २५ वर्ष २१ दिन तक गद्दी नशीन रहने का विश्वास बहुत विश्वसनीय नहीं है। फिर भी यदि धीरजनाम के पूर्ववर्ती ग्यारह गुरुओं का काल २५-२५ वर्ष मान लिया जाय तो २७५ वर्ष होते हैं और इस प्रकार महात्मा धर्मदास का गुरुपद ग्रहण करने का समय १८६४–२७५ = १६१९ ई० ठहरता है। यह बात काफी उलझन में डाल देती है क्योंकि प्रसिद्ध यह है कि धर्मदास जब उत्तर भारत में तीर्थयात्रा के लिये गये थे तो मथुरा में कबीरदास से उनकी मुलाकात हुई थी और बाद में गढ़ बघो (बाँधव गढ़, रीवां राज्य की उन दिनों की राजधानी) में भी कबीरदास से उनकी मुलाकात हुई थी। कबीरदास की मृत्यु-तिथि सन् १५१७ ई० से इधर नहीं ले आई जा सकती। इसका मतलब यह हुआ कि कबीरदास के साक्षात्कार के कम से कम सौ वर्ष बाद धर्मदास गुरुपद पर आसीन हुए। यह बात कुछ ठीक नहीं जँचती।

---

१. परंपरा इस प्रकार है—(१) धर्मदास (२) चूड़ामणिनाम (३) सुदर्शननाम (४) कुलपतिनाम (५) प्रमोधनाम (६) गुरु बालापीर (७) केवलनाम (८) सुरतसनेही-नाम (९) हक्कनाम (१०) पाकनाम (११) प्रगटनाम (१२) धीरजनाम (१३) उग्रनाम (१४) दयानाम।

के० साहब ने लिखा है कि केवल दो बाते हो सकती हैं। एक तो यह कि कुछ गुरुओ के नाम छूट गए हैं या फिर यह कि धर्मदास वस्तुतः कबीर के समकालीन नही थे। सप्रदाय प्रतिष्ठा के बाद उनको कबीर का साक्षात् शिष्य कहा गया होगा। उनकी दूसरी बात ही अधिक सभव जान पड़ती है।[1] परन्तु इन दोनो ही अनुमानो से एक ही नतीजे पर पहुँचा जा सकता है। वह यह कि पथ का दृढ संघठन सत्रहवी शताब्दी के पहले नही हुआ था। यदि सचमुच ही धर्मदास परवर्ती थे और कबीर के साक्षात् शिष्य नही थे (जैसा कि संभव नही जान पड़ता) तब तो सप्रदाय स्थापन परवर्ती सिद्ध हो ही जाता है, पर यदि प्रथम अनुमान ठीक हो, अर्थात् कुछ गुरुओ के नाम भुला दिए गए हो, तो भी सिद्ध होता है कि सप्रदाय का संघठन शुरू-शुरू म या तो एकदम हुआ ही नही था या था भी तो बहुत शिथिल। नही तो गुरुओ के नाम भुलाए नही जाते।

इस प्रसग मे लक्ष्य करन की बात यह है कि कुछ प्रमाण इस प्रकार के भी उपलब्ध हैं जिनसे पता लगता है कि मगहर में कबीरदास का जब तिरोधान हो गया उसके बाद वे पुनर्वार मथुरा मे प्रगट हुए। भारत-पथिक कबीरपंथी स्वामी युगलानंद जी ने "श्री भक्तमालातर्गत" कबीर कथा सशोधित करके छपाई है। इस कथा मे स्पष्ट लिखा है कि मगहर मे तिरोधान होने के बाद कबीर साहब मथुरा में प्रगट हुए[2] और बाद मे बाधवगढ आ गए। कबीरपंथी लोगो के विश्वास के अनुसार इसमे कोई विरोध नही है। वस्तुतः कबीर साहब उनके मत से

---

१. 'कबीर एण्ड हिज फालोअर्स,' पृ० ६६

२. मगहर गये एक समय कबीरा। लीला की ही तजन सरीरा।
अतिशय पुष्प तुरत मँगाई। ता में निज तन दियो दुराई।
सब के देखत तज्यो शरीरा। हिंदू यमन हु कै भई मीरा।
हिंदु यमन शिष्य रहे दोऊ। आपस में भाषै सब कोऊ।

मनुष्य रूप में अवतरित नही हुए थे वल्कि मानुष रूप में प्रतिभात होते थे। किसी बादशाह ने जब उन पर तलवार चलाई थी तो तलवार उनके शरीर से इस प्रकार निकल गई थी जैसे हवा के भीतर से निकल गई हो। इसलिये कबीर का पुनर्वार प्रगट होना कबीरपंथी विश्वास के अनुसार असंभव नही है। ऐसा जान पडता है कि कबीर की मृत्यु के बहुत बाद धर्मदास मथुरा गए थे और उन्हें भावरूप में कबीर का साक्षात्कार हुआ था। जो हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि कबीर साहब के तिरोधान के बहुत बाद सप्रदाय का सगठन हुआ था।

भगताही पथ

धनौती मठ के भगताही पथ ने साहित्य को क्या दिया है, यह अभी स्पष्ट नही हो सका है। कहते है कि बीजक प्रथम बार यही से प्रचारित हुआ था। इस पंथ के सस्थापक महात्मा भगवानदास थे। हाल ही प० रामखेलावन गोस्वामी ने मूल बीजक का वह पाठ प्रकाशित कराया है जो भगवान् गोस्वामी साहेब का पाठ बताया गया है। इस पुस्तक मे इस पथ के इक्कीस गुरुओ का नामोल्लेख है। परपरा इस प्रकार है—कबीर साहेब–भगवान् गोसाई–घनश्याम गोसाईं–उद्धोरण गोसाईं–

यमन कहे माटी में दै है। हिंदू कहैं अनल में लै हैं।
तब दोउ जाय पुष्प हटायो। नाहिं कबीर शरीर निहायो।
आधे आधे लै दोऊ सुमना। दाह्यो हिंदू गाड्यो जमना।
भये कबीर प्रगट मथुरा में। विचरन लगे सकल वसुधा में।
यह विध गई अनेकन गाथा। सति कबीर है वपु जगनाथा।
यह लीला करि सकल कबीरा। आयो बाधव पुनि मतिधीरा।
अब लौं गुहा कबीर की, बाधव दुर्ग मझार।
जगन्नाथ को पथ सो, पावत नहि कोउ पार।

कबीर कथा, पृ० ३६

दवन गोसाई—गुणाकर गोसाई—गणेश गोसाईं—कोकिल गोसाई—त्रनवारी गोसाई—नयन गोसाई—भीषम गोसाई—भूपाल गोसाई—परमेश्वर गोसाईं—गुणपाल गोसाईं—शेषमन गोसाईं—जयमन गोमाई—हरिनाम गोसाई—स्वरूप गोसाईं—रामरूप गोसाई—रघुनन्दन गोसाई—रामधारी गोसाई। मूलबीजक के अतिरिक्त इस सप्रदाय ने और क्या साहित्य दिया है, यह पता नही।

ऐसा जान पडता है कि सत्रहवी शताब्दी तक कबीरदास के श्रद्धालु भक्त और शिष्यो ने दृढ भाव से सप्रदाय सघठित करने की आवश्यकता नही समझी। इसका अर्थ यह नही है कि उनकी शिष्य-परपरा नही चल रही थी। वस्तुतः स्थिति यह जान पड़ती है कि कबीरदास के तिरोधान के बाद उनका निर्गुण मत बिना किसी बडी बाधा के समाज के एक समुदाय को स्वीकार हो गया।

संभवत इनमे निचले स्तर के वे लोग थे जो किसी समय बौद्ध प्रभाव मे थे या नाथ योगियो के प्रभाव मे आ गए थे।

नवीन शास्त्रीय साहित्य की आवश्यकता

धीरे-धीरे समाज के उपरले स्तर के लोगो पर भी कबीरदास का प्रभाव फैलने लगा था। सत्रहवी शताब्दी के अत मे कई राजवश इस प्रभाव के अतर्गत आ गए थे। उसी समय किसी अज्ञात कारण से सप्रदाय को दृढ भाव से संघठित करने की आवश्यकता अनुभूत हुई। ऐसा जान पड़ता है कि समाज के उपरले स्तर के व्यक्ति केवल अटपटी बानियो से सतोष नही पा रहे थे और भाषा मे उन्हे अधिक शास्त्रीय और आकर्षक साहित्य प्राप्त होने लगा था। वह कौन-सा साहित्य था, यह अनुमान भर किया जा सकता है। मेरा अनुमान है कि यह तुलसीदास का साहित्य था। इस साहित्य ने निर्गुणवादियो को केवल चेला बनाने तक ही अपनी कार्यवाही सीमित न रखने को

बाध्य किया । संभवतः सत्रहवी शताब्दी मे ही कबीरदास की वाणियो के आक्रमणमूलक और युक्तिमूलक वाणियो का संकलन और सपादन किया गया । यही बीजक हैं। परंतु केवल बीजक का संकलन ही पर्याप्त नही था । संप्रदाय में दो प्रकार के शिष्य थ—एक अत्यत निचले स्तर के और दूसरे उपरले स्तर के । एक को सतुष्ट करने के लिये पौराणिक कथाएँ आवश्यक थी और दूसरे को सतुष्ट करने के लिये दार्शनिक व्याख्याएँ । अट्ठारहवी शताब्दी के बाद दोनों प्रकार के साहित्य लिखे गये । धर्मदासी शाखा के पाँचवें गुरु प्रमोध (प्रबोध) नाम सन् १८१६ ई० मे गुरुपद पर समासीन हुए । इन्हे सप्रदाय में 'गुरु बालापीर' कहकर अत्यधिक सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है । बहुत सी कबीरपथी पुस्तकें इनके समय में लिखी गई । सभवतः इन्होंने स्वय भी पुस्तके लिखी ।

रैदास

रामानंद के शिष्य कहे जाने वाले अन्य सतो में कुछ थोड़े से ही ऐसे है जिन्हे साहित्य के इतिहास में विवेचनीय समझा जा सकता है । भिन्न-भिन्न कालो मे जिन साधकों की रचनाएँ प्राप्त हुई है उनकी चर्चा यहाँ की जा रही है । इनमें प्रथम और प्रमुख तो चमार जाति के भूषण रैदास है जिनकी कोई पूरी पुस्तक अभी तक उपलब्ध नही है, लेकिन उनकी फुटकल वाणियाँ[1] प्राप्त हुई है । इन वाणियो से जान पडता है कि वे जाति के चमार थे, उनके कुटुंब के लोग बनारस के आसपास ही ढोर ढोने का काम करते थे और नानकदेव, कबीर, सधना और सेना नाई नाम के अन्य सत इनके पहले तर चुके

---

१. (१) 'रैदास जी की बाणी', बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद १९०९ ई० (२) 'रैदास-रामायण', स्वामी सुखानंद गिरि, आगरा १९७५ ई०

थे । एक परंपरा के अनुसार वे कबीर से उम्र में बड़े थे । परंतु आगे जो बातें बताई जा रही हैं उन्हें देखते हुए यह बात बहुत विश्वसनीय नहीं जान पड़ती । अपनी जाति का व्यवसाय करते हुए वे भगवद्‌भजन में लीन रहा करते थे । कहते हैं कि एक बार जब किसी ने कबीर से भगवत्-प्राप्ति का रास्ता पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि मैं तो छोटा बच्चा था, माँ की गोद में बैठकर गंतव्य स्थान पर पहुँच गया, रास्ता रैदास को मालूम है क्योंकि माँ ने उसके सिर पर एक गठरी भी रख दी थी । कबीर की इस कथिक उक्ति का यह अर्थ लगाया जाता है कि वे रैदास से उम्र में छोटे थे । सिर पर गठरी ढोकर लाने का अर्थ यह है कि उन्होंने बड़ी कठिनाइयों में जीविका उपार्जन करते हुए भगवद्‌भजन का रास्ता अपनाया था ।

परंतु रैदास का संबंध मीराबाई से भी बताया जाता है । मीराबाई ने बडी भक्ति के साथ अपने भजनों में इनका नाम लिया है । इनका कोई पृथक् संप्रदाय नहीं है किंतु फर्रुखाबाद जिले के 'साधो' संप्रदाय वालों को इनकी परंपरा में माना जाता है । कहा जाता है कि रैदास के शिष्य उदयदास थे और उनके शिष्य वीरभानु थे जिन्होंने १५वी शताब्दी के मध्य में संप्रदाय की स्थापना की थी । इन सब बातों पर विचार करने से यह जान पड़ता है कि ये कबीर से कुछ बाद में उत्पन्न हुए होंगे । संभवत सन् ईस्वी की १५वी शताब्दी के मध्य भाग में यह वर्तमान थे । आदिग्रंथ में इनके १०० के करीब पद संगृहीत हैं । बेलवेडियर प्रेस से इनकी वाणियों का जो नया संग्रह निकला है उसमें कुछ नये पद भी हैं । दोनों पदों के संग्रहों में पाठ-भेद भी है । इन्हीं दोनों संग्रहों के आधार पर रैदास जी की वाणी पर विचार किया जा सकता है । उपलब्ध वाणियों में ऐसा कुछ नहीं है जिससे यह समझा जाए कि वे सगुण

मार्ग के विरोधी थे, परंतु स्वर उनका निर्गुणवादियो का ही है।

रैदास के भजनों मे अत्यत शात और निरीह भक्त-हृदय का परिचय मिलता है। साधारणत. निर्गुण सतो में कुछ-न-कुछ सुरति, निरति और इगला, पिंगला का विचार आ ही जाता है। रैदास के कुछ भजनो में भी वे स्पष्ट आए है परतु रैदास की वाणियाँ इन उलझनदार बातो से मुक्त ह यद्यपि उनमे अद्वैत वेदातियो के परिचित उपमानो तथा नाथो और निरजनो के सहज शून्य आदि शब्द भी आ जाते है, फिर भी उनमे किसी प्रकार की वक्रता या अटपटापन नही है और न ज्ञान के दिखावे का आडबर ही है। उदाहरणार्थ,

रैदास की विशेषता

माधो भरम कैसे न विलाइ,
तातें द्वैत दरमे आइ।
कनक कुडल सूत पट ज्यो रजु भुअग भ्रम जैसा।
जल तरग पाहन प्रतिमा ज्यों ब्रह्म गति ऐसा।
विमल एक रस उपजे न विनसै उदय अस्त दोउ नाही।
विगताविगत घटै नहि कबहूँ बसत बसै सब माही।
निश्चल निराकार अज अनुपम निर्भय गति गोविंदा।
अगम अगोचर अच्छर अतरक निरगुन अत अनता।
सदा अतीत ज्ञान घन वर्जित निर्विकार अविनासी।
कह रैदास सहज सुन्न सत जीवन्मुक्ति निधि कासी।

इन पदो में एक प्रकार की ऐसी आत्म-निवेदन और परमात्म-विरह की पीडा है जो केवल तत्वज्ञान की चर्चा से प्राप्त नही हो सकती। वह ऐसे हृदय की अनुभूति है जो ज्ञान की चर्चा से जटिल नही बना है बल्कि प्रेमानुभूति से अत्यत सहज हो गया है। उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि 'हे भगवान्, यह भी

रामानंद के सपर्क मे आए थे । इनकी कुछ फुटकर बानियाँ हिंदी और मराठी में प्राप्त होती है । इन्ही के समान पीपा जी नाम के भक्त भी रामानद के शिष्यो मे गिने जाते है । डाक्टर फर्कुहर के अनुसार इनका जन्म १४८२ है किंतु कनिंघम ने गागरौन राज की वशावली के अनुसार यह समय सन् १४१७–१४४२ ई० माना है । मेवाड के इतिहास से पता चलता है कि ये राणा कुभा के समकालीन थे (सन् १४१८–१४६८ ई०) । इनके भजनो मे कबीर का नाम बडे प्रेम से लिया गया है । इससे जान पडता है कि ये अवस्था में कबीर से छोटे थे । फिर, राजस्थान के टोंक इलाके के धुअनगाँव में उत्पन्न धना भगत नामक जाट जाति के सत भी रामानद के शिष्य बताए जाते है । मेकालिफ ने इनका जन्म सन् १४७२ ठहराया है । इनके भजनो में कबीर, सेन, रैदास और पीपा जी का नाम आता है जिससे पता चलता है कि ये उनसे परवर्ती होगे । गुरु ग्रथसाहब में इनके चार पद सगृहीत है । रामानद के शिष्य कहे जाने वाले शिष्यो में ये लोग निर्गुण-भावधारा के भक्त है । सगुण भावधारा के भक्तो की चर्चा अवसर आने पर की जाएगी ।

बावरी साहिबा द्वारा प्रवर्तित बावरी सप्रदाय के संत भी अपना सबध स्वामी रामानद से जोडते है । सप्रदाय के अनुश्रुतियो के अनुसार बावरी साहिबा मायानद की शिष्या थी और मायानद रामानद के प्रशिष्य और दयानद के शिष्य थे । इस प्रकार यह संप्रदाय भी अपना सबध सुप्रसिद्ध स्वामी रामानद के साथ जोड़ता है । दयानद और मायानद दोनो ही गाजीपुर जिले के पटना गाँव के निवासी बताए जाते है परन्तु इनकी कोई रचना प्राप्त नही हुई । बावरी साहिबा अकबर की समकालीना थी और

बावरी साहिबा और उनका सप्रदाय

अच्छी कविता लिख लेती थी। यह बावरी नाम संभवत: भगवतप्रेम मे मस्त रहने के कारण पड़ा था। एक सवैया में इस ओर आशय भी किया गया है--

बावरी रावरी का कहिए मन है के पतंग भरे नित भाँवरी।
भाँवरि जानहि संत सुजान जिन्हें हरि रूप दिये दरसावरी।
साँवरी सूरत मोहनी मूरत, देकर ग्यान अनत लखावरी।
खाँवरी सौह तिहारी प्रभू गति रावरी देखि भई मति बावरी।

स्पष्ट ही भाषा पर इनका बहुत अच्छा अधिकार था। दुर्भाग्य-वश इनके केवल दो ही पद प्राप्त हुए है। इनके शिष्य संत वीरू साहब भी अच्छे कवि थे। दुर्भाग्यवश इनकी भी बहुत कम रचनाएँ प्राप्त हुई है।

कमाल

इसी प्रकार कमाल भी कबीर साहब के पुत्र बताए जाते है और यह प्रसिद्ध है कि जब उनसे कबीर संप्रदाय की स्थापना की बात कही गई थी तो वे राजी नही हुए और कबीर के दुनियादार चेलो ने खिन्न होकर कहा था कि--

'बूड़ा वंश कबीर का जो उपजे पूत कमाल'

इनके नाम पर चलने वाले कुछ पद सग्रह ग्रंथो मे मिल जाते है। परंतु इनकी प्रामाणिकता के विषय मे कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है। इन पदो मे वारकरी सप्रदाय के भक्तों के प्रति इनकी निष्ठा प्रतीत होती है। इनकी समाधि मगहर में कबीर जी की समाधि के पास ही है।

दादूदयाल

राजपूताने के प्रसिद्ध सत दादूदयाल (१५४४-१६०३ ई०) का सवध कमाल से जोड़ा जाता है। इनका जन्म-स्थान अहमदावाद वताया जाता है परतु अहमदावाद में इसका कोई स्मारक नही मिलता। कुछ लोग इन्हें व्राह्मण वंश में उत्पन्न वताते है और कुछ लोग धुनिया वश में। प० सुधाकर

द्विवेदी ने इनको मोची वश मे उत्पन्न वताया था। धुनियावाली प्रसिद्धि अधिक प्रामाणिक जान पडती है। बगाल के बाउल सतों मे प्रसिद्ध दादू-वदना के एक पद के आधार पर आचार्य क्षिति-मोहन सेन ने अनुमान किया है कि इनका नाम दाऊद था जो बाद मे चलकर दादू हो गया। इनके सप्रदाय मे यही विश्वास किया जाता है कि ये ब्राह्मण वश मे उत्पन्न हुए थे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ११ वर्ष की अवस्था मे किसी अज्ञात सत से इन्हे दीक्षा प्राप्त हुई और १८ वर्ष मे इनका फिर से साक्षात्कार हुआ। सप्रदाय में इस अज्ञात गुरु का नाम वुड्ढन या वृद्धानद वताया जाता है। तीस वर्ष की अवस्था मे इन्होंने साभर मे ब्रह्म सप्रदाय की स्थापना की। इनके दो पुत्र गरीवदास और मिसकीनदास थे जिनमें गरीवदास अच्छी कविता करते थे। सन् १५८४ ई० मे, कहते है कि, सम्राट् अकवर ने दादू को फतहपुर सीकरी मे बुला कर सत्सग किया था जो चालीस दिन तक चलता रहा।

दादूदयाल की वाणियो का सग्रह पहले तो इनके दो शिष्यो सतदास और जगन्नदास ने 'हरडे बानी' नाम देकर किया था, फिर रज्जब जी ने 'अग बधु' नाम देकर इसे नये सिरे से संपादन किया। दादू की वाणियाँ अपने सहज-मधुर गुणो के आकर्षण के कारण वरावर लोकप्रिय बनी रही। स्व० महामहोपाध्याय प० सुधाकर द्विवेदी, रायसाहब चद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, राय दलगजन सिह, आचार्य क्षितिमोहन सेन आदि विद्वानो ने समय-समय पर इन वाणियो का सपादन किया है। इधर हाल में स्वामी मंगलदास के सपादकत्व मे उन वाणियो का एक सुसपादित सस्करण प्रकाशित हुआ है। दूसरी रचना 'काया वेलि' है जिसमे साढे तीन सौ से अधिक पद है।[1]

---

१ दादूदयाल के मुद्रित ग्रथ—

(१) पदसग्रह, ब्रह्मविद्या प्रचार कार्यालय, लाहौर १००, (२) दादू दयाल की

दादू तुलसीदास के समकालीन थे। वे कबीरदास के मार्ग के अनुगामी थे। उनकी उक्तियो मे बहुत-कुछ कबीरदास की छाया है। फिर भी वे वही नही थे जो कबीरदास थे। संभवत समाज के निचले स्तर से उनका भी आविर्भाव हुआ था, जन्मगत अवहेलना को लेकर इनका भी विकास हुआ था, पर उस युग तक कबीर का प्रवर्तित निर्गुणमतवाद काफी लोकप्रिय हो गया था। नीच कही जाने वाली जातियो में उत्पन्न महापुरुषो ने अपनी प्रतिभा और भगवन्निष्ठा के बल पर समाज के विरोध का भाव कम कर दिया था। दादू ने शायद इसीलिए परपरा समागत उच्च-नीच विधान के लिये उत्तरदायी समझी जाने वाली जातियो पर उस तीव्रता के साथ आक्रमण नही किया जिसके साथ कबीर ने किया था। इसके सिवा उनके स्वभाव में भी कबीर के मस्तानेपन के बदले विनयमिश्रित मधुरता अधिक थी। सामाजिक कुरीतियो, धार्मिक रूढियो और साधना सबधी मिथ्याचारो पर आघात करते समय दादू कभी उग्र नही होते। अपनी बात कहते समय वे बहुत नम्र और प्रीत दिखते है। अपने जीवनकाल मे ही वे इतने प्रख्यात हुए थे कि सम्राट् अकबर ने उन्हे सीकरी मे बुलाकर चालीस दिन तक निरतर सत्सग किया था, फिर भी दादू के पदो मे अभिमान के भाव बिल्कुल नही है। उन्होने बराबर इस बात पर जोर दिया

दादू का व्यक्तित्व और साहित्य

बानी, का० ना० प्र० सभा १९०५, (३)—की बानी, चद्रिकाप्रसाद त्रिपाठी अजमेर १९०५, (४)—की बानी, बेलवेडियर, इलाहाबाद १९०८, (५)—के शब्द, सुधाकर द्विवेदी ना० प्र० सभा, बनारस १९०७, (६)—की साखियाँ, खानापुर १९१८, (७) कनखल, सहारनपुर १९०५, (८)—की बाणी, स्वामी मगलदास जी जयपुर १९५१; (९)—दगाक्षरों में बगला अनुवाद के साथ (क्षितिमोहन सेन) शातिनिकेतन १९३४।

है कि भक्त होने के लिये नम्र, शीलवान्, अफलाकाक्षी और वीर होना चाहिए। कायरता उनके निकट साधना की सब से बडी शत्रु है। वही साधक हो सकता है जो वीर हो, सिर उतार कर रख सके। कबीर (क—वीर) अपना सिर काट कर ('क' अक्षर छोडकर) हो वीर हो सके थे। जो साहस के साथ मिथ्याचार का विरोध नही कर सकता वह वीर भी नही, वह वीर साधक भी नही। दादू के इस कथन का बेढगा अर्थ करके बाद के उनके शिष्यो का एक दल (नागा) केवल लड़ाकू ही रह गया।

कबीर की भाँति दादू ने भी रूपको का कही-कही आश्रय लिया है, पर अधिक नही। अधिकाश मे उनकी उक्तियाँ सीधी और सहज ही समझ मे आ जाने लायक होती है। इनके पदो मे जहाँ निर्गुण, निराकार, निरजन को व्यक्तिगत भगवान् के रूप मे उपलब्ध किया गया है वहाँ वे कवित्व के उत्तम उदाहरण हो गए है। ऐसी अवस्था में प्रेम का इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है कि बरबस सूफी भावापन्न कवियो की याद आ जाती है। सूफियो की भाँति इन्होने भी प्रेम को ही भगवान् का रूप और जाति बताया है। विरह के पदो मे, सीमा का असीम से मिलने के लिये तड़पना सहृदय को मर्माहित किए बिना नही रह सकता।

भाषा इनकी यद्यपि पश्चिमी राजस्थानी से मिली हुई परिमार्जित हिंदी है तथापि उसमे गजब का जोर है। स्थान-स्थान पर प्रकृति का जो वर्णन उन्होने किया है वह देखने ही योग्य है। भाषा में किसी प्रकार का काव्यगुण आरोप नही किया गया, छदो का नियम प्राय भग होता रहता है फिर भी अपने स्वाभाविक वेग के कारण वह अत्यत प्रभावजनक हुई है।

कबीर की भाँति दादूदयाल भी जिन पाठको को उद्देश्य करके लिखते है वे साधारण कोटि के अशिक्षित आदमी है। उनके योग्य भाषा लिखने में दादू को स्वभावतः ही सफलता मिली है

क्योंकि वे स्वयं भी कोई पंडित नहीं थे, और जो कुछ कहते थे, अनुभव के बल पर कहते थे। इनके पदों में मुसलमानी साधना के शब्द भी अधिक प्रयुक्त हुए हैं। वे स्वयं जन्म से मुसलमान हों या न हों, मुस्लिम उपासना पद्धति के संसर्ग में आ चुके थे, फिर भी उनका मत अधिकतर हिंदू भावापन्न था। कबीर के समान मस्तमौला न होने के कारण वे प्रेम के वियोग और संयोग के वर्णनों में वैसी मस्ती तो नहीं ला सके हैं पर स्वभावतः सरल और निरीह होने के कारण ज्यादा सहज और पुरअसर बना सके हैं। कबीर का स्वभाव एक तरह के तेज से दृप्त था, और दादू का स्वभाव नम्रता से मुलायम। कबीर के लिये उनका स्वभाव बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ क्योंकि उन्हें अपने रास्ते के बहुत से झाड़-झंखाड़ साफ करने थे। दादू का मैदान बहुत कुछ साफ मिला था और उनमे उनके मीठे स्वभाव ने आश्चर्यजनक असर पैदा किया। यही कारण है कि दादू को कबीर की अपेक्षा अधिक शिष्य और सम्मानदाता मिले। पर जीवन म कही भी दादू कबीर के महत्त्व को न भूल सके और पद-पद पर कबीर का उदाहरण देकर साधना पद्धति का निर्देश करते रहे।

सुन्दर दास तथा अन्य शिष्य

दादू के शिष्यो मे सुन्दरदास सर्वाधिक शास्त्रीय ज्ञान सम्पन्न महात्मा थे। बहुत छोटी उमर मे उन्होंने दादू का शिष्यत्व ग्रहण किया था। बाद में काशी म आकर बहुत दीर्घकाल तक शास्त्राभ्यास किया था। इसका परिणाम यह हुआ था कि उनकी कविता के वाह्य उपकरण तो शास्त्रीय दृष्टि से कथचित् निर्दोष हो सके थे पर वक्तव्य विषय का स्वाभाविक वेग, जो इस जाति के सतो की सब से बड़ी विशेषता है, कम हो गया। विषय अधिकाश मे संस्कृत ग्रथो से सगृहीत तत्ववाद है जो हिंदी कविता में नई चीज होने पर भी शास्त्रीय ज्ञान रखने वाले सहृदयों के लिये विशेष आकर्षक नहीं है। छत्रबध आदि

प्रहेलिकाओ से भी उन्होने अपने काव्य को सजाने का प्रयास किया है। असल में सुन्दरदास सतो में अपने बाह्य उपकरणो के कारण विशेष स्थान के अधिकारी हो सके हैं। फिर भी इस विषय में तो कोई सदेह नही कि शास्त्रीय ढंग के वे एकमात्र निर्गुणिया कवि हैं।

सुन्दरदास का अनुभव विस्तृत था, देशदेशातर घूमा हुआ था। जब कभी वेदात का तत्वज्ञान छोड़कर ये अन्य विषयो पर लिखते थे तब निस्सदेह रचना उत्तम कोटि की होती थी। कुछ लोगो का अनुमान है कि सुन्दरदास एकमात्र ऐसे निर्गुणिया साधक थे, जिन्होने सुशिक्षित होने के कारण लोकधर्म की उपेक्षा नही की है। लेकिन यह भ्रम है। कबीर, दादू आदि संतो ने पतिव्रता के अगो मे पातिव्रत धर्म का खूब बखान किया है। साधना मे भक्त को भी इस व्रत का पालन करने का विधान किया है और वीरो का सम्मान तो दादू से अधिक अन्यत्र दुर्लभ ही है। दादू के १५२ मुख्य शिष्य बताये जाते है। उनके पुत्र गरीबदास (१५७९–१६३६ ई०) इन्ही के शिष्यो मे है। जनगोपाल जी ने दादू की जन्म लीला मे और राघवदास ने अपने भक्तमाल मे इन्हे दादू का पुत्र कहा है। परतु गरीबदास जी की वाणियो के सपादक स्वामी मगलदास का मत है कि ये दादूदयाल के पुत्र नही बल्कि पोष्य पुत्र थे क्योकि अपनी वाणियो में इन्होने दादू को गुरु ही कहा है, पिता या जनक नही। इनकी वाणियो में अनभय प्रबोध साखी, चौबोले और पद है। दादू के शिष्यों मे सर्वंग बावनी के लेखक भीखन जी भी अपनी रचनाओं के लिये विख्यात है। रज्जब जी ने अपनी सर्वंगी में और जगन्नाथ जी ने गुणगजनामा में एक वाजिद जी नामक दादू के शिष्य की चर्चा की है जिनकी थोडी-सी रचनाएँ प्राप्त है।

पर साहित्यिक दृष्टि से दादू के शिष्यो में सर्वाधिक उल्लेख्य तीन ही है—रज्जब जी, जगन्नाथ जी और सुन्दर-

दास । इनमे भी रज्जवदास निश्चय ही दादू के शिष्यों में सबसे अधिक कवित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। उनकी भाषा मे भी राजस्थानीपन और मुसलमानीपन अधिक है, तथाकथित शास्त्रीय काव्यगुण का उसमे अभाव है, फिर भी एक आश्चर्यजनक विचार-प्रौढ़ता, वेगवत्ता और स्वाभाविकता है। और लोग जिसको कई पद में कहते हे रज्जब उस तत्व को सहज ही छोटे दोहे मे कह जाते है। इनके वक्तव्य विषय भी वही है जो साधारणतः निर्गुण भावापन्न साधको के होते है, पर साफ और सहज अधिक।

दादू के साहित्यिक शिष्य

दादूदयाल के शिष्य-परंपरा मे और भी अनेक संत हुए जो कविता करते थे पर उनकी 'कविता' कविता का स्थान नहीं पा सकी। जगजीवन साहव इसी परंपरा मे हुए थे जिन्होंने सतनामी संप्रदाय चलाया। इनकी ६३ वानियाँ भी साधारण कोटि की है।

विस्नोई संप्रदाय के संस्थापक जंभनाथ (१४५१-१५३५ ई०) जोधपुर के नागौर इलाके के पयासर गाँव के रहने वाले थे। इनकी रचनाओ में योग, अजपाजाप आदि जंभनाथ वातो की प्रधानता है। मध्यप्रदेश के वड़वानीप्रदेश के खूजर गाँव मे संत सिंगा जी (१५१९-१५५९) का जन्म हुआ था। ये भामागढ के राजा के पत्रवाहक थे और एक रुपया वेतन पाते थे। एक वार मनांगीर जी के भजनों को सुनकर उनकी ओर आकृष्ट हुए। इनकी रचनाओं का एक छोटा-सा संग्रह खंडवा से प्रकाशित हुआ है।

जभनाथ

श्री हरिदास निरंजनी (१६वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध और १७वी का पूर्वार्द्ध) निरंजनी सप्रदाय के सस्थापक थे। ये कई

सम्प्रदायो मे दीक्षित होकर नाना प्रकार की साधनाओं का अनुभव कर चुके थे। पहले ये दादू के शिष्य प्रागदास (मृत्यु १६१३ ई०) के शिष्य थे, फिर कबीरपथ की ओर आकृष्ट हुए और अंत में नाथ सम्प्रदाय मे प्रविष्ट हुए। इसके बाद इन्होंने निरंजनी सम्प्रदाय की स्थापना की। इस सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध है कि ये डिडवाडा के क्षत्री थे, ४३ वर्ष तक गृहस्थ रहकर ना सम्प्रदाय मे दीक्षित हुए। सन् १६४३ ई० मे इनकी मृत्यु बताई जाती है। श्री हरिपुरुष जी ने इनकी रचनाओ का संपादन किया है। इनके शिष्य-प्रशिष्यो मे कई अच्छे साहित्यिक हो गए है। ये स्वयं भी अच्छी कविता लिख लिया करते थे। नकी रचनाओं का एक नमूना यह है—

हरिदास निरंजनी

सखी हो मास बसंत विराजै।
गोपी ग्वाल घेरि गोकुल मे वेणु मधुर ध्वनि बाजै।
भागे सुरत पाँच नग गुथ्या, मन मोती मधि आया।
विकसत कमल परमनिधि प्रगटत हरि कूँ हार चढाया।
गरव गुलाब चरण तल चुरिया, अगर अबीर खिड़ाया।
परमल प्रीत परसि परि पूरन पिव मे प्राण समाया।
अक नालि निहचल नव निरभय ए कौतूहल भारी।
जन हरिदास आनद निज नगरी, खेलै फाग मुरारी।

सिख गुरुओं का साहित्य

मध्ययुग के जिन महात्माओ ने भारतीय धर्म-साधना और समाज-व्यवस्था को गभीर भाव से प्रभावित किया है उनमे गुरु नानकदेव का स्थान प्रमुख है। इनका जन्म १५२६ सं० (सन् १४६९ ई०) को अक्षय तृतीया को पंजाब के राईभोई के तलवडी नामक ग्राम में हुआ था जो अब ननकाना साहेब कहलाता है और पश्चिमी पाकिस्तान मे पड़ गया है। इनका स्वर्गवास

गुरु नानक देव

सं० १५६५ अर्थात् सन् १५३८ ई० मे हुआ था। ये परवर्ती मध्यकाल के अत्यंत प्रभावशाली सिख सप्रदाय के मूलप्रवर्तक है। दो कारणो से यह संप्रदाय हिंदी साहित्य मे अत्यत महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करता है। प्रथम तो यह कि सिख परपरा में नानकदेव के वाद नौ और गुरु हुए है। इन दसो गुरुओ ने न केवल स्वयं भक्तिभाव के भजन लिखे हैं वल्कि संप्रदाय के अन्य भक्तो को भी इस प्रकार की साहित्य सेवा के लिये प्रोत्साहित किया है। इस प्रकार आत्मवल और चारित्र्य-शुद्धि की प्रेरणा देने वाले साहित्य की सर्जना करके इन गुरुओ ने हिंदी को अमूल्य निधि दी है। दूसरा कारण यह है कि जव दसवें गुरु गोविंदसिंह ने गुरु-परपरा समाप्त की तो उन्होंने उसके स्थान पर गुरु ग्रथसाहव को प्रतिष्ठित किया। इस महान् ग्रंथ का सपादन वड परिश्रम के साथ किया गया। इसमे दसो गुरुओ की वाणियाँ तो सगृहीत है ही, नानक के पूर्ववर्ती अन्य सनो की भी वाणियाँ परिश्रमपूर्वक सगृहीत हुई है। गुरु ग्रथसाहव मे जो वाणियाँ संगृहीत हुई है उनको वड़े यत्न से सुरक्षित रखा गया है। उसके एक अक्षर या मात्रा का भी इधर-उधर नही हुआ है। इस प्रकार इस संप्रदाय के गुरुओ ने अनेक प्राचीनतर सतो की वाणियाँ हमे दी है। इस प्रकार हिंदी साहित्य का विद्यार्थी आज निश्चित होकर कह सकता है कि आज से चारसौ वर्ष पहले नानक-पूर्व सतो की वाणियाँ किस रूप में प्रचलित थी। गुरुग्रंथसाहव केवल धर्मसाधको के लिये ही परमनिधि नही है, वह हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों के लिये भी अपूर्व रत्न-भंडार है। इस ग्रंथ में गुरु नानकदेव की वाणियाँ भी संगृहीत है।

आदिग्रंथ के अतर्गत महला नामक प्रकरण में नानकदेव की वाणियाँ है और शब्द अर्थात् गेय पद, तथा सलोक (श्लोक) अर्थात् दोहावद्ध साखियाँ मिलती है। इनके अतिरिक्त इसमे

गुरु नानकदेव की अन्य रचनाओं—'जपुजी', 'आसादीवार', 'रहिरास' और 'सोहिला'—का भी संग्रह है।

गुरु नानकदेव के भजनों में निरीह भक्ति-निर्भर संत का जीवन प्रतिफलित हुआ है। विचारों में इनका मत कबीर आदि निर्गुणिया संतों के मत से मिलता-जुलता है लेकिन न तो इन भजनों में कबीर का अक्खड़पन है और न खंडन-मंडन की प्रवृत्ति। नानक कबीर की भाँति समाज के निचले स्तर से नहीं आए थे, इसलिए उनकी उक्तियों में भुक्तभोगी की तीव्रता नहीं है। अत्यंत सहज उदार भाव ही उनकी उक्तियों का प्रधान आकर्षण है। जाति-पाँति, छुआछूत और बाह्याचारों के प्रति आक्रमण का भाव इनकी उक्तियों में भी है। किंतु यह आक्रमण प्रधान रूप से बौद्धिक है, कबीर के समान अनुभूतिजन्य नहीं है। विनय और मृदुता में इनकी तुलना भक्तवर रैदास के साथ की जा सकती है। परंतु यदि इनके भक्तों की त्याग भावना, दुःख बर्दाश्त करने की शक्ति और अपार धैर्य को देखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि जैसी अद्भुत प्रेरणादायिनी शक्ति इनकी वाणियों ने दी है वैसी मध्ययुग के किसी अन्य संत की वाणियों ने नहीं दी है। इतिहास साक्षी है कि सिख भक्तों को दीवार में चुन दिया गया है फाँसी पर लटका दिया गया है और जितनी प्रकार की अमानुषिक पीड़ाएँ दी जा सकती हैं सब दी गई हैं और फिर भी इन भक्तों ने निराशा या पराजय का भाव नहीं दिखाया। जिन वाणियों से मनुष्य के अंदर इतना बड़ा अपराजेय आत्मबल और कभी समाप्त न होने वाला साहस प्राप्त हो सकता है उनकी महिमा निस्संदेह अतुलनीय है। सच्चे हृदय से निकले हुए भक्त के अत्यंत सीधे उद्‌गार और सत्य के प्रति दृढ़ रहने के उपदेश कितने शक्तिशाली हो सकते हैं यह नानक की वाणियों ने स्पष्ट कर दिया है। इनकी भाषा में किसी प्रकार

इनकी विशेषता

का घुमाव या जटिलता नही है। बहुत ही सीधी-सादी भाषा और बहुत ही निर्मल प्रतिपादन शैली,—यही नानक की रचनाओं की विशपता है। उनकी निरीहता मे कोई हीनता-ग्रथि नही है, विरुद्ध पड़ने वाले विचारो के प्रति कोई हिंसा का भाव नही है, और जो लोग सत्य माग से विचलित हैं उनके लिये घृणा का भाव भी नही है। उनकी सभी वाणियो मे एक बात प्रमुख रूप से आई है—जो भी सुनना चाहे उसे वे सुना देना चाहते हैं कि ऐ मनुष्य, तुझे बडे पुण्य से मनुष्य का शरीर प्राप्त हुआ है, उसे व्यर्थ के मिथ्याचारो मे फँस कर यो ही न गँवा दे—

> रैण गँवाई सोइ कै, दिवसु गवाँइआ खाइ।
> हीरे जैसा जनमु है, कउड़ी बदले जाइ।

जीवन की सार्थकता वे भगवान् के नामस्मरण और निरतर ध्यान मे मानते थे। जिसे यह महान् तत्व प्राप्त हो गया है उसके लिये किसी भी अन्य तत्व की आवश्यकता नही है। और सारी बाते गौण हैं, मुख्य है भगवान् का भजन। इसी परम तत्त्व को पाने के कारण ससार की समस्त पीडाएँ और यातनाएँ विफल हो जाती हैं। नानक और उनके अनुयायियो ने इस परम सत्य को पा लिया था।

नानक के समकालीन और अनुवर्ती सतो मे कुछ का नाम साहित्यिक इतिहास मे भी बडे आदर के साथ लिया जाता है। इनमे शेख फरीद हैं जिनका दूसरा नाम शाह ब्रह्म या इब्राहीम शाह बताया जाता है। इनके १३० सलोक (दोहे) और चार पद सिखो के आदि ग्रंथ मे सगृहीत हैं। १३० दोहो मे से १८ तो विभिन्न गुरुओ के साथ फरीद के सवाद के रूप मे हैं और बाकी ११२ उनके रचित जान पडते हैं। इधर पजाबी साहित्य के आलोचको में यह विवाद छिडा हुआ है कि शेख फरीद कौन थे। कुछ लोग तो उन्हे १२वी-१३वी शताब्दी के शेख फरीदु-

शेख फरीद

द्दीन (मसूद गज-ए-शकर) मानते हैं और कुछ दूसरे लोग इन्हें शेख इब्राहीम से अभिन्न समझते हैं। शेख फरीद के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा सुरक्षित साहित्य में इन सलोको को न देखकर पंजाबी साहित्य के आलोचको ने इनकी प्रामाणिकता के विषय में सदेह उपस्थित किया है लेकिन सवादमूलक उक्ति-प्रत्युक्तियो के द्वारा स्पष्ट है कि गुरु ग्रथ साहब के सपादको ने इनको गुरु नानक और परवर्ती गुरुओ का समकालीन ही समझा था। पजाब के बाहर कभी इस प्रकार का वाद-विवाद नहीं सुना गया क्योंकि हिंदी साहित्य के आलोचक यह बराबर ही विश्वास करते रहे हैं कि गुरुग्रंथसाहब वाले शेख फरीद बाबा फरीद से भिन्न थे। इस विश्वास का कारण मेकालिफ साहब का वह बयान है जिसमे उन्होने 'खुलासातु तवारीख' के आधार पर इनका मृत्युकाल ९६० हिजरी अर्थात् १५४८ ई० दिया है। ये १२वी-१३वी शताब्दी वाले बाबा फरीद की परंपरा मे पडते हैं इसलिये फरीदसानी कहलाते थे। यही जब पाकपत्तन में रहते थे तो शेख इब्राहीम कहलाते थे। कहते हैं, दो बार गुरु नानक इनसे मिले थे। गुरु शेख के सलोको और भजनों मे शरीर की नश्वरता और भगवान् के भजन की उपादेयता के उपदेश हैं। कबीर आदि सतो में जो लौकिक शैली मे पारलौकिक प्रेम को व्यक्त करने का प्रचलन है वह फरीद के सलोको में भी मिलता है। बडी आसानी से ऐसे सलोको की तुलना ढोलामारू के दोहो में पाए जाने वाले शृंगारी दोहों से की जा सकती है। एक उदाहरण यह है—

काग करग ढढोलिया, सगला खाइया मॉसु।
ए दुई नयना मति छूअहु, पिव देखनु की आसु॥

वस्तुत. उस काल के लौकिक प्रेम-काव्यो को इन सतो ने कौशल-पूर्वक भगवद्-विषयक बना दिया है। कबीर के नाम पर मिलने वाले अनेक दोहे 'ढोला मारू' मे पाए जाते है। इनकी व्याख्या

यही है कि इस प्रकार के लौकिक प्रेम के दोहे पश्चिमी भारत में उन दिनो प्रचलित थे, सतों ने उनकी लोकप्रियता देखकर उन्हे इस प्रकार मोड़ने का प्रयत्न किया कि वे भगवद्-विषयक बन गए।

सिख गुरुओं में गुरु अगद (जन्म सन् १५०४ ई०) अच्छे कवि हुए है। यह पहले शक्ति के उपासक थे, बाद में किसी से आसादीवार की कुछ सुदर पक्तियाँ सुनकर गुरु नानक के प्रति अनुरक्त हो गए और उनके शिष्य हो गए। इन्होने ही गुरु नानक की रचनाओ को एकत्र कराया, गुरुमुखी अक्षरो का सस्कार किया और लंगर द्वारा अतिथि-सत्कार की प्रथा चलाई। आदिग्रंथ में इनके कुछ सलोक या दोहे सगृहीत है। इनकी रचनाओ मे सदाचार, भगवत्प्रेम और गुरुभक्ति का भाव है। इनकी मृत्यु स० १६०६ अर्थात् १५४८ ई० में हुई।

गुरु अगद

तीसरे गुरु अमरदास (१४७६–१५७४ ई०) भी पहले वैष्णव थे और बाद में गुरु अगद की कन्या से (जो उनके भतीजे से ब्याही हुई थी) गुरु नानक एक का पद सुन कर उनकी ओर आकृष्ट हुए और गुरु अंगद की सेवा में उपस्थित हुए। गुरु अंगद के समान ही यह भी बड़े विनीत और मधुर स्वभाव के थे। इनकी रचनाएँ भी गुरुग्रंथसाहब मे सगृहीत है जिनमे राम नाम की महिमा, गुरु का महत्त्व और अहकार की अनर्थकारिता प्रकट हुई है। चौथे गुरु रामदास (१५१४–१५८१) की रचनाएँ भी आदिग्रथ के चौथे महला में सगृहीत हैं। इनकी रचनाओ की सख्या अधिक जान पडती है। इनकी रचनाओ मे कान्ता भाव के भजन है जो कभी-कभी सूरदास आदि सख्य और मधुर भाव के उपासको की रचनाओं के साथ तुलनीय हो सकते है। इनमें तन्मयता और आत्म-समर्पण के भाव भरे पडे है; उदाहरणार्थ—

गुरु अमरदास

मेरे सुदरु कहहु मिले कितु गली,
हरि के सग बतावहु मारगु हम पीछे लागि चली।
प्रिय के वचन सुघाने ही अरे, इह चाल बनी है भली।
लटुरी मधुरी ठाकुर भाई उह, सुदरि हरि ढुलि मिली।
एको प्रिउ सपिआ सभु प्रिअ की जो भावै पिव सोभली।
नानक गरीबु किआ करै विचारा हरि भावै तिहु राह चली।

पाँचवे गुरु अर्जुनदेव (१५६३-१६०६ ई०) की रचनाएँ आदि ग्रथ के महला पाँच म सगृहीत है। लेकिन इनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य आदिग्रथ का सपादन और सकलन है। उसमे सगृहीत पदो को एकत्र करने के लिये उन्होने स्वय घूम-घूमकर पद संग्रह किए और प्रसिद्ध भक्तो को बुलाकर भी अच्छे सतो की वाणियाँ चुनवाई। आदिग्रथ को उन्होने गुरुअगद द्वारा प्रचारित गुरुमुखी मे भाई गुरुदास से लिखवाकर स० १६६१ अर्थात् सन् १६१४ ई० मे प्रस्तुत कराया। अन्य सभी गुरुओ की अपेक्षा इस ग्रथ मे गुरु अर्जुन की रचनाएँ अधिक है। वक्तव्य विषय वही परपरा-प्रचलित नाम-माहात्म्य, भगवद्भक्ति और सासारिक सुखो की नश्वरता है।

गुरु अर्जुनदेव

परवर्ती गुरुओ मे गुरु तेगबहादुर (१६२२-१६७५) साहित्यिक दृष्टि से उल्लेखनीय है। ये नवें गुरु है। इनकी रचनाएँ आदिग्रथ के महला नव के अन्दर सगृहीत है। विषय तो इनके भी वही है जो अन्य गुरुओ द्वारा नाना भाव से कहे गए है पर भाषा इनकी पजाबीपन से बहुत-कुछ मुक्त है और ब्रजभाषा के नजदीक आती है। गुरुमुखी मे लिखे जाने के कारण थोड़ी ब्रजभाषा से भिन्न दीखती अवश्य है पर उतनी है नही। अतिम गुरु सुप्रसिद्ध गुरु गोविंदसिंह (१६६४-१७१८ ई०) है जो अपनी वीरता

गुरु तेगबहादुर और गुरु गोविंदसिंह

और ईमानदारी के लिये विरोधियो में भी आदर के पात्र हो गए थे। ये स्वय सुकवि तो थे ही, अनेक अच्छे कवियो के आश्रयदाता भी थे। इनकी रचनाएँ सिखो के दसम ग्रंथ मे सगृहीत है। इन्होने दुर्गासप्तशती का एक अनुवाद 'चण्डीचरित्र' के नाम से किया था और 'विचित्र नाटक नाम की एक ऐसी रचना की थी जो सचमुच ही विचित्र है। इसमें उनके अनेक जन्मो की कथा है। इनकी रचनाओं मे चौपाई, दोहा, सवैया, कवित्त आदि अनेक छदो का प्रयोग है। इनकी भाषा भी अन्य गुरुओ की अपेक्षा अधिक परिमार्जित और प्रवाह-मयी है। एक उदाहरण नीचे दिया जाता है।

काह भयो दुहु लोचन मुदि कै बैठि रह्यो बक ध्यान लगायो।
न्हात फिर्यो लियो सात समुद्रन, लोक गयो परलोक गँवायो।
वासु कियो विखियान सो बैठिके ऐसेहि ऐस सु बैस बितायो।
साचु कहौ सुनि लेहु सबै जिन प्रेम कियौ तिन ही प्रभु पायो।

इस प्रकार सिख गुरुओ ने साहित्य की रचना, सरक्षण और प्रोत्साहन तीनो ही प्रकार से अद्भुत सेवा की है। धर्म-साधना और साहित्य दोनों ही क्षेत्रो के जिज्ञासु इनसे प्रचुर प्रेरणा पाते रहे हैं।

आनदघन

१७वी शताब्दी मे आनदघन नाम के एक जैन संत कवि हो गए है जिनकी कई पुस्तकें (जैन धर्म संबधी) प्राप्त हुई है। ऐसा जान पडता है कि अंतिम वयस मे ये निर्गुण मार्ग की ओर प्रवृत्त हुए थे। 'आनंदघन चौबीसी' और 'आनदघन बहोत्तरी' में यही निर्गुण भाव के भजन है। परतु इन दोनो मे हो और संतों की भी वाणियाँ मिल गई है।

मलूकदास नाम के एक संत (१५७४–१६८२) हुए है जिनकी गद्दियाँ, कड़ा, जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना,

नैपाल और काबुल तक मे स्थापित हुई थी। इनकी दो पुस्तके 'रत्नखान' और 'ग्यानबोध' पहले से प्राप्त है। प्रसिद्ध है कि इन्होने ६ पुस्तको की रचना की थी। लखनऊ विश्वविद्यालय के डा० त्रिलोकीनाथ दीक्षित ने इनकी कई अप्रकाशित रचनाओ का पता लगाया है। वेलवेडियर प्रेस ने इनकी फुटकल वाणियो का एक सग्रह भी प्रकाशित किया है। इनकी रचनाओ मे प्राय. वही सब बातें है जो अन्य सत कवियो ने लिखी है, यद्यपि इनके सप्रदाय का तत्ववाद अन्य सप्रदायो के तत्ववाद से कुछ भिन्न है। भाषा में प्रवाह है और अन्य संतो की भाषा के समान सधुक्कणी वृत्ति का आधिक्य नही है।

मलूकदास

सत्रहवी शताब्दी के मध्यभाग में अक्षर अनन्य नामक एक प्रतिभाशाली सत वर्तमान थे। ये पहले दतिया के राजा पृथ्वीचद के दीवान थे। इनका जन्म-स्थान दतिया राज्य के अतर्गत सेनुहरा गाँव बताया जाता है। विरक्त होकर ये साधु हो गए। योग और वेदात पर इनके कई ग्रथ प्राप्त होते है। राजयोग, विज्ञानयोग, ध्यानयोग, सिद्धातबोध, विवेकदीपिका, अनन्यप्रकाश आदि इनकी पुस्तकें है। इनमें वैराग्यमूलक धर्म का उपदेश है और ससार सागर से तरने के लिये योग और भजन का उपदेश है।

अक्षर अनन्य

निरजनी सप्रदाय के सत तुरसीदास (१७वी शताब्दी) की रचनाएँ राजपूताने मे बहुत प्राप्त होती है। इनकी रचनाओ मे निरजनी सप्रदाय की बाते कही गई है, गुरु, साधु और भगवान् की सेवा का उपदेश दिया गया है और मनुष्य जन्म को भजन के द्वारा चरितार्थ करने की सलाह दी गई है।

सत तुरसी

१७वी शताब्दी के अंत में यारी साहब नामक मुस्लिम संत हुए जिनकी 'रत्नावली' नामक रचना में अध्यात्म-योग और संत-साहित्य की अन्यान्य परिचित बातों का उपदेश है। उदाहरणार्थ---

बाजत अनहद बाँसुरि तिरवेनी के तीर।
राग छतीसो होइ रहे गरजत गगन गंभीर॥

इसी समय बिहार मे बाबा धरणीदास नामक संत हुए जिनकी 'प्रेम प्रगास' और 'रत्नावली' नाम की पुस्तके प्राप्त हुई है, फिर गाजीपुर जिले के बूला साहब हुए जिनकी कुछ फुटकल रचनाएँ और 'शब्दसागर' नामक ग्रंथ उपलब्ध हुआ है। १८वी शताब्दी के आरंभ मे संत गुल्लेशाह हुए जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि वे पहले बलख के बादशाह थे और फिर मियाँ मीर से मिलकर फकीर हुए। इनकी साधना-भूमि कसूर मे थी। इनकी रचनाओं मे सूफियाना भाव है और भाषा में फारसी का मिश्रण है। इसी समय गाजीपुर के बसहर तालुका के सत गुलाल साहब हुए और बाराबंकी जिले के सरधा गाँव में चंदेल वश मे उत्पन्न जगजीवनदास हुए जिन्होने सतनामी संप्रदाय चलाया। इनके शिष्यो मे सब से प्रसिद्ध दूलनदास हैं जिनकी थोड़ी-सी वाणियाँ प्राप्त हुई है। फिर गरीबदासी सप्रदाय के प्रवर्त्तक संत गरीबदास और बिहार वाले दरियादास और मेवात के सत चरणदास हुए जिनकी वाणियाँ संत-साहित्य के परिचित विषयो से ही भरी पड़ी है। इसी काल मे शिवनारायणी संप्रदाय के प्रवर्त्तक प्रसिद्ध संत शिवनारायण हुए।

धरणीदास

गुलाल साहब

दूलनदास

गरीबदास

चरणदास की शिष्या दयाबाई और सहजोबाई भी अपनी रचनाओं के लिये प्रसिद्ध हैं। ये दोनो ही १८वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वर्त्तमान थी। इन दोनो महिलाओ की रचनाओ मे गुरुभक्ति और भगवत्प्रेम का वर्णन है।

चरणदास

१८वी शताब्दी के सत-कवियो मे गतानुगतिकता की मात्रा बढती गई और सप्रदाय-स्थापना की स्पर्द्धा उत्तरोत्तर चढ़ाव पर ही रही। जो सत-काव्य जगत् के समस्त आडंबरो को ध्वस्त करके सहज भगवत्प्रेम का पथ प्रशस्त करने का व्रत लेकर चला था वह अत तक साम्प्रदायिक प्रतिद्वद्विता, निरर्थक-प्रहेलिका-क्रीड़ा और व्यर्थ के शब्दजाल का शिकार हो गया। १८वी शताब्दी के अत तक उसकी क्रातिकारी भावना समाप्त हो गई और वह भी अन्य निहित स्वार्थवाले मठो के समान, अपने ही बनाए हुए बंधनो मे क्रमश जकडता गया। जिन लोगो ने माया को ललकारने का साहस किया था उनके अनुयायी माया के घरौंधो में बद हो गए। आखिरी खेवे के सतो में भक्तिभावना और धर्मबुद्धि की मात्रा कितनी थी यह बता सकना कठिन है। पर सहज मार्ग पर पड़ी रहनेवाली गदगी को दूर करके सहज सत्य तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करने के लिये जिस श्रेणी के साहसिक मनोभाव की आवश्यकता होती है वह क्रमश. क्षीण होता गया और इसीलिये वे ऐसे साहित्य की सृष्टि न कर सके जो मनुष्य को नया आलोक देता है और कठिनाइयो और विपत्तियो से जूझने की प्रेरणा देता है। यह साहित्य केवल शाब्दिक मायाजाल प्रस्तुत करता है और मनुष्य की स्वतंत्र चितन-शक्ति को रुद्ध करता है। कम सतो की वाणियो मे बँधी-सँधी बोलियो के बाहर की बात मिलेगी; सब में एक ही वक्तव्य विषय, एक ही शब्दावली, एक ही शैली में बार-बार दुहराया

सतमत मे गतानुगतिकता

गया है । कबीर, दादू और नानक की रचनाओ में जो ताजगी है वह यहाँ आते-आते समाप्त हो जाती है और सामाजिक मगल-भावना की जो तड़पन आरभिक रचनाओ में मिलती है वह एकाएक गायब हो जाती है । १८वी शताब्दी के अत तक आकर संतो का क्रातिकारी साहित्य केवल निरर्थक रूढियो और भाराक्रात पदावलियो का भूलभुलैया भर रह जाता है ।

क्यो ऐसा हुआ ? अत्यत शक्तिशाली महात्माओ के उपदेश 'उत्साह के दबते ही' क्यों इस प्रकार निष्प्रभ हो गए ? यह प्रश्न केवल साहित्य के विद्यार्थी को ह्रास का कारण ही विचलित नही करता, इस देश के समाजशास्त्र के विद्यार्थी को भी उलझन मे डाल देता है । कबीरदास रूढियो के प्रति विद्रोह करने की अपार शक्ति लेकर पैदा हुए थे पर उन्ही के पथ के परवर्ती साहित्य का क्या हुआ । जिस धर्मवीर ने पीर, पैगबर, औलिया आदि के भजन-पूजन का निषेध किया था, उसी की पूजा चल पडी, जिस महापुरुष ने सस्कृत को कूपजल कहकर भाषा के बहते नीर को बहुमान दिया था उसी की स्तुति मे आगे चलकर सस्कृत भाषा में अनेक स्तोत्र लिखे गए और जिसने बाह्याचारो के जंजाल को भस्म कर डालने के लिये अग्नि-तुल्य वाणियाँ कही, उसकी उन्ही वाणियो से नाना बाह्याचारो की क्रियाएँ सम्पन्न की जाने लगी । इससे बढकर आश्चर्य क्या हो सकता है ? कबीरोपासना-पद्धति में सोने का, उठने का, बैठने का, दिशा जाने का, तूबा धोने का, हाथ मटियाने का, धोने का, दातून करने का, जल मे पैठने का, स्नान करने का, दर्पण करने का, चरणामृत देने और लेने का, जल पीने का, घर बुहारने का, चूल्हे मे आग डालने का, परसने का, अचाने का तथा अन्य अनेक छोटे-मोटे कर्मो का मंत्र दिया गया है, टोपी लगाने का, दीपक बारने का, आसन लगाने का, कमर कसने का, रास्ता चलने का सुमिरन दिया हुआ है । ये

मत्र बीजक आदि ग्रथो की वाणियो से लिए गए है। आवश्यकता-नुसार उन में थोडा-बहुत घटा-बढा लेने में विशेष संकोच नही अनुभव किया गया। नई वाणियाँ भी जरूरत पड़ने पर बना ली गई है। इस प्रकार दातून का मत्र यह है —

सत्त की दातौन सतोष की झारी ।
सत्त नाम ले घसो विचारी ।
क्रिया दातौन भया परकास ।
अजर नाम गहो विश्वास ।
अमी नाम ले पहुँचे आय ।
कहँ कबीर सब लोक सिधाय ।

चूल्हे मे आग देने का मत्र इस प्रकार है :—

चूल्हा हमारे चौहटे सब घर तपे रसोई ।
सत्त-सुकृत भोजन करे हम को छूत न होई ।

थारी परसने का मत्र —

चदन चौका कचन थारी । हीरालाल पदुम की झारी ।
बहुत भाँति जेवनार बनाये । प्रेम प्रीति सो पारस कराये ।
सत सुहेमा भोजन पायो । सत्त सुकृति, सत्त नाम गुसाईं ।

वह कौन-सी वस्तु है जो अनुयायियो को अपने गुरु के उप-देशो के प्रतिकूल चलने को बाध्य करती है? यह कहना अनुचित है कि अनुयायी जान-बूझकर अपने धर्मगुरु के वचनो की अवमानना करते है, वस्तुत अनुयायी धर्मगुरु की प्रतिष्ठा बढाने के लिये ही बहुधा गलत मार्ग ग्रहण करते है। वे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ऐसे साधनो का उपयोग निस्सकोच करने लगते है, जो लक्ष्य के साथ मेल नही खाते और बहुधा उसके विरोधी होते है। हजरत ईसा मसीह अहिंसामार्ग के प्रवर्तक थे; परतु उनकी महिमा संसार में प्रतिष्ठित करने के लिये सौ-सौ वर्षों तक रक्त की नदियाँ बहती रही है। हमें इतिहास को ठडे दिमाग से समझना

चाहिए। सचाई का सामना ईमानदारी के साथ करना चाहिए।

जब किसी महापुरुष के नाम पर कोई संप्रदाय चल पडता है तो आगे चलकर उसके सभी अनुयायी कम बुद्धिमान ही होते हैं, ऐसी बात नही है। कभी-कभी शिष्य-परंपरा मे ऐसे भी शिष्य निकल आते हैं, जो मूल सप्रदाय-प्रवर्तक से भी अधिक प्रतिभाशाली होते हैं। फिर भी सप्रदाय-स्थापना का अभिशाप यह है कि उसके भीतर रहने वाले की स्वाधीन चिंता कम हो जाती है। सप्रदाय की प्रतिष्ठा ही जब सबसे बड़ा लक्ष्य हो जाता है तो सत्य पर से दृष्टि हट जाती है, प्रत्येक बड़े 'यथार्थ' की सप्रदाय के अनुकूल सगति लगाने की चिंता ही बडी हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि साधन की शुद्धि की परवाह नही की जाती। परतु यह भी ऊपरी बात है। साधन की शुद्धि की परवाह न करना भी असली कारण नही है, वह भी कार्य है, क्योकि साधन की अशुचिता को सत्यभ्रष्ट होने का कारण मान लेने पर भी यह प्रश्न बना ही रह जाता है कि विद्वान् और प्रतिभाशाली व्यक्ति भी साधन की अशुचिता के शिकार क्यो बन जाते हैं?

स्पष्ट ही मालूम होता है कि घर जोडने की माया बडी प्रबल है और संसार का विरला ही कोई इसका शिकार होने से बच सकता है। इतनी प्रबल शक्ति के यथार्थ को उलटा नही जा सकता। उसको मानकर ही उसके आकर्षण से बचने की बात सोची जा सकती है। स्वय कबीरदास ने न जाने कितनी बार इस प्रबल माया की शक्ति के प्रति लोगो का ध्यान आकृष्ट किया है।

घर जोडने की माया

ई माया रघुनाथ की बौरी खेलन चली अहेरा हो ।
चतुर चिकनिया चुनि चुनि मारे काहु न राखे नेरा हो ।
मौनी पीर दिगम्बर मारे ध्यान धरन्ते जोगी हो ।
जगल मे के जगम मारे माया किहहू न भोगी हो ।
वेद पढन्ते वेदुआ मारे पूजा करते स्वामी हो ।
अरथ विचारत पडित मारे बाँधे सकल लगामी हो ।
इत्यादि ।

कबीरपथी साहित्य के अध्ययन से यह बात अधिकाधिक स्पष्ट हो जाती है कि इर्द-गिर्द की सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव बडा जबर्दस्त साबित हुआ है । उसने सत्य, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य को बुरी तरह दबोच लिया है । केवल कबीरपथ मे ही ऐसा नहा हुआ है । सब बडे-बडे मतो की यही अवस्था है । समाज म मान-प्रतिष्ठा पाने का साधन पैसा है । जब चारो ओर पैसे का राज हो तब उसके आकर्षण को काट सकना कठिन है । पथ की प्रतिष्ठा के लिये भी पैसा चाहिए । जो लोग इस आकर्षण को नही काट सकने वालो की निंदा करते है वे समस्या को बहुत ऊपर-ऊपर से देखते हैं ।

१८वी शताब्दी के बाद का सतों का अधिकांश साहित्य सप्रदाय की प्रतिष्ठा बढाने के उद्देश्य से लिखा गया है । उसमे अग्निगर्भा वाणियो की अपव्याख्या करने की प्रवृत्ति है । जिस चीज को दुनियाँ बडी समझती है उसी अर्थ को संतो की वाणियो से निकालने का प्रयत्न किया गया है । इसीलिये वह शक्ति निरंतर क्षीण होती गई है और अपेक्षाकृत नवीन सत-साहित्य निर्जीव हो गया है । उसमें बूझौवल-जैसी वाणियों का प्रचार बढता गया है ।

[इस शाखा के अध्ययन के लिये सहायक ग्रंथ—

(१) मिश्रबंधु विनोद; (२) रामचंद्र शुक्ल हिंदी साहित्य का इतिहास, (३) पं० परशुराम चतुर्वेदी, (क) उत्तरी भारत की संत-परंपरा, (ख) संत काव्य संग्रह; (४) हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, (५) रामकुमार वर्मा संत कबीर।]

५

कृष्णभक्ति का साहित्य

५

कृष्णभक्ति का साहित्य

हमने पूर्व अध्याय में देखा है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य के शुभागमन के बाद उत्तर भारत में कृष्णभक्ति के साहित्य को नया आदर्श और नई प्रेरणा-शक्ति प्राप्त हुई। परन्तु श्रीकृष्णभक्ति की परंपरा सूरदास से पहले कुछ थी ही नही, ऐसा नही समझना चाहिए। श्रीकृष्ण-कथा दीर्घकाल से उत्तर भारत में परिचित थी। वल्लभाचार्य के आगमन से उसमें नई शक्ति आ गई। साहित्य 'प्राकृत जन-चरित' से हटकर भगवत् लीला की ओर प्रवृत्त हो गया। महाप्रभु ने लीलागान पर बहुत अधिक बल दिया। भागवत महापुराण ने ही इस मत का प्रचार किया था। संभवतः दसवी-ग्यारहवी शताब्दी मे भागवत-परपरा से भिन्न भी कोई लीलागान की शास्त्रीय परपरा थी। जयदेव का गीतगोविद पूर्णरूप मे भागवत-परपरा का ग्रथ नही है। उसमें राधा प्रमुख गोपी है जो भागवत में अपरिचित है। फिर गीतगोविद का रास वसत-रास है जबकि भागवत का शरद-रास।

लीलागान की परम्परा

जो हो, लीला के पद बहुत पहले से ही लिखे जाने लगे थे। कब से लिखे जाने लगे, यह कह सकना तो कठिन है किन्तु दसवीं-ग्यारहवी शताब्दी में मात्रिक छदो के गेय पदो मे कृष्ण लीला गान करने की प्रथा अवश्य चल पडी थी। बारहवी शताब्दी मे जयदेव कवि का गीतगोविद इसी प्रकार

के मात्रिक छदो के गेय पदों मे लिखा गया था। पडितो ने अनुमान किया है कि उन दिनो उडीसा मे इसी प्रकार के गान लोकभाषा में प्रचलित रहे होगे, उन्ही के अनुकरण पर जयदेव ने ये गान लिखे होगे। बौद्ध सिद्धो के गेय पद इतना तो सूचित करते ही है कि पूर्वी भारत मे गेय पदो का साहित्य बहुत पहले से रचित होने लगा था। जयदेव का जन्म बगाल के बीरभूम नामक जिले के केन्दुलि (केन्द्रविल्व) ग्राम मे हुआ था। इधर कुछ उडिया विद्वानो ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि उनकी जन्मभूमि उडीसा मे ही थी। उनकी जन्मभूमि चाहे यहाँ भी रही हो, इनना तो निश्चित ही है कि उनकी साधनाभूमि जगन्नाथपुरी ही थी। जयदेव के बाद लोकभापा मे गेय पदो का कृष्णलीला-परक साहित्य मिथिला के विद्यापति और बगाल के चंडीदास नामक दो कवियो ने लिखा। विद्यापति की पदावली का परिचय तो हिंदी साहित्य के विद्यार्थी को है ही। साधारणत यह विश्वास किया जाता है कि श्रीकृष्णलीला से सबद्ध गेय पद के साहित्य की उत्सभूमि पूर्वी भारत ही है और वही से चलकर यह प्रथा पश्चिमी भारत म आई है। बौद्ध सिद्धो के गान, जयदेव का गीतगोविंद, चडीदास और विद्यापति के पद—सभी इस प्रकार के विश्वास को बल देते है।

चडीदास और विद्यापति के पदो ने आगे चलकर बंगाल के बहुत बडे वैष्णव भक्ति-आदोलन को प्रेरणा दी है।

चडीदास और विद्यापति

चडीदास के पदो मे राधिका के अत्यंत कोमल और सुकुमार हृदय का परिचय मिलता है किंतु विद्यापति के पदो में राधिका अधिक विलासवती और विदग्धा है। विद्यापति शृंगार रस के सिद्धवाक् कवि थे। उनकी पदावली मे राधा और कृष्ण की जिस प्रेमलीला का चित्रण है वह अपूर्व

है। इस वर्णन मे प्रेम के शारीर-पक्ष की प्रधानता अवश्य है पर इससे सहृदय के चित्त मे विकार नही उत्पन्न होता बल्कि भावो की सान्द्रता और अभिव्यक्ति की प्रेषणीयगुणिता के कारण वह बहुत ही आकर्षक हो गया है। विद्यापति के इन पदो ने व्रज-भाषा की कविता को कितना प्रभावित किया यह कहना कठिन है। शायद बहुत कम। पश्चिमी भारत म भी कृष्णलीला-परपरा पहले से ही वर्तमान थी, इसका प्रमाण मिल जाता है।

क्षेमेंद्र

क्षेमेद्र (११वी शताब्दी) के 'दशावतार चरितम्' मे कवि ने एक जगह लिखा है कि जब गोविंद यानी श्रीकृष्ण मथुरापुरी को चले गए तो वियोग-क्षिप्तहृदया गोपियाँ गोदावरी (?) के किनारे पर गोविंद का गुणगान करने लगी--

गोविन्दस्य गतस्य गतस्य कसनगरी
व्याप्ता वियोगाग्निना।
स्निग्धश्यामलकूललीनहरिणे
गोदावरीगह्वरे।
रोमन्थस्थितगोगणै परिचयादु-
त्कर्णमाकर्णितम्।
गुप्त गोकुलपल्लवे गुणगण
गोप्य सरागा जगु.। (८-१७३)

गोपियो ने जो गान गाया उसे कवि ने मात्रिक छंद मे लिखा है। अनुमान किया जाता है कि क्षेमेद्र ने इस प्रकार के गान अपने आस-पास सुने थे और इस गान मे उन्होने उन्ही लौकिक गीतो का अनुकरण किया है। गीत इस प्रकार है--

ललितविलासकला सुखखेलन--
ललनालोभनशोभनयौवन
मानितनवमदने।

अलिकुलकोकिलकुवलयकज्जल
कालकलिन्दसुताविव लज्जन-
कालियकुलदमने ।
केशिकिशोरमहासुरमारण
दारुणगोकुलदुरितविदारण-
गोवर्धनधरणे ।
कस्य न नयनयुगं रतिसज्जे
मज्जति मनसिजतरलतरंगे-
वरयुवतीरमणे ।

इस गान से यह अनुमान होता है कि जिस प्रकार के पद बंगाल और उड़ीसा में प्रचलित थे उसी प्रकार के पद सुदूर ग्वालियर में भी प्रचलित थे अर्थात् पूर्व से पश्चिम तक संपूर्ण भारत में ऐसे पद व्याप्त थे। सूरदास व्रजभाषा के प्रथम कवि हैं। उनके पद इतने सुन्दर और कलापूर्ण हैं कि सहज यह विश्वास नहीं होता कि यह रचना व्रजभाषा की पहली रचना है। निश्चय ही इसके पहले बहुत बड़ी परंपरा रही होगी। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने तो एक बार यह भी अनुमान किया था कि सूरसागर दीर्घकाल से चली आती हुई किसी पुरानी परंपरा का विकास है। सूरदास और उन्हीं के समान अन्य भक्त-कवियों के पदों का बाद में चलकर इतना अधिक विकास हुआ कि उनके पहले के सभी पद या तो लुप्त हो गए या फिर इन्हीं कवियों में से किसी-न-किसी के नाम पर चल पड़े।

गीतगोविंद

गीतगोविंद में बहुत थोड़े गानों का संग्रह है। कवि ने इसे प्रबंध-काव्य के रूप में ही सजाया है। निस्संदेह गीतगोविंद के गान गीतिकाव्यात्मक अर्थात् 'लिरिकल' हैं। ऐसे पदों से प्रबंध का काम नहीं लिया जा सकता। इसीलिये गीतगोविंद

वास्तविक प्रबंध-काव्य नही हो सका है । वह वस्तुत. गीति-काव्य-सग्रह ही है । सूरदास आदि व्रजभाषा के कवियो ने भी वहुत-कुछ इसी पद्धति को अपनाया है । श्रीकृष्णलीला का गान करने के पहले जयदेव ने दशावतार का स्मरण कर लिया है । ऐसा जान पडता है कि ग्यारहवी शताब्दी में दशावतार-वर्णन वहुत आवश्यक समझा जाने लगा था । मूल रासो में भी दशावतार-वर्णन-परक कुछ कविताएँ अवश्य रही होगी ।

वर्तमान पृथ्वीराजरासो मे भी दशावतार नाम का एक अध्याय जुड़ा हुआ है । मूल ग्रथ से यह लगभग स्वतत्र ही है । इसमे अच्छे कवित्व का परिचय है । जान पडता है कि क्षमेंद्र के दशावतारचरितम की भाँति यह भी देशी भाषा मे लिखा हुआ कोई स्वतत्र ग्रथ था । वर्तमान रासो म इसका दसम् नाम अव भी सुरक्षित है । दसम् अर्थात् दशावतारचरित । यद्यपि वर्तमान रासो मे यह दूसरे समय के रूप मे अंतर्भुक्त किया गया है तथापि इसका दसम् नाम उसमे दिया हुआ है । सपादको को इस नाम की व्याख्या मे कहना पडा है कि दसम् अर्थात् द्वितीय समय । जव तक यह स्वीकार न किया जाय कि दसम् नाम दशावतारचरित विषयक कोई अलग ग्रथ था जो वाद मे रासो मे जोड दिया गया तव तक 'दसम्' अर्थात् 'द्वितीय' की ठीक-ठीक संगति नही लग सकती ।

चद का दसम्

परंतु यह सव कहने का यह मतलव नही है कि यह 'दसम्' नामक रचना चद कवि की लिखी होगी ही नही । इसमे बहुत ही सुन्दर कविता का परिचय मिलता है । निस्सदेह यह किसी अच्छे कवि की रचना है । यह लीला-काव्य का उत्तम निदर्शन है ।

यदि रासो का यह 'दसम्' (दशावतारचरित) बारहवी शताब्दी की रचना है तो पश्चिम भारत की लीलावाले साहित्य के रूप का सुन्दर परिचय देता है। क्षेमेंद्र के काव्य के साथ मिलाकर देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि श्रीकृष्ण-लीला विषयक काव्य और गेय पद दोनो ही की परंपरा पश्चिम भारत में एकदम अपरिचित नही थी। सूरदास के साहित्य मे वह एकाएक नही प्रकट हुई है।

व्रजभाषा काव्य निश्चय ही बहुत पहले से बनने लगा था। परतु वास्तविक समृद्धि के साथ वह सूरदास के भजनों में ही प्रकट होता है। वस्तुत सूरदास ही व्रजभाषा के प्रथम कवि है और लीलागान का महान् समुद्र 'सूरसागर' ही उसका प्रथम काव्य है। सूरदास भारतीय साहित्य के विद्यार्थी के लिये अपरिचित नही हैं। समूचे भारतवर्ष मे उनका नाम श्रद्धा भक्ति के साथ लिया जाता है।

प्रसिद्ध है कि कविवर सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य थे। साम्प्रदायिक अनुश्रुतियो के अनुसार वे वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे। वल्लभाचार्य की शरण

सूरदास

आने के पहले सूरदास की काफी ख्याति हो चुकी थी। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार इनका जन्म-स्थान रुनकता या रेणुका-क्षेत्र है। ये मथुरा और वृन्दावन के बीच गऊघाट पर रहते थे, भजन गाया करते थे और सेवक अर्थात् शिष्य बनाया करते थे। जब महाप्रभु उधर पधारे तो सूरदास के सेवकों ने उन्हें सूचना दी कि दिग्विजयी महाप्रभु वल्लभाचार्य पधारे हैं जिन्होंने सब पडितों को जीतकर भक्तिमार्ग की स्थापना की है। यह सुनकर सूरदास जी उनसे मिलने गए। उस समय महाप्रभु भोग लगाकर और स्वयं भी प्रसाद पाकर गद्दी पर

विराजमान थे। सूरदास जी को देखकर उन्होंने भगवद्भजन करने का आदेश दिया। आज्ञा पाकर सूरदास जी ने दो भजन गाए—"प्रभु हौं सब पतितन को टीको" और "हौ हरि सब पतितन कौ नायक"। महाप्रभु ने दो ही भजन सुने और फिर डाँट कर कहा—"सूर ह्वै कै ऐसो घिघियात काहे को हौ, कछु भगवत् लीला वर्णन करि।" किंतु सूरदास को भगवत्लीला का कुछ ज्ञान नही था। तब श्री महाप्रभु जी ने पहले तो सूरदास जी को नाम सुनाया, पीछे समर्पण करवाया और फिर भागवत-दशमस्कंध की अनुक्रमणिका कही, और तब श्री 'सूरदास जी ने भगवत्-लीला वर्णन करा'। इस घटना से यह सूचित होता है कि वल्लभाचार्य से भेंट होने के पहले सूरदास जो भजन बनाया करते थे उसमे लीला का कोई स्थान नही था। लीला का वर्णन सूरदास की वल्लभाचार्य से पाई हुई विशेष दृष्टि है।

श्री गोकुलनाथ जी की निजवार्त्ता से यही मालूम होता है कि वल्लभाचार्य से ये केवल दस दिन छोटे थे। श्री हरिराय जी के भावप्रकाश से पता चलता है कि सूरदास दिल्ली से चार कोस दूर सीही ग्राम के सारस्वत कुल में पैदा हुए थे। जन्म से ही अंधे थे। परंतु सगुण भाव के भजन बनाकर गाया करते थे और सेवकों को सुनाया करते थे। पहले तो अठारह वर्ष तक एक तालाब के ऊपर पीपल वृक्ष के नीचे भजन करते रहे फिर गऊघाट आ गए। यही महाप्रभु वल्लभाचार्य से भेंट हुई और लीलागान करने की प्रेरणा मिली। महाप्रभु प्यार से इनको सूरसागर कहा करते थे। सूरसागर के भीतरी प्रयोगो को देखकर भी कुछ लोगो ने अनुमान किया है कि ये जन्म के अंधे थे। श्री हरिराय के भावप्रकाश तथा श्रीनाथ भट्ट की संस्कृतवार्त्ता मणिमाला के अनुसार भी ये जन्मांध थे।

क्या सूरदास जन्मांध थे?

परतु सूरदास के प्राकृतिक शोभा और रूप वर्णन को देखकर अधिकाश विद्वान् यह नहीं मानना चाहते कि वे जन्मांध थे। सूरसागर के कुछ पदो से यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि सूरदास अपने को जन्म का अधा और कर्म का अभागा कहते है पर सब समय इसके अक्षरार्थ को ही प्रधान नही मानना चाहिए। यह मानसिक ग्लानि की अवस्था मे कही हुई बात है जिसमे अपनी हीनता को अतिरजित करने की प्रवृत्ति काम करती रहती है।

सूरदास ने अपने इर्दगिर्द जिस समाज को देखा था उसका कोई ऊँचा आदर्श नही था, लोग खाते पीते थे, रोगी या निरोग होते थे, और चार दिन हँसकर या होकर चल पडते थे। युवावस्था को विलास-क्रीडा का काल माना जाता था। लोग 'यौवनमद, जनमद, धनमद और मादकमद' के शिकार हो रहे थे। क्या पुरुष क्या स्त्री, सबका लक्ष्य भोगलिप्सा ही था। जो लोग धार्मिक प्रकृति के होते थे वे पुराण सुन लेते थे, तुलसीदल का भोग लगा देते थे और शालिग्राम शिला की पूजा भी कर लिया करते थे। जो लोग मंगलकामी थे, वे एकादशी द्वादशी का सयम नियम का व्रत पाल लेते थे और ग्रहो का शाति-स्वस्त्ययन करके अमंगल का शमन कर लिया करते थे। सूरदास जी ने इसी प्रकार का समाज देखा था। लोगो मे झूठी शान, थोथी मानप्रियता और उद्देश्यहीन धर्माचार का बोलबाला था। भावुक सूरदास इस अवस्था से विरक्ति अनुभव कर रहे थे और न जाने किस शुभ मुहूर्त मे सब कुछ छोडकर विरक्त हो गए। उस समय उनकी अवस्था तरुण रही होगी। यदि अनुश्रुतियो को प्रामाणिक माना जाय तो यह भी स्वीकार करना पडेगा कि उनके अग-प्रत्यंग से लावण्य की छटा छिटकती रहती थी। विधाता ने सब कुछ दिया था, सिर्फ आँखें नहीं दी थी।

अनुश्रुतियो की वह कहानी भी बहुत अधिक प्रसिद्ध है कि किस प्रकार किसी तरुणी के रूप से आकृष्ट होकर उन्होने उसका अनुसरण किया और बाद मे अपनी आँखे फोड़ या फुडवा ली । सूर होने के बाद वे दीर्घकाल तक भगवान् को कातर भाव से पुकारते रहे, उस समय के उनके भजनो में दैन्य का स्वर है और आत्मग्लानि की पीडा है। न जाने कितने दिनो तक उन्होंने अपने आप को "अशुची अकृती अपराधी" समझा, "सब पतितन कौ टीकौ" माना और "जदुपति बिना बीते" दिनो के लिये पश्चात्ताप करते रहे। उस समय उनके चित्त मे एक ही बात से शाति मिलती थी--लोग उन्हे श्याम का गुलाम समझते थे : "सब कोउ कहत गुलाम श्याम के सुनत सिरात हियो ।" ऐसी आत्मग्लानि की अवस्था मे अपनी हीनता को अतिरजित करने की प्रवृत्ति मनुष्य मे आ जाती है। ऐसे ही अवसरो पर सूरदास अपने को जन्म का अधा और कर्म का अभागा कह देते थे । इसके अक्षरार्थ को बहुत अधिक महत्त्व नही देना चाहिए । परवर्ती पुस्तको मे केवल सुनी-सुनाई बातो का उल्लेख है । सूरदास का साहित्य कभी जन्माध व्यक्ति का लिखा साहित्य नही हो सकता ।

'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' से स्पष्ट है कि महाप्रभु के तिरोधान के बहुत बाद तक सूरदास जीवित रहे । अनुमान किया जाता है कि सन् १५२३ ई० के आसपास वे वल्लभाचार्य जी के सपर्क मे आए होगे । महाप्रभु ने इन्हे श्रीनाथ जी के सामने कीर्त्तन करने का भार दिया था परतु जब कृष्णदास मदिर के अधिकारी नियुक्त हुए तो सूरदास को वहाँ से हटकर पारसौली ग्राम में चला जाना पडा था और वही उनकी मृत्यु भी हुई । उनकी मृत्यु के समय वल्लभाचार्य के सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी उपस्थित

थे। विट्ठलनाथ जी की मृत्यु सन् १५८६ ई० में हुई थी इसलिये सूरदास जी की मृत्यु उसके पहले ही हो गई थी।

सूरदास की प्रसिद्ध रचना सूरसागर[1] ही है। इसके निर्माण के बाद उन्होने ६७ वर्ष की अवस्था में 'सूरसागर सारावली' पुस्तक लिखी थी। उनकी लिखी समझी जाने वाली एक और पुस्तक 'साहित्य-लहरी' मिली है जिसमें दृष्टकूट के पद सकलित है।[2] इसी साहित्यलहरी में ११८ नवर का जो पद है उसमें सूरदास की वश-परपरा दी हुई है जिसमे बताया गया है कि सूरदास चन्दबरदाई के वंशज थे और उनके पिता का नाम हरिचद था। हरिचद के सात पुत्रो मे सबसे छोटे सूरजदास या सूरदास थे। मुसलमानो से लडते-लडते जब छ भाई मर गए तब अंधे सूरदास इधर-उधर भटकते रहे और अत में एक कुए मे जा गिरे जहाँ से भगवान् ने उनका उद्धार किया। भगवान् ने उन्हे यह भी बताया कि "प्रबल दच्छिन विप्रकुल तै शत्रु ह्वै है नास" अर्थात् दक्षिण के ब्राह्मण कुल से शत्रु का नाश होगा। कुछ विद्वानो ने इस पद को प्रक्षिप्त माना है क्योकि इसमें "प्रबल दच्छिन विप्रकुल तै" शब्दो के द्वारा दच्छिन के पेश-

सूर की रचनाएं

साहित्यलहरी

---

१ सूरसागर (१) नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ १८७०, (२) कृष्णलाल, आगरा १८७७, (३) ईजादे किशन प्रेस, आगरा १८८१, (४) वेंकटेश्वर प्रेस, बबई १८९७, (५) जगन्नाथप्रसाद रत्नाकर स० (कई भाग मात्र) बनारस १९३४, (६) नददुलारे वाजपेयी १९५१।

२ (१) साहित्यलहरी, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर १८९२
(२) दृष्टकूट (सरदार कवि की टीका) बनारस १८६९
(३) ,, ,, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ १८९०

भावों का बोध होता है। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि यह पूरी-की-पूरी 'साहित्यलहरी' संदेहास्पद रचना है। एक तो सूरसागर के विद्यार्थी को यही विश्वास करने में कठिनता मालूम होती है कि सूरदास-जैसा सहज भक्त अलंकार और नायिका-भेद के प्रदर्शन में कैसे उलझ पड़ा। दूसरे, १०९वें पद में ग्रंथ की तिथि और समाप्ति का निर्देश कर चुकने के बाद वह अपने जाति और वंश का उल्लेख क्यों करने लगेगा? ग्रंथ की तिथि के संबंध में ग्रंथकार ने लिखा है—'मुनि पुनि रसन के रस लेख; दसन गौरीनंद को लिखि सुबल संवत् पेख।' इसका अर्थ १६२७ सं० किया जाता है। इसमें 'रसन' शब्द में रस+न=शून्य और रसन=दो, इत्यादि खींचतान करके १६२७ सं० बनाया गया है। पंडित रामचंद्र शुक्ल ने पुनि को सुनि बनाकर सुनि का अर्थ शून्य किया है और इस प्रकार १६०७ सं० अर्थ किया है। परन्तु वस्तुतः इसका अर्थ १६७७ होना चाहिए। मुनि का अर्थ सात है, पुनि का अर्थ है फिर से मुनि अर्थात् सात और रसना का रस अर्थात् षट्रस (छ) है और गौरीनंदन का दशन अर्थात् एक है। इस प्रकार ग्रंथ का निर्माण सं० १६७७ अर्थात् सन् १६२० ई० पड़ता है जो सूरदास की मृत्यु के बहुत बाद का समय है।

इस प्रकार यह किसी अन्य सूरजदास नामक कवि की रचना है। इसमें सूरदास के भी कुछ पद आ गए हो तो कोई आश्चर्य नही और ११८वां पद तो निश्चितरूप से प्रक्षिप्त है। श्री व्रजेश्वर वर्मा का अनुमान है कि यह किसी भाट का सूरदास को स्वजातीय बनाने का प्रयत्न है। इस पुस्तक को अधिक महत्त्व देना उचित नही।[1]

---

१. सूरदास के नाम पर कई पुस्तकें निकली हैं जिनमें कई तो सूरसागर के पदों का संग्रह मात्र हैं, परन्तु कई ऐसी है जिनकी प्रामाणिकता के बारे में संदेह है। कुछ

वार्ता साहित्य से पता चलता है कि सूरदास का यश सुनकर बादशाह अकबर भी उनसे मिले थे। अकबर जैसे गुणग्राही सम्राट के लिये यह बात असंभव नही है। सूरदास के विषय में अधिक कुछ मालूम नही है परंतु सूरसागर के पढने से सूरदास का स्वभाव, रुचि, निष्ठा और व्यक्तित्व का बहुत स्पष्ट परिचय मिलता है। सूरदास के साहित्य को पढते समय हमे इस बात को याद रखना चाहिए कि निखिलानद-सदोह भगवान् श्रीकृष्ण ही उसमें अभिव्यक्त प्रेम के आलबन हैं। आलबन दो प्रकार के होते हैं---विषयरूप आलबन और आश्रयरूप आलबन। दुष्यत को देखकर यदि शकुतला के हृदय में प्रेम-भाव उत्पन्न हुआ हो तो दुष्यत विषयरूप आलबन है और शकुतला आश्रयरूप आलबन। वैष्णव भक्त भगवान् को विषयरूप आलबन के रूप मे ही देखते है। गोपियाँ, यशोदा, नंद, गोप-वाल, उद्धव आदि सभी भक्त आश्रयरूप आलबन है। इन सबकी एकमात्र अभिलाषा यही होती है कि भगवान् हमसे प्रसन्न हो। अगर हम इस बात को ध्यान में रखे बिना

सूर का वैशिष्ट्य

पुस्तकों के नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) सूरसागर-रतन, बनारस १८६७, (२) सूर-सगीत-सार, कलकत्ता १९०८; (३) सूर कृत विनय-पत्रिका, बबई १८६६, (४) सूर कृत विनय, बनारस १८७०, (५) सूरशतक, बनारस १८६६, (६) वही, पटना १८६६, (७) सूर रामायण, बनारस १८६६, (८) वही, मुरादाबाद १८६८, (९) बिसातिन लीला, फतेहगढ १८७६, (१०) वही, वेंकटेश्वर प्रेस के एक सग्रह में, (११) भँवरगीत, लखनऊ १८७८, (१२) मोरध्वज कथा, बबई १८८३, १८६०, (१३) बाललीला, बंबई १८८३, (१४) सूर-पंचरत्न, बनारस १९२४, (१५) भ्रमरगीतसार, बनारस; इत्यादि इत्यादि।

वैष्णव साहित्य को पढेंगे तो हम घाटे में रहेंगे। यह भाव नानाभाव से भक्त कवि की कविता में आएगा, इसे इसी रूप मे न देखने का परिणाम यह हुआ कि सूरदास की वर्णन की हुई श्रीकृष्ण की बाललीला को बडे-बडे सहृदयो तक ने इस प्रकार समझा है मानो वे स्वभावोक्ति के उत्तम उदाहरण हैं। नही, वे स्वभावोक्ति के उदाहरण नही हैं, वे उससे बड़ी चीज है। ससार के साहित्य की बात कहना तो बहुत कठिन है क्योकि वह बहुत बड़ा है और उसका एक अशमात्र हमारा जाना है। परंतु हमारे जाने हुए साहित्य मे इतनी तत्परता, मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुई बाललीला अलभ्य है। बालकृष्ण की एक-एक चेष्टाओ के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है। न उसे शब्दो की कमी होती है, न अलकार की, न भावो की, न भाषा की। क्यो ऐसा है ? क्या कारण है कि शताधिक पदो मे बार-बार दुहराई हुई बात इतनी मनोरम होगई है ? क्या कारण है कि उपमाओ, रूपको और उत्प्रेक्षाओ की जमात हाथ जोड़कर इस बार-बार दुहराई हुई लीला के पीछे दौड़ पड़ी है ? इसका कारण यशोदा का निखिलानद सदोह भगवान् बालकृष्ण के प्रति एकात आत्म-समर्पण है। अपने आपको मिटाकर अपना सर्वस्व निछावर करके जो तन्मयता प्राप्त होती है वही श्रीकृष्ण की इस बाललीला को संसार का अद्वितीय काव्य बनाए हुए है। यशोदा को उपलक्ष्य करके वस्तुत सूरदास का भक्त चित्त ही शत-शत रसस्रोतो में उद्वेल हो उठता है। वही चित्त गोपियो, गोपालो, और सबसे बढकर राधिका के रूप मे ही अभिव्यक्त हुआ है। इसीलिये सूरदास की पुनरुक्तियां जरा भी नही खटकती और वाक् चातुर्य इतना उत्तम कोटि का होकर भी व्यगार्थ के सामने अत्यन्त

तिरस्कृत होगया है। वर्णन कौशल वहाँ प्रधान नही है, वह भक्त के महान् आत्म-समर्पण का अग मात्र है, किंतु साधक भक्त लोग लीला के विरह रूप को जितनी आसानी से अनुभव कर सकते हैं मिलन रस को उतना नही। जिस दिन साधक सिद्ध हो जाता है और भक्ति अर्थात् चिन्मय रस के एकमात्र आकर निखिलानद सदोह भगवान् से मिलकर एकमेक हो जाता है उस दिन कुछ कहने को बाकी नही रह जाता। यही कारण है कि भक्त की विरह कथा अधिक सरस, अधिक भाव-प्रवण और अधिक द्रावक होती हे। यशोदा द्वारा कथित निम्नलिखित पदो मे सूरदास का हृदय फूट पडा है—

मेरे कान्ह कमल दल लोचन,
अबकी बार बहुरि फिरि आवहु, कहा लगै जिय सोचन।
यह लालसा होत जिय मेरे, बैठी देखत रैहौं।
गाइ चरावन कान्ह कुँवर को कबहुँ जान न दैहौं।

और—

यद्यपि मन समुझावत लोग,
शूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुँह जोग।
प्रातकाल उठि माखन रोटी को बिनु माँगे देहे।
अब उहि मेरे कुँवर कान्ह को छिन छिन अक मे लैहैं।

यशोदा का यह रूप तभी समझा जा सकता है जब पूर्ववर्ती बाललीलाओ को इसी प्रेम का एक रूप माना जाय। स्वभावोक्ति का चमत्कार देखनेवाले इस और उस रूप मे कोई एक रूपता नही खोज पाएँगे।

राधिका के रूप मे सूरदास ने भक्त-हृदय का जो चित्र खीचा है वह इसी अपूर्व तन्मय प्रेम का आश्रय भेद से परिवर्तित रूपातर मात्र है। यह प्रेम अपना उपमान आप ही है। इसमे उस जाति के प्रेम की गंध भी नही है जो प्रिय

की संयोगावस्था में उसके विरहाशका से उत्कंठित और वियोगावस्था मे मिलन-लालसा से व्याकुल हुआ रहता है। वह सयोग मे सोलह आना संयोगमय और वियोगावस्था मे सोलह आना वियोगमय है। राधा और कृष्ण के नाम पर प्रेम-काव्य अनेक लिखे गए है। रीतिकाल का तो प्राय. समूचा साहित्य ही इस प्रेमलीला का विस्तार है और उसमे वियोगी के सभी रूपो का--पूर्व राग, मान, प्रेम-वैचित्य और प्रवास का--बाह्य रूप जैसे का तैसा मिल जाता है। पर प्रेम का वह वास्तविक चित्रण जिसमे बाह्य रूप (फॉर्म) गौण हो जाता है, जिसमे चतुरो के बताए भेद-उपभेद होकर भी धन्य होते है और न होकर भी धन्य होते है, दुर्लभ है। नाना भावो और विभावो के चित्रण मात्र से और राधाकृष्ण का नाम ले लेने मात्र से कविता उस श्रेणी की नही हो जाती जहाँ भक्त राधा और अन्य गोपियो के बहाने अपने आपको दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर सर्वात्मना भगवान् के चरणो मे निछावर कर देता है। वहाँ भावो और हावो के सूक्ष्म भेद भूल जाते है। वैष्णव भक्त भगवान् के साक्षात् चिद्घन विग्रह रूप का अर्थात् जिस रूप मे चैतन्य ही घनीभूत होकर प्रकट हुआ है, लीलागान करते है, और गोपियों के बहाने अपना प्रीति-निवेदन करते है।

राधिका के रूप मे भक्त-हृदय

यह ध्यान मे रखने की बात है कि लौकिक प्रीति होने पर प्रेम जडोन्मुख होता है और जब वह प्रेम 'चिद्घन विग्रह भगवान्' के प्रति होता है तब वह चिन्मुख होता है। लौकिक प्रेम से भिन्नता दिखाने के लिये भक्तो ने इसका नाम 'उज्ज्वल रस' दिया है। इस मार्ग को वही लोग अपनाते है जिनमे आत्म-समर्पण की भावना तीव्र होती है।

चिन्मुख और जडोन्मुख प्रेम

भगवान् के प्रति अनन्यगामी एकांत प्रेम को ही भक्ति कहते हैं। आत्म-समर्पण के द्वारा ही भक्त इस अनन्यगामी प्रेम को पाता है। यह आत्म-समर्पण दास्य रूप में, सखा रूप में, पिता-माता रूप में और कान्ता रूप में किया जा सकता है। सूरदास में विभिन्न पात्रों के माध्यम से ये सभी भाव थोड़े-बहुत प्रकट हुए हैं, पर मन उनका वात्सल्य, सख्य और कांता भाव में ही रमता है।

वात्सल्य-भाव के काव्य के लिये सूरदास की बड़ी ख्याति है। कहते हैं संसार के कम कवियों का नाम इस प्रसंग में उनके साथ लिया जा सकता है। परन्तु उनकी गोपियों के और श्रीकृष्ण में जिस भाव का प्रेम है, वह भी बहुत कुछ वात्सल्योचित ही है।

विशुद्ध काव्य की दृष्टि से देखें तो राधिका विशुद्ध गीति-काव्यात्मक पात्र है। इस गीतिकाव्य का उत्तम विकास बंगाली कवि चंडीदास के पदों में हुआ है।

विरहिणी राधा

चंडीदास की राधिका परकीया नायिका है, और उनका मिलन क्षणिक और उत्कंठापूर्ण होता है। परन्तु सूरदास की राधिका न केवल स्वकीया है, बल्कि उनका प्रेम विरहाकुल, उद्वेगजन्य और उत्कंठा-हीन है। शिल्प में गीतिकाव्यात्मक मनोरागों को आश्रय करके महाकाव्यात्मक शिल्प का निर्माण हुआ है। ताजमहल ऐसा ही महाकाव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग गीतिकाव्यात्मक या 'लिरिकल' है। सूरसागर भी इसी प्रकार का महाकाव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग 'लिरिकल' या गीतिकाव्यात्मक है। हिंदी में एक ऐसे समालोचकों का दल पैदा हुआ है, जो हर काव्य में महाकाव्य या प्रबंध-काव्य का गुण खोजता है, और न पाने पर अफसोस

प्रकट करता है। ऐसे समालोचकों की चपेट से सूरदास भी नहीं बचे हैं। ये लोग एकदम भूल जाते हैं कि काव्य के प्रतिपाद्य के भीतर ही गीतिकाव्यात्मकता हो सकती है, और उस प्रतिपाद्य को लेकर महाकाव्य की रचना उत्साहास्पद प्रयत्न हो सकता है। सूरदास ने यदि राधिका के प्रेम को लेकर गीतिकाव्य की रचना न करके प्रबंध-काव्य की रचना की होती, तो असफल हुए होते। गीतिकाव्यात्मक मनोरागों पर आधारित विशाल महाकाव्य ही सूरसागर है। वर्णन-नैपुण्य और भाषागत माधुर्य के प्रवाह में पड़ा हुआ सहृदय यह भूल ही जाता है कि सूरदास ने राधिका और श्रीकृष्ण के प्रेम का एक ऐसा संपूर्ण चित्र खींचा है, जो गीतिकाव्यों के भीतर से महाकाव्य के रूप में प्रकट हुआ है। 'सूर-साहित्य' में विस्तारपूर्वक मैंने इस विषय की चर्चा की है। अन्य भक्त कवियों की भाँति सूरदास ने राधिका और कृष्ण को एकाएक नहीं मिला दिया। यही कारण है कि पूर्व-राग की वह व्याकुल वेदना सूरसागर में नहीं मिलेगी, जो चंडीदास या विद्यापति की पदावलियों में प्राप्य है। परंतु उसमें एक विशेष प्रकार की वेदना है, जो सूरदास की अपनी विशेषता है। राधिका और श्रीकृष्ण एक ही साथ खेलते-खाते बड़े होते हैं, फिर भी पूर्व-राग की एक विचित्र वेदना दोनों ही अनुभव करते हैं। यह कुछ ऐसी चीज है जिसको आलंकारिक बता नहीं सकते।

प्रेम के इस स्वच्छ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया। यह सूरदास की अपनी विशेषता है। वियोग के समय राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है, वह भी इस प्रेम के योग्य है। मिलन के समय की मुखरा, लीलावती, चंचला और हँसोड़ राधिका वियोग के समय मौन, शांत, और

प्रेम का मार्जित रूप

गम्भीर हो जाती है। उद्धव के साथ अन्यान्य है गोपिया काफी बक-झक करती है पर राधिका वहाँ जाती भी नही। उद्धव ने श्रीकृष्ण से उनकी जिस मूर्ति का वर्णन किया है उससे पत्थर भी पिघल सकता है। उन्होंने राधिका की आँखो को निरन्तर बहते देखा था, कपोल-देश वारि-धारा से आर्द्र था, मुखमडल पीत हो गया था, आँखें धँस गई थी, शरीर केवल ककाल-शेष रह गया था। वे दरवाजे से आगे न बढ़ सकी थी। प्रिय के प्रिय वयस्क ने जब सदेश माँगा तो वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। प्रेम का वही रूप जिसने संयोग में कभी विरहाशंका का अनुमान नही किया, वियोग मे इस मूर्ति को धारण कर सकता है। वास्तव में सूरदास की राधिका शुरू से अखीर तक सरल बालिका है। उनके प्रेम में चडीदास की राधा की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नही है और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रुदन में हास और हास मे रुदन की चातुरी भी नही है। इस प्रेम मे किसी प्रकार की जटिलता भी नहीं है। घर में, वन मे, घाट पर, कदब तले, हिंडोले पर—जहाँ कही भी इसका प्रकाश हुआ है, वही पर अपने आप में ही पूर्ण है, मानों वह किसी की अपेक्षा नही रखता और न कोई दूसरा ही उसको खबर रखता है।

सूरदास का कवित्व

सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते है तो मानों अलकार शास्त्र हाथ जोड़ कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओ की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वय बह जाता है। वह अपने को भूल जाता है। काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है। पद-पद पर मिलनेवाले अलकारो को देखकर भी कोई अनुमान नहीं

कर सकता, कि कवि जान-बूझ कर अलकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढते जाइये. केवल उपमाओं और रूपको की घटा, अन्योक्तियो का ठाठ, लक्षण और व्यजना का चमत्कार——यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, चार-चार, दस-दस बार तक दुहराई जा रही है, फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रवाह कही भी आहत नही हुआ। जिसने सूरसागर नही पढा उसे यह बात सुनकर कुछ अजीब-सी लगेगी, शायद वह विश्वास ही न कर सके, पर बात सही है। काव्यगुणो की इस विशाल वनस्थली मे एक अपना सहज सौंदर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नही, जिसका सौदर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाया करता है, बल्कि उस अकृत्रिम वनभूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना मे ही घुल-मिल गया है।

अष्टछाप

महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने महाप्रभु के शिष्यो मे से चार और अपने शिष्यो मे से चार कवि भक्तो को चुनकर अष्टछाप की स्थापना की थी। महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्यो में——१. सूरदास, २ कृष्णदास, ३ परमानंद दास, ४. कुंभनदास, और गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्यो मे १. नंददास, २ चतुर्भुजदास, ३. छीतस्वामी और ४ गोविंद स्वामी, अष्टछाप की मर्यादा पा सके थे। इनमे सभी सुकवि थे, पर सूरदास और नददास सबमें श्रेष्ठ थे।

वल्लभाचार्य के जिन चार शिष्यो को अष्टछाप मे गिने जाने की मर्यादा प्राप्त हुई थी उनके वृत्तात 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे और विट्ठलनाथ के शिष्यो के वृत्तात 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में सगृहीत हैं। इन पुस्तको से वल्लभाचार्य और उनके पुत्र के शिष्यो के व्यक्तित्व का पता चलता है जो बहुत ही आकर्षक है।

कृष्णदास अधिकारी शूद्र थे, किंतु अपनी योग्यता के बल पर श्रीनाथजी के मदिर के अधिकारी नियुक्त हुए थे।

कृष्णदास

वार्ता में इनकी कूटबुद्धि और दुर्दम शासन-कौशल का बडा अच्छा परिचय मिलता है। श्रीनाथजी के पुजारी बगाली थे, कृष्णदास उनको निकालना चाहते थे, प्रचार कर दिया कि ये चुटिया मे देवी की मूर्त्ति रखते है और श्रीनाथजी के भोग लगाने के पहले देवी को भोग लगा देते है। फिर एक दिन जब बगाली लोग पूजा मे लगे हुए थे तो उनकी झोपडियो मे आग लगा दी। बेचारे पूजा छोड़कर जब घर की ओर दौड़े तो वहाँ कृष्णदास के आदमियो ने "द्वै-द्वै चार-चार लाठी बंगालिन को दीनी"। फर्याद करने गए तो कहा कि तुम पूजा छोडकर भागे क्यो? और निकाल दिया। रूप और सनातन गोस्वामी ने जरा सहारा देना चाहा तो धमका आए, तुम शूद्र होकर ब्राह्मणो से पैर पुजवाते हो, हम तुम्हे देख लेंगे। बिचारे डरकर चुप हो रहे। शासन का आतक इतना कि गोस्वामी विट्ठलनाथ भी आतंकित रहते थे और सूरदास को पारसौली जाना पडा था। स्वय श्रीनाथजी भी सशक रहते थे। कृष्णदास की मनचाही नर्तकी की दृष्टि जब उनके भोग की ओर पड़ जाती थी तो भूख ही सो जाते थे। कई दिन जब ऐसे ही बीते और पेट कुलकुला उठा तो मन्दिर के भितरिया को कसकर लात जमाई और बोले कि 'मै भूखा हूँ' तब जाके रहस्य खुला! नवीन कुएँ का निर्माण कराते समय उसका निरीक्षण करने गए तो उसी मे गिरकर मर गए। वार्ताकार ने उल्लसित होकर किसी के मुख से यह टिप्पणी कराई है कि—'अधो-गच्छन्ति तामसा.'। और फिर भी कृष्णदास सप्रदाय में बडे सम्मान के साथ स्मरण किए गए है। जितने ही प्रचड उतने ही सरल। गुरु और सप्रदाय की मानरक्षा के लिये वे

अच्छा बुरा सब करने को प्रस्तुत थे। उनकी भक्ति का बाह्यरूप अनेक प्रकार के अवांछित और विसदृश रूपो मे प्रकट हुआ है किंतु उनमे सचाई और निष्ठा है, इसमे संदेह नही।

कुभनदास जैसे मस्तमौला फक्कड़ उस काल मे कम हुए होगे। ये भी शूद्र थे और आठ पुत्रो के पिता थे। थोडी-सी जमीन थी, जीविका-निर्वाह बडा कठिन था, फिर भी किसी से दान नही लिया। महाराजा मानसिह ने कुछ स्वीकार कर लेने का आग्रह किया, पर उन्होने स्वीकार नही किया। जब बहुत हठ करने लगे तो यही मॉगा कि तुम हमारे आगे से चले जाओ। इस प्रकार के निर्लोभ, निरीह और स्पष्टवादी भक्त विरले ही होते है। अकबर ने फतेहपुर सीकरी बुलवाया, पैदल ही गए और श्रीनाथजी का दर्शन न कर सकने के कारण व्याकुल होकर तुरत लौट आए। पछता के रह गए—

कुंभनदास

सतन को कहा सीकरी सो काम।

आवत जात पनहिया टूटी बिसरि गए हरिनाम।
जिनको मुख देखे दुख उपजत तिनको करन परी परनाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबे बेकाम।

परमानददास बहुत उच्चकोटि के कवि थे। एक बार इनकी एक रचना सुनकर महाप्रभु कई दिन तक बेसुध रहे। इनकी पुस्तक परमानदसागर[1] प्रसिद्ध है। कहते है कि इसमे भी लक्षावधि पद थे परतु खोज से जो प्रति प्राप्त हुई है उसमे ८३५ ही

परमानद

---

१. परमानदसागर, रामचद्र त्रिवेदी, जयपुर १९१४
दधि लीला, हसनी प्रेस, दिल्ली १८६८

पद है। इनके पदो मे भाषा का लालित्य दर्शनीय है। इस प्रकार महाप्रभु वल्लभाचार्य के जिन शिष्यो को अष्टछाप की मर्यादा मिली थी, उन सबमे विशिष्ठ व्यक्तित्व दिखाई देता है।

गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्यो मे सबसे प्रमुख नंददास हैं। इनकी कई पुस्तके प्राप्त हुई हैं, जिनमें रास पचाध्यायी, सिद्धात पचाध्यायी, अनेकार्थ मंजरी, मान मंजरी, रूपमजरी, रसमजरी, विरहमजरी, भ्रमरगीत, गोवर्द्धनलीला, श्यामसगाई, रुक्मिणीमगल, सुदामा-चरित, भाषादशमस्कध और पदावली मुख्य हैं। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' मे इनके सबध में बताया गया है कि ये तुलसीदास के छोटे भाई थे। परतु इनका सबसे पुराना उल्लेख नाभादास के 'भक्तमाल' मे है। उसमे इनके भाई का नाम चद्रहास दिया हुआ है। इधर जिन पुस्तको के प्रचारित होने से सोरो को तुलसीदास की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त हो रहा है, उनके अनुसार ये तुलसीदास के चचेरे और चंद्रहास के सगे भाई थे। वार्ता से जान पडता है कि ये भी युवा अवस्था मे उसी प्रकार की निकृष्ट वासना के शिकार हो चुके थे, जिसकी चर्चा सूरदास और तुलसीदास आदि भक्तों के प्रसंग में की जाती है। किंतु विटठलनाथ जी के सपर्क मे आने के बाद ये परम भगवदीय हो गए। अपनी कई पुस्तको में इन्होने लिखा है कि उन्होने किसी परम रसिक मित्र की आज्ञा से उन ग्रंथो की रचना की है। यह परम रसिक मित्र कौन थे, इसके विषय में विद्वानो की अनेक कल्पनाएँ है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' मे लिखा है कि किसी एक हिंदू राजा की पुत्री रूपमजरी अकबर को व्याही गई थी, पर वह उसका स्पर्श नही करती थी। उसको देखकर ही अकबर सतुष्ट रहा करता था। रूपमजरी नित्य मुँह मे गुट्टा रख

नददास

कर नंददास के पास जाया करती थी। यह बहुत उच्चकोटि की भक्त थी। यहाँ तक बताया गया है कि गोवर्द्धननाथजी नित्य प्रत्यक्ष होकर रूपमंजरी के यहाँ स्वयं भोग लगाने जाया करते थे। कहते हैं, नंददास कृत 'रूपमजरी' नामक पुस्तक में रूपमजरी नाम की नायिका यही भक्त महिला है। इस पुस्तक का दूसरा महत्वपूर्ण पात्र इन्दुमती, जो रूपमजरी की प्रिय नर्म सखी है, स्वयं कृष्णदास हैं। इस प्रकार जिस परम रसिक मित्र के आग्रह पर उन्होंने 'रसमजरी', 'रास पचाध्यायी', आदि ग्रंथ लिखे हैं वह यही रूपमजरी है। परतु यह अनुमान ही अनुमान है। इस बात को सिद्ध करने के लिये कोई बहुत प्रबल और पुष्ट प्रमाण हमारे पास नहीं है।

नंददास बहुत प्रतिभाशाली कवि थे। इनकी रचनाओं[1] में अनेक प्रकार के काव्यरूपो का परिचय मिलता है।

नंददास के काव्य

'रास पंचाध्यायी' और 'सिद्धांत पचाध्यायी' तो मुख्य रूप से भागवत के 'रास पचाध्यायी' के सरस भाषातर है। 'सिद्धांत पंचाध्यायी' मे उन्होंने भक्ति-सिद्धांत के कुछ नियमों का

इनका जन्म सनाढ्य ब्राह्मण वश में हुआ था । विरक्त हो कर वृन्दावन मे रहने लगे थे । इनके मनोहर गान की ख्याति ऐसी थी कि स्वय तानसेन इनके गाने सुनने उपस्थित हुए थे । गोस्वामी विट्ठलनाथ जा के सपर्क मे आने के बाद ये भगवान् की सगुण लीलाओ के पद रचने लगे । इनकी भी कोई बडी रचना प्राप्त नही हुई है, केवल फुटकल पद ही प्राप्त होते हैं ।

गोविद स्वामी

अष्टछाप के सभी कवियो मे लीलागान और भगवान् का रूप-माधुर्य वर्णन करने की प्रवृत्ति है । प्राय: ही ये लोग इस सकीर्ण सीमा के बाहर नही गए, केवल नददास ने कुछ अन्य विषयो को भी अपनी कविता का विषय बनाया था । इनकी रचनाओ मे जिस प्रकार की प्रौढ और परिमार्जित भाषा का व्यवहार है उसकी एक निश्चित परपरा होनी चाहिए, वह एक दिन की गढी हुई भाषा नही है । उसके पीछे निश्चित रूप से कुछ शताब्दियो का इतिहास होना चाहिए । निस्सदेह यह तत्काल प्रचलित लौकिक रीति-परंपरा का ही रूपातर है । इन भक्ति भाव की रचनाओ के प्रचार के बाद लौकिक रस की परंपरा फीकी पड़कर निर्जीव हो गई । इन कवियो ने उसमे नया प्राण सचारित किया और नया तेज भर दिया । परवर्ती काल की ब्रजभाषा को लीला-निकेत भगवान् श्रीकृष्ण के गुणगान के साथ एकात भाव से बाँध देने का श्रेय इन्ही कवियो को प्राप्त है ।

अष्टछाप के कवियो की विशेषता

मीराबाई हिंदी की प्रसिद्ध भक्त कवि है । कर्नल टॉड के

अनुसार ये महाराणा कुंभा की स्त्री थी, किंतु मुंशी देवीप्रसाद और महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा

मीराबाई

जैसे इतिहास-लेखको को यह बात इतिहास-विरुद्ध जान पड़ी। परपरा के अनुसार मीराबाई राव जोधा जी के वंश मे उत्पन्न हुई थी। इनके पदों में प्राय. ही उनके लिये मेड़तणी शब्द का प्रयोग है जिससे सूचित होता है कि वे मेड़ता की रहने वाली थी। मेड़ता को सन् १४६१ ई० में राव दूदाजी ने बसाया था, इसलिये मेड़ताणी शब्द का प्रयोग इस काल के बाद ही हो सकता है। ऐसी हालत में मीराबाई का सबंध महाराणा कुंभा से, जिनकी मृत्यु सन् १४६८ ई० में हो चुकी थी, नही जोड़ा जा सकता। इसलिये इन इतिहास-लेखको ने उदयपुर के किसी और राणा के साथ इनका सबंध जोड़ने का प्रयास किया है। नाभादास जी के भक्तमाल और उस पर प्रियादास की टीका मे इस बात का बहुत उल्लेख है कि किस प्रकार राणा ने मीराबाई को साधुसग से विरत करना चाहा था और जहर देकर मार डालना चाहा था। सबसे पहले विलियम क्रुक ने सकेत किया था कि मीराबाई वस्तुत. राणा कुभा की स्त्री नही थी बल्कि राणा साँगा के पुत्र भोजराज को ब्याही गई थी। परपरा यह प्रचलित है कि मीराबाई विधवा हो गई थी और इनके देवर राणा ने अपने कुल-मर्यादा की रक्षा के लिये नाना भाँति से साधुसंग मे विरत किया परतु इधर पद्मावती देवी 'शबनम' ने मीरा के अनेक पदों[1] से यह सिद्ध किया है कि वे वस्तुत:

---

१ मीराबाई की मुद्रित पुस्तकें—(१)—के भजन, सिद्धेश्वर प्रेस, बनारस १६०५; (२)—के भजन, कानपुर, (३) शब्दावली, बेल० इलाहाबाद, १६१०; (४) मीरा-मंदाकिनी (नरोत्तमदास), आगरा १६३०, (५) पदावली (परशुराम चतुर्वेदी) प्रयाग १६४२, (६) मीराबाई-बृहत्पदसग्रह (पद्मावतीदेवी) बनारस १६५२।

सुहागिन थी और उनके ऊपर जो अत्याचार हो रहे थे वे संभवत. उनके पति की ओर से ही हो रहे थे। अपर्याप्त सामग्री के कारण मीराबाई के जन्म आदि के बारे में कुछ भी कहना कठिन है। साधारणत' यह विश्वास किया जाता है कि मीराबाई सन् ईस्वी की १६वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अवश्य ही जीवित थी। किंवदंतियाँ उनका जीव गोस्वामी, रैदास, तुलसीदास और कृष्णदास अधिकारी आदि से साक्षात्कार या पत्रव्यवहार होने का समर्थन करती है। उनके पदो मे रैदास को गुरु के रूप मे स्मरण किया गया है। यह कहना बहुत कठिन है कि ये पद कहाँ तक प्रामाणिक है। उनके विषय मे यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने जीव गोस्वामी से दीक्षा ली थी। इस प्रकार उनका सबंध एक तरफ तो सगुण-मार्गी भक्तो से सिद्ध होता है और दूसरी तरफ निर्गुणमार्गी भक्तो से भी उनका संबध जोडा जाता है। फिर उनके भजनों मे किसी ऐसे गुरु की भी चर्चा आती है जो नाथपथी साधु जान पडते है। इन सब बातो का एक ही निष्कर्ष निकल सकता है कि मीराबाई अत्यंत उदार मनोभावापन्न भक्त थी। उन्हें किसी पथ-विशेष पर आग्रह नही था। जहाँ कही भी उन्हें भक्ति या चारित्र्य मिला है वही उन्होने उसे सिरमाथे चढाया है। कहते है कि उन्होने तुलसीदास को भी एक पत्र लिखा था, जिसमे उन्होने हरिभक्तो की सत्सगति से वचित रह जाने के क्लेश का व्यौरा दिया था और पूछा था कि ऐसी अवस्था मे क्या कर्त्तव्य हो सकता है। तुलसीदास ने उत्तर में विनयपत्रिका का यह पद लिखकर भेजा था—

जाके प्रिय न राम बैदेही,

सो नर तजिय कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।

इत्यादि।

परतु ऐतिहासिक पडितो का अनुमान है कि मीराबाई की मृत्यु सन् १५४६ ई० मे हो चुकी थी। इसलिये तुलसीदास को पत्र लिखने की बात किवदती मात्र है।

मीराबाई के पदो मे अपूर्व भाव-विह्वलता और आत्म-समर्पण का भाव है। इनके माधुर्य ने हिंदी-भाषी क्षेत्र के बाहर के भी सहृदयो को आकृष्ट और प्रभावित किया है। माधुर्यभाव के अन्यान्य भक्त कवियो की भाँति मीरा का प्रेमनिवेदन और विरह-व्याकुलता अभिमानाश्रित और अध्यतरित नही है बल्कि सहज और साक्षात् सबधित है। इसीलिये इन पदो मे जिस श्रेणी की अनुभूति प्राप्त होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वह सहृदय को स्पदित और चालित करती है और अपने रग मे रँग डालती है।

मीराबाई का कवित्व

उनके कुछ पदो मे निर्गुणभाव की भक्ति भी मिलती है। परंतु गिरिधर नागर को उद्देश्य करके लिखे गए भजनों मे मीराबाई जिस प्रकार सहज और स्व-स्थित दीखती है, उस प्रकार इन भजनो में नही दीखती। वस्तुत. अध्यतरित, अनभिमानसिद्ध, सहज आत्म-समर्पण का वेग जितना सगुणमार्ग के भजनो मे है उतना निर्गुणमार्ग के भजनो मे नही है। भगवद्विरह की पीडा को कम कवियो ने इतना मादक और प्रभावोत्पादक बनाकर प्रकट किया होगा।

राधावल्लभी सप्रदाय के आचार्य गोस्वामी हितहरिवंश का जन्म गौड़ ब्राह्मण वश मे हुआ था। इस सप्रदाय के भक्त प० गोपालप्रसाद शर्मा ने इनका जन्म स० १५३० (सन् १४७३ ई०) में माना है, परतु ओरछा-नरेश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु श्री हरिराम जी व्यास ने स० १६२२

गोस्वामी हितहरिवंश

(अर्थात् १५६५ ई०) के आसपास इनसे दीक्षा ली थी। इस बात को ध्यान में रखकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनका जन्म इसके पश्चात् होना उचित समझा है। शुक्ल जी के अनुसार यह समय स० १५५९ (सन् १५०२ ई०) होना चाहिये। उन्होने यह भी लिखा है कि "हितहरिवश जी पहले माध्वानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे, पीछे राधिका जी ने इन्हें स्वप्न मे मत्र दिया और इन्होने अपना एक अलग सप्रदाय चलाया अतएव हित सप्रदाय को माध्व संप्रदाय के भीतर मान सकते हं।" ऐसा जान पडता है कि हित जी के सवध में प्रामाणिक सामग्री के अभाव के कारण अनेक प्रकार की अनुमानाश्रित धारणाएँ प्रचलित होगईं। मैने स्वय 'हिंदी साहित्य की भूमिका' मे लिखा था कि सनकादि संप्रदाय का "एक नाममात्र का शाखा-सप्रदाय राधावल्लभीय है, जिसे हिंदी के प्रसिद्ध कवि हितहरिवश ने प्रवर्तित किया था। इस सप्रदाय में राधा के मार्फत ही भक्त अपने को भगवान् के पास निवेदित करता है। एक उप-सप्रदाय सखीभाव वालों का है जो इसी सप्रदाय का अग समझा जाता है।" मेरा यह वक्तव्य हिंदू सप्रदायो पर लिखी हुई एक अग्रेजी पुस्तक पर आधारित था। मेरे इस वक्तव्य से उक्त सप्रदाय के भक्तो को कुछ क्लेश पहुँचा था और सप्रदाय के विद्वान् भक्त श्री किशारीशरण अलि जी ने वृन्दावन से लिखे हुए २ जून १९५० और १७ सितम्बर १९५० ई० के दो पत्रो में मेरा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया और कृपापूर्वक सप्रदाय के मान्य सिद्धातो के विषय में विस्तृत और प्रामाणिक रूप से लिखा। पत्र म प्रधान रूप से 'राधासुधानिधि' को प्रमाण माना गया है। परन्तु मैने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' मे ही लिखा था कि इस पुस्तक के सबध में वृन्दावन के राधावल्लभीय और गौडीय वैष्णवो में मतभेद

है । गौड़ीय वैष्णवों का विश्वास है कि यह पुस्तक उनके ही संप्रदाय के किसी भक्त की लिखी हुई है । परंपरा से यह हित जी की रचना मानी जाती रही है । जब तक बहुत पुष्ट प्रमाण न प्राप्त हो जाएँ तब तक परंपरा को यों ही अस्वीकार नही किया जा सकता । इसलिये श्री किशोरीसरण अलि जी की बात मे संदेह करने का कोई कारण नही दीखता ।

नाभादास जी ने इनके विषय में लिखा है ।

श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोउ जानिहै ।
श्री राधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी ।
कुंज केलि दम्पती तहाँ की करत खवासी ।
सरवस महा प्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी ।
विधि निषेध नहि दास अनन्य उत्कट व्रतधारी ।
श्री व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई भलै पहिचानि है ।

श्री नाभाजी के उक्त छप्पय से स्पष्ट है कि गोसाईं हितहरिवश की उपासना-पद्धति अन्यान्य सप्रदायो की भक्ति-पद्धति से भिन्न थी। इसे कोई विरला ही जान सकता है। इस मत की प्रधान उल्लेख योग्य बाते ये है—१. श्री राधाचरण की प्रधानता, २. कुंजिकेलि दंपति की खवासी अर्थात् किंकरी और सखी-भाव, ३. महाप्रसाद की निष्ठा, ४. विधि-निषेध का सर्वथा त्याग, ५. अनन्य दास भाव ।

गो० हितहरिवश का भक्तिमत

गौड़ीय संप्रदाय के महात्मा श्री भागवत मुदित जी ने अपने 'रसिक अनन्य माल' नामक ग्रंथ में बताया है—

जे आए हरिवंश पथ, सिद्ध भए जु अनन्य ।
भगवत तिनकी परिचयी बरणौं होंहि सुधन्य ।

और—श्री हरिवंश सुधर्म दृढ जगत क्रिया ते ऐण।
श्री राधावल्लभ इष्ट भजि, तोरी प्राकृत मैण।

इससे भी सिद्ध होना है कि श्री हितहरिवंश का संप्रदाय स्वतत्र है। उनके इष्ट राधावल्लभ है और वे प्राकृत विधि-निषेध की व्याख्या को नही मानते।

१. श्री किशोरीशरण अलि जी ने बताया है कि इस संप्रदाय मे श्री राधा ही परम इष्ट है और भगवान् श्रीकृष्ण स्वेष्ट सबंधी (प्रियतम) होने के कारण ही प्रिय और समान्य है। वे इष्ट नही है।

२ वे (कृष्ण जी) श्री राधा जी की किंकरियों से श्री राधा प्रसाद की प्राप्ति के लिये सदा चाटुकारिता करते रहते है और विनयावनत बने रहते है।

३. यह किंकरी और सखी स्वरूप ही इस संप्रदाय का अपना निज और नित्य रूप है (परकीया गोपी रूप नही जिनका कि श्रीकृष्ण से स्वतत्र कात संबध रहता है और श्री राधा जी से सपत्नी भाव)। निगमागम से अगोचर सच्चिदानदघन विग्रह श्रीराधाकृष्ण नित्य किशोर युगल रूप से श्री वृदावन मे ऐसी प्रेमक्रीडा किया करते है जो स्व-कीया और परकीया भाव से असप्रज्ञात है और यथासमय स्वेच्छा से ये युगल व्रजेंद्रनंदन और श्री वृषभानुनदिनी नाम से व्रज में प्रकट होकर अपनी रसरहस्यलीला से निज रसिकजनो को आनदप्लावित किया करते हैं। तब श्रीकृष्ण विषय और श्रीराधिका सह समस्त गोपियाँ आश्रय होती है। इसी श्रुतिगोचर ब्रजलीला की उपासना तथा गान अन्य समस्त रसिको ने किया है।

श्री गोसाईं हितहरिवंश जी की संस्कृत रचना अत्यंत सरस और प्रौढ़ है और उनकी व्रजभाषा की रचनाएँ भी उसी प्रकार की उच्चकोटि की हैं।[1] श्री राधादेवी के संबंध में ऐसी मोहक और आकर्षक कविता वही लिख सकता है जिसने सर्वात्मना अपने को उनकी प्रीतिप्रसाद के लिये ही समर्पित कर दिया हो। 'हित-चौरासी' नामक ग्रंथ ही छपा है। परंतु खोज रपोर्ट में उनकी कुछ और रचनाओं का भी पता चला है। अनन्य भक्ति और मधुर पद-बंध दोनों ही दृष्टियों से हितहरिवंश जी व्रज-भाषा के चोटी के दो-तीन कवियों में गिने जाने योग्य हैं।

रचनाएं

यह काल भक्त कवियों का है। ऐसे अनेक कवि भी इस काल में हुए जो लौकिक रस की कविता के लिये प्रसिद्ध हैं। कभी-कभी ऐसे कवियों में भी भक्ति की धारा प्रबल रूप में प्राप्त होती है। ऐसे अनेक भक्त कवि इस काल में हुए जिन्होंने तत्कालीन धर्म साधना को प्रेरणा दी है। (१) 'हरिचरित्र' और 'भागवतदशमस्कंध भाषा' के लेखक लालचदास (सन् १५२८ ई०) जिनकी भाषा अवधी है और दोहा-चौपाई की शैली अधिक मान्य है, (२) सूरदास मदनमोहन (अकबर के समकालीन) जिनकी बहुत-सी कविताएँ सूरदास की कविताओं में घुल गई हैं और जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि वे अकबर के अमीन थे और उनके खजाने का १३ लाख रुपया साधु सेवा में बिना अनुमति के व्यय कर दिया था, (३) 'सुदामाचरित' के लोकप्रिय

इस काल के कुछ अन्य कवि

---

१. मुद्रित पुस्तकें—(१) वृन्दावन शतक, लक्ष्मी वेंकटेश्वर, कल्याण १८९४; (२) हितचौरासी जी (गोस्वामी गोवर्धन लाल), वृन्दावन १९०६; (३) हित-सुधासागर (श्री नारायण) अलीगढ़ १९३६.

लेखक नरोत्तमदास (सन् १५४५ ई०); (४) चैतन्य महाप्रभु के दीक्षाप्राप्त शिष्य और उन्हें भागवत की कथा सुनाने वाले दक्षिणी ब्राह्मण गदाधर भट्ट जो सस्कृत के दिग्गज पंडित होकर भी ब्रजभाषा मे बडी मधुर कविता लिखा करते थे और जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि उनका एक ऐसा ही पद सुनकर जीवगोस्वामीपाद ने एक श्लोक लिखा था[१], जिसमें बताया था कि राधा जी के चरण-युगलो की सेवा किए विना और वृन्दावन मे वास किए विना तथा उनके भाव से भावित भक्तो का सत्सग किए विना श्यामसमुद्र के रस का अवगाहन कैसे हो सकता है, और इसी श्लोक (समुद्र) को सुनकर महाप्रभु के आश्रित हुए थे, (५) निंबार्कमतातर्गत टट्टी सम्प्रदाय के आचार्य सगीतकला विशारद स्वामी हरिदास (अकबर के समकालीन) जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि वेश बदल कर देशपति अकबर और तानसेन उनके गान सुना करते थे और जिनकी कोई एक निश्चित पुस्तक तो नही परतु 'हरिदासजी के ग्रथ', 'स्वामी हरिदासजी के पद', 'हरिदासजी की वानी' आदि सग्रह ग्रथ मिलते हैं और नाभाजी के अनुसार जिनके दरवाजे पर दर्शनार्थ बडे-बडे राजा भी खडे रहा करते थे; (६) 'युगलशतक' के तन्मयी भाव की कविता के लेखक श्रीभट्ट (सन् १५६५ ई०) जिनको नाभा जी ने 'मधुर भाव संमिलित ललित लीला सुवलित छवि' का निरखनहार वताया है, (७) बुंदेलखण्ड के लोकप्रिय कवि व्यासजी (१६वी शताव्दी) जो वृन्दावन आकर राधावल्लभी संप्रदाय मे दीक्षित हुए थे और पहले ओरछा-नरेश मधुकरशाह के राजगुरु और वैष्णव

१. अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्म—
मनाश्रित्य वृन्दाटवी तत्पदाङ्काम्।
असभाष्य तद्भावगभीरचित्तान्।
कुत' श्यामसिंधो रसस्यावगाह ?

संप्रदाय मे दीक्षित थे और वाद मे हितहरिवंश जी के शिष्य हो गए थे, जो सदा शास्त्रार्थ के लिये पडितो से ताल ठोका करते थे, परतु हित जी के एक पद से[1] हमेशा के लिये हतदर्प होकर भगवद्भक्त हो गए थे और जिनकी राधाभाव की कविताएँ जितनी मधुर हे उतनी ही प्रभावशालिनी, और जिनके 'रास पचाध्यायी' को गलती से लोगो ने सूरसागर मे मिला दिया है; (८) स्वप्न मे हितहरिवंश जी के शिष्य वने ध्रुवदास जी जिन्होने पद, दोहा, चोपाई, सवैया, कवित्त आदि मे छोटे-वड़े चालीस ग्रंथ लिखे है और नाभा जी के भक्तमाल के अनुकरण पर भक्त-नामावली नाम की महत्वपूर्ण रचना लिखी है, (९) ज्ञानभक्ति वैराग्य के मधुर कवि निपट निरजन (जन्म १५३९ ई०), (१०) भ्रमरगीत के विषय पर प्रेमतरगिणी काव्य के लेखक लक्ष्मीनारायण नारायण, (११) 'बलभद्री व्याकरण', 'हनुमन्नाटक', 'गोवर्द्धन सतसई की टीका', 'भूषण विचार' और 'नखसिख' के लेखक महाकवि केशवदास के वडे भाई वलभद्र मिश्र, (१२) राधाकृष्ण के एकत्वख्यापक 'केलिकल्लोल' के लेखक प्रेमकवि मोहन (जन्म १६१७ ई०) (१३) 'अलकशतक' और 'तिलशतक' के यशस्वी लेखक मुबारक जिनकी चोट करने वाली उत्प्रेक्षाएँ और चित्र खड़ा कर देने वाली उपमाएँ बेजोड़ मानी जाती है, (१४) अनेक जैन ग्रथो के रचयिता और प्रथम हिंदी आत्मकथा के लेखक जौनपुर के बनारसीदास (जन्म सन् १५८६ ई०), (१५) वल्लभाख्यात की व्रजभाषा टीका के लेखक वल्लभ मतानुयायी व्रजभार दीक्षित; (१६–२१) सुन्दरदास, चतुरदास, भुवाल, धर्मदास, शुकदेव मिश्र, रसिकदास आदि कृष्णभक्त कवि हुए है।

---

१. यह जु एक मन वहुत ठौर करि कहि कौने सचु पाए।
जहँ तहँ विपति जार जुवती ज्यों प्रगट पिंगला गाए ॥
इत्यादि

अकबर के दरबार में अनेक उच्चकोटि के हिंदी कवि हुए है। इन सबमें श्रेष्ठ खानखाना अब्दुर्रहीम है जो

अकबरी दरबार के कवि

अमीर खुसरो की भाँति तुर्की, फारसी, अरबी, और सस्कृत भाषाओं के जानकार थे और जिनकी सास्कृतिक पृष्ठभूमि अत्यत महान् और उदार थी। इनका जन्म सन् १५६७ ई० मे हुआ था और मुगल दरबार के कई राजाओ का आश्रय प्राप्त करने का सौभाग्य इन्हें मिल चुका था। जीवन के इतने उतार-चढाव देखनेवाले कवि बहुत विरले होते है। इनके दोहों में वैभव के दोष और गुण बहुत स्पष्ट झलकते है।[१] भर्तृहरि के श्लोको की भाँति उनमे जीवन की अनुभूत सच्चाई है, और सपत्ति मद से विह्वल लोगो के हृदय का यथार्थ चित्रण है। नीति और अन्योक्तियों की दृष्टि से रहीम के दोहे बेजोड है। इन दोहो की मर्मस्पर्शिता का सबसे बडा प्रमाण यह है कि साधारण जनता ने इनके आधार पर बहुत सी कहानियाँ बना ली है। दोहो के भावो के अनुसार रहीम के जीवन की परिस्थितियो की कल्पना की गई है और इस प्रकार साधारण जनता ने इस विश्वास पर मोहर लगा दिया है कि ये दोहे जीवन से सीधे निकले है। यह कह सकना तो कठिन है कि इन गढी हुई कहानियो मे कितना तथ्य है परतु वे जनचित्त की परिशसा का सकेत अवश्य करती है।

रहीम की रचनाएँ जीवनरस से परिपूर्ण है। मानसिक

---

१. प्रकाशित ग्रथ—(१) नीति कुडल, आगरा १८९२, (२) बरवै नायिकाभेद, भारत जीवन प्रेस, बनारस १८९३, (३) खेटकौतुकम्, वेंकटेश्वर प्रेस १९०१, (४) रहीम रत्नावली (याज्ञिक) १९२८, (५) रहीम (रामनरेश त्रिपाठी) इलाहाबाद १९२१, (६) रहिमनविनोद १९२८, (७) रहिमनसुधा, पटना १९२८, (८) रहिमन शतक, भगवानदीन, काशी १९३०।

औदार्य, सास्कृतिक विशालता और धार्मिक सहिष्णुता के विषय मे रहीम की तुलना गिने-चुने लोगो मे की जा सकती है। इतने विस्तृत सास्कृतिक आधार फल पर जीवन को देखने वाले कवि की

रहीम

'खेट कौतुकम्' जैसे अरबी, फारसी, सस्कृत, हिंदी के मिश्रण का कौतुक और 'मदनाष्टक' की मौज, आश्चर्य और कुतूहल का विषय बन जाती है। निस्सदेह इस कवि का हृदय मानवीय रस से परिपूर्ण और अनासक्त तथा अनाविल सौदर्य दृष्टि से समृद्ध था। जीवन के अनेक घात-प्रतिघात के भीतर से भी, राजकीय षड्यत्रो के चपेट मे वार-बार आते रहने के बाद भी, और हर प्रकर के उतार-चढाव में उठते-गिरते रहने के बाद भी, जिस कवि के हृदय का मानवीय रस नि शेष नही हुआ उसके हृदय की अद्भुत सरसता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। इनका 'बरवै नायिकाभेद' इतनी सरस रचना है कि, कहते है कि, गोसाईं तुलसीदास जी उससे प्रभावित हुए थे और वरवै छद मे रामायण की कथा लिखने को उत्साहित हुए थे। इन्होने रास पचाध्यायी पर भी एक पुस्तक लिखी थी जो अभी तक प्राप्त नही हुई है। इनके ग्रथो मे 'रहीम दोहावली', 'वरवै नायिकाभेद', 'मदनाष्टक' और 'शृगार सोरठ' तथा 'रास-पचाध्यायी' नाम की पुस्तकें प्रसिद्ध हे। गोस्वामी जी की मृत्यु के दो वर्ष बाद सन् १६२५ ई० मे इनकी मृत्यु बताई जाती है।

अकबर के दरबार में एक और बडे श्रेष्ठ कवि थे गंग (कविताकाल १६०० ई०) जिनकी कोई स्वतंत्र रचना तो प्राप्त नही हुई है परंतु फुटकल पद, कवित्त आदि अनेक प्राप्त हुए है। फिर महापात्र नरहरि बदीजन (सन् १५१५—१६१० ई०)

गग

जिनके 'रुक्मिणी-मगल', 'छप्पयनीति', और कवित्त-

संग्रह' प्राप्त है, महाराज बीरबल जो सम्राट अकबर के अत्यत अंतरंग और सहृदय मित्र और मत्री बताए जाते हैं; महाराज टोडरमल जो अकबर के भूकर विभाग के मत्री थे; तथा अकबर के दरबारी कछवाहा सरदार मनोहर कवि आदि कई कवि अकबर के दरबार मे हिंदी कविता के उन्नायक थे। स्वयं सम्राट अकबर भी हिंदी मे कविता लिखा करते थे। एक मौजी कवि होलराय थे जो अपने आश्रयदाता श्रीहरिवशराय का यशगान किया करते थे। ये अकबर के दरबार मे प्राय' जाया करते थे। एक बार तुलसीदास जी के लोटे पर प्रसन्न होकर, कहते हैं, कह उठे थे---'लोटा तुलसीदास को लाख टका को मोल।' इस पर तुलसीदास ने प्रसन्न होकर कहा---'मोल तोल कछु है नही लेहु राय कवि होल।'

ऊपर प्रसंगवश जिन कवियो की चर्चा कर दी गई है उनमे भी श्रीकृष्णभक्ति का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य मिलता है। वस्तुत. श्रीकृष्णभक्ति इस काल का प्रमुख काव्य-विषय है। सत्रहवी शताब्दी तक के साहित्य में इसकी प्रधानता वनी रही। यद्यपि कृष्णकाव्य आगे चलकर साहित्य की प्रमुख धारा नही रह गया पर उसका प्रभाव बीसवी शताब्दी तक के साहित्य पर भी रहा है।

श्रीकृष्णभक्ति विषयक काव्य मे एक ऐसा माधुर्य है जो धर्म और विश्वास के बधनो से बहुत ऊपर है। इस काल में मुगल सम्राटो का शासन था। कितने ही भक्तो के विषय मे प्रसिद्ध है कि उन्हे सम्राट अकबर ने बुलाकर सम्मानित किया। सूरदास, कुभनदास, स्वामी हरिदास आदि के मधुरभाव के भावित भजनों ने सम्राट का हृदय हरण किया था। बादशाह के अपने कर्मचारियो में सडीले के अमीन

सूरदास मदनमोहन के विषय मे प्रसिद्ध है कि उन्होंने सारा कोश साधुओं की खातिरदारी में खर्च कर दिया और फिर रातोंरात सडीला छोड़कर भाग गए। बादशाह ने जब सुना तो उसने उनका अपराध क्षमा कर दिया। यह सूरदास बहुत अच्छे भक्त कवि हुए है। इनके पदो मे ऐसा सुन्दर माधुर्य भाव पाया जाता है कि भक्तवर नाभादास ने इन्हे "गान काव्य गुनरासि सुहृद सहचरि अवतारी" और "राधाकृष्ण उपासि, रहस सुख के अधिकारी" कहा है। जिन भजनो मे मधुर भाव बोलता दिखता हो उनके लेखक को "रहस सुख के अधिकारी" कहना ही उचित है। वृन्दावन उन दिनो ऐसी मधुर भक्ति का केंद्र था। शायद ही ससार के किसी अन्य साहित्य में मनुष्य की भीतरी अनुराग-लालसा को इतनी महिमा से मडित करके प्रकट किया गया हो। वृन्दावन का भक्ति साहित्य सब प्रकार से अपूर्व है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, श्रीकृष्णभक्ति के साहित्य मे जिस मधुर भाव पर बहुत अधिक बल दिया गया है उसमे विश्वजनीन तत्त्व है। धर्म सप्रदाय और विश्वासो के बाहरी बधन उस विश्वजनीन माधुर्य तत्व के आकर्षण को रोक नही सके हैं।

रसखानि

उन दिनो अनेक मुस्लिम सहृदय इस मधुर भाव की भक्ति-साधना से आकृष्ट हुए थे। इन सबमे प्रमुख हैं 'बादसा वंश की ठसक' छोडने वाले सुजान रसखानि। इस नाम के दो मुसलमान भक्त कवि बताए जाते ह। एक तो सैयद इब्राहीम पिहानी वाले और दूसरे गोसाईं विट्ठलनाथ जी के कृपापात्र शिष्य सुजान रसखान। दूसरे अधिक प्रसिद्ध है। संभवत. ये पठान थे। इसीलिये अपने को 'बादसा वश का' लिखा है। "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" मे इनके आरभिक यौवन-काल की कुत्सित प्रेम-भावना का उल्लेख है। कहते हैं

चार महात्माओ के सत्संग से इनकी गलत ढंग की प्रेम-वासना भगवद्‌भक्ति मे वदल गई। इनकी दो रचनाएँ प्राप्त है—'सुजान रसखान' और 'प्रेमवाटिका'। 'सुजान रसखान' मे १२९ पद्य है, जिनमें अधिकाश सवैया और कवित्त है, कुछ थोडे से दोहे भी है। किंतु 'प्रेमवाटिका' केवल दोहो मे लिखी गई है। दोहो की संख्या ५२ है। सहज आत्म-समर्पण, अखंड विश्वास और अनन्य निष्ठा की दृष्टि से रसखान की रचनाओ की तुलना बहुत थोडे भक्त कवियो से की जा सकती है। इन्होने अपनी 'प्रेमवाटिका' सन् १६१४ ई० में लिखी थी। अनुमान किया गया है कि १६वी शताब्दी के मध्यभाग में उनका जन्म हुआ होगा।[1]

१७वी शताब्दी मे भक्त कवियो की परपरा वरावर चलती रही, परंतु आरंभिक भक्ति आदोलन काल मे जैसे मनस्वी और शक्तिशाली साहित्यकार पैदा हुए, वैसे इस काल मे नही हो सके। फिर भी व्रजभाषा को भक्त कवियो ने निरंतर मधुर और सरस वनाया। भक्ति भाव इन दिनो में भी हिंदी साहित्य की प्रधान चालक शक्ति वना रहा। १६वी शताव्दी के अंत में ध्रुवदास का जन्म हुआ, जो गोस्वामी हितहरिवंश की परंपरा में पडते है। इनका काव्य-रचनाकाल १७वी शताव्दी ही है। इनकी लगभग ४० पुस्तकें प्राप्त हुई है[2] जिनमें कुछ के वारे मे

ध्रुवदास

---

१ रसखानि के मुद्रित ग्रथ—

१. श्री रसखानि शतक, खड्गविलास, वाँकीपुर १८९२; २ सुजान रसखान, भारत जीवन, वनारस १८९२ ३ प्रेम वाटिका (किशोरीलाल गो०), वृन्दावन १८६७, ४. पदावली, इलाहावाद १९३०, ५ रसखानि और घनआनद, वनारस।

२ ध्रुवदास के प्रसिद्ध ग्रथ—

१. वृन्दावन सत २ सिंगार सत ३. रसरत्नावली ४. नेह मन्जरी ५. रहस्य

वेद्वानों को सन्देह है कि वे ध्रुवदास की रचना है या नही। इनकी भक्त नामावली नामक पुस्तक हिंदी साहित्य के विद्यार्थियो के वड़े काम की है। यह दो वार प्रकाशित भी हो चुकी है। एक वार काशी नागरी प्रचारिणी सभा से १६१६में, फिर इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से १९२६ मे। कई रचनाएँ दोहा-चौपाई मे लिखी गई है। नेहमंजरी, रहस्यमजरी, रतिमजरी, प्रेमलता आदि पुस्तके दोहा-चौपाई वाली शैली में लिखी गई है। ऐसा जान पड़ता है कि नददास की 'रूपमजरी' इन कथाओ का आदर्श है। परंतु प्रेम-कथानको की भाति इनकी कहानी मे लौकिक कथा का आश्रय नही लिया गया। ये सभी शास्त्र-प्रसिद्ध राधा और कृष्ण की प्रेमलीलाओ से वनी है।

आनंदघन

इनके कुछ समय वाद प्रसिद्ध भक्त कवि आनदघन या घनआनद हुए जिनके विषय मे प्रसिद्ध है कि दिल्ली के वादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुंशी थे और सुजान नाम की किसी वेश्या पर आसक्त थे। कहते है कि एक वार वादशाह की आज्ञा पाकर भी इन्होने गान नही किया परतु सुजान के इशारे पर गाने लगे। इससे वादशाह वहुत असन्तुष्ट हुए। वाद मे

मजरी ६. सुख मजरी ७. रति मजरी ८ वन विहार ९. रग विहार १० रस विहार ११. आनद दसा विनोद १२. रग विनोद १३ नृत्य विलास १४. रग हुलास १५. मानरस लीला १६ रहसि लता १७. प्रेमलता १८ प्रेमावली १९. भजन कुण्डलिया २० भक्त नामावली २१. मन सिंगार २२. भजन स्त २३ मन शिक्षा २४ प्रीति चौवनी २५ रस मुक्तावली २६. वावन वृहद् पुराण की भाषा २७. सभा मण्डली २८. रसानद लीला २९. ख्याल हुलास लीला ३०. सिद्धात विचार ३१ रस हीरावली ३२. हित सिंगार लीला ३३ भ्रम लीला ३४ आनद लता ३५ अनुराग लता ३६. जीव दशा ३७ वैद्य लीला ३८ दान लीला ३९. व्याहलो ४०. व्यालिस वानौ। इनमें मन शिक्षा, ख्याल हुलास लीला और व्यालिस वानौ स्देहास्पद हैं।

ये वृन्दावन मे आकर रहने लगे, और भक्तिपरक रचनाएँ लिखने लगे। वृद्धावस्था में भी वे सुजान शब्द को नही भूले। अपनी कविताओ में सुजान शब्द का व्यवहार वे किसी-न-किसी वहाने अवश्य कर देते है। भक्ति पक्ष में सुजान शब्द श्रीकृष्ण का वाचक है। इनकी कविता में वडी तन्मय भावना है।[1] इनकी मृत्यु नादिरशाह के सिपाहियो के हाथ सन् १७३६ ई० मे हुइ। सिपाहियो ने इनके साथ वडा अत्याचार किया था। मृत्यु के समय उन्होने जो कवित्त लिखा था, उसमे उनकी अनन्य भक्ति और एकान्त निष्ठा प्रकट हुई है। इस कवित्त मे भी वे सुजान का नाम नही भूले, और यदि यही कविता उनकी अंतिम कविता है, तो कहना पड़ेगा कि सुजान का नाम लेकर ही उन्होने अपने भक्ति-काव्य को समाप्त किया।

वहुत दिनान की अवधि आस पास परे
खरे अरवरे है भरे है उठि जान कों।
कहि-कहि आवत छवीले मनभावन को
गहि-गहि राखति ही दै दै सनमान को॥
झूठी वतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै
अव ना घिरत 'घन आनँद' निदान कों।
अधर लगे है आनि करिकै पयान प्रान
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान कौं॥

इनके 'कृपाकाडनिवंध,' 'रसकेलिवल्ली,' 'सुजान-सागर' और 'वानी' नाम के ग्रंथ प्राप्त हुए है। 'वानी' में राधाकृष्ण के विहार और अष्टयाम के पद है। शुद्ध व्रजभाषा के पद लिखने में वहुत थोड़े कवियो के साथ इनकी तुलना की जा सकती है।

---

१. मुद्रित रचनाएँ—(१) सुजानसागर (भाग १) हरिप्रकाश प्रेस, वनारस १८९७; (२) विरहलीला, काशी नागरी प्र० सभा ११०७; (३) घनआनंद और आनदघन, प्रसाद परिषद् काशी १९४

कृष्णगढ़ के राजा यशवंतसिंह नागरीदास नाम से भक्ति साहित्य मे प्रख्यात हैं। ये वल्लभ-कुल के शिष्य थे।

नागरीदास

नागरीदास नाम के और भी कई महात्मा हो गए हैं। प्रथम नागरीदास की कथा 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में आई है। ये वल्लभाचार्य के शिष्य थे, और आगरे के निवासी थे। दूसरे नागरीदास श्री हरिदास की शिष्य-परपरा में, तीसरे गोस्वामी हितहरिवश के संप्रदाय मे, और चौथे महाप्रभु चैतन्य के संप्रदाय मे दीक्षित थे। यद्यपि बादशाह अहमदशाह ने इन्हें ही कृष्णगढ़ का राजा बनाया था परंतु इनके भाई बहादुरसिंह ने विद्रोह करके गद्दी पर अधिकार कर लिया था। बाद में मराठो की सहायता से इन्होने गद्दी पर अधिकार किया। परंतु गृह-कलह से बडा धक्का लगा। राज काज से ऊब कर ये व्रज की ओर चले आए। सन् १७६४ ई० मे इनका स्वर्गवास हुआ। जीवन के अंतिम चालीस वर्षों मे इन्होंने निरतर साहित्य-सेवा की। इनके ग्रथो की संख्या ७५ बताई जाती है, इनमे से ७३ पुस्तको का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। इन रचनाओ में वैराग्य, शृगार और भक्ति के पद हैं। इनकी पत्नी बनीठनी जी भी रसिकबिहारी छाप देकर कविता लिखा करती थी। इनकी एक रचना 'इश्कचमन' है, जिससे इनके फारसी साहित्य और परपरा के ज्ञान का पता चलता है।

भक्ति काव्य की परंपरा वृन्दावन मे अद्यावधि चलती आई है। १८वी शती के आरभ मे महात्मा वशीअली

अलबेली अलि

के कृपापात्र शिष्य श्री अलबेली अलि जी नामक महात्मा हुए, जिनकी एक पुस्तक 'समय प्रबंध-पदावली' बाबू जगन्नाथदास द्वारा संपादित होकर सन् १९०१ ई० मे प्रकाशित

हुई । ये भाषा और संस्कृत के अच्छे कवि थे। इनकी रचनाओ मे श्री राधिका के प्रति भक्ति-भावना प्रदर्शित की गई है। इनका विश्वास था कि—

विविध भाँति के और भजन जे लौन विना ज्यों विजन,
श्री राधा-पद-कमल कृपा विनु को पावै रस कौ कन ॥

अर्थात् श्री राधा जी के चरण-कमलो की कृपा से मनुष्य सच्चे रस का अधिकारी हो सकता है।

राधावल्लभीय सप्रदाय में गोस्वामी हितरूप जी हुए, जिनके शिष्य चाचा हितवृन्दावन दास हुए, जो तत्कालीन गोसाई जी के भ्राता होने के कारण चाचा जी कहलाने लगे। इनका कविता-काल सन् १७३८ ई० से आरभ होता है, और कहा जाता है कि इनके बनाए पदो की सख्या लक्षावधि थी। दुर्भाग्यवश इनकी सब रचनाएँ प्रकाशित नही हुई हैं, और सभवत प्राप्य भी नही है। इनकी ग्यारह पुस्तकें उपलब्ध हुई है।[1]

चाचा वृन्दावनदास

१८वी शताब्दी के मध्यभाग मे श्री हरिदास जी के 'टट्टी-संस्थान' में श्री भागवत रसिक नामक भक्त हुए, जो इस सस्थान के अतिम आचार्य ललित मोहिनी दास जी के शिष्य थे। यद्यपि इन्हें गद्दी का अधिकार प्राप्त हो रहा था, तथापि इन्होने उसे स्वीकार नही किया। इनकी एक पुस्तक 'अनन्य निश्चयात्मक ग्रथ' को लखनऊ के केदारनाथ जी वैश्य ने छपवाया था। इनके लिखे कुंडलिया छंद भक्ति निरूपण के सबध में बेजोड़ है।

भागवत रसिक

---

१. (१) श्री ब्रजप्रेमानद सागर, (२) हिंडोला, (३) छद्म लीला, (४) चौबीस लीला, (५) श्रीकृष्ण गिरिपूजन मंगल, (६) श्रीकृष्ण मगल, (७) रास रस, (८) अष्टयाम, (९) समय प्रबध, (१०) भक्त प्रार्थनावली, (११) श्री हितरूप चरितावली।

लगभग इसी समय श्री हितहरिवश जी की परपरा मे हठी नाम के कवि हुए, जिन्होने 'राधासुधाशतक' नाम का काव्य लिखा। राधिका के सबध मे इतने भक्ति भरे कवित्त शायद ही किसी दूसरे कवि ने लिखे हो। राधिका के चरणो के प्रति इनकी भक्ति-भावना बडी ही मधुर है। इस काल के बहुत कम भक्त कवियो मे इतनी काव्य-मर्मज्ञता रही होगी। खूब भक्ति-भाव के साथ काव्य-मर्मज्ञता के मणिकाचन योग के कारण इनकी कविता सहृदयो को आकृष्ट करती है। राधिका के चरणो के संबध मे ये कहते हं--

हठी

नवनीत गुलाब ते कोमल है, हठी कज की मजुलता इनमें।
गुललाला गुलाल प्रबाल जपा छवि ऐसी न देखी ललाइन मे।
मुनिमानस मदिर मध्य बसै वस होत है सूधे सुभाइन मे।
रहु रे मन तू चित चाइन सो वृषभानु कुमारि के पाइन मे।

यह महिमामयी राधिका जब श्रीकृष्ण का रूप धारण करती है तब तो शोभा के समुद्र मे ज्वार आ जाता है--

मोर पखा गरे गुज की माल किए नव वेष वडी छवि छाई।
पीत पटी दुपटी कटि मे लपटी लकुटी 'हठी' मो मन भाई।
छूटी लटै डुलै कुडल कान वजै मुरली धुनि मद सुहाई।
कोटिन काम गुलाम भए जब कान्ह ह्वै भानुलली वनि आई।

फिर टट्टी सस्थान की परपरा मे ही सहचरिशरण जी नाम के भक्त कवि हुए, जो १८वी शताब्दी के अतिम भाग में वर्तमान थे। इनकी दो पुस्तके प्राप्त हुई है--
१. 'ललित प्रकाश', २ 'सरस मजावली'।
'ललित प्रकाश' मे टट्टी सस्थान के सिद्धातो की व्याख्या और आचार्यों के जीवन-वृत्त है, और 'सरस

सहचरिशरण

हुई । ये भाषा और संस्कृत के अच्छे कवि थे। इनकी रचनाओं में श्री राधिका के प्रति भक्ति-भावना प्रदर्शित की ई है । इनका विश्वास था कि—

विविध भाँति के और भजन जे लौन बिना ज्यों विजन,
श्री राधा-पद-कमल कृपा बिनु को पावै रस कौं कन ॥

अर्थात् श्री राधा जी के चरण-कमलों की कृपा से मनुष्य सच्चे रस का अधिकारी हो सकता है ।

राधावल्लभीय संप्रदाय में गोस्वामी हितरूप जी हुए, जिनके शिष्य चाचा हितवृन्दावन दास हुए, जो तत्कालीन गोसाई जी के भ्राता होने के कारण चाचा जी कहलाने लगे। इनका कविता-काल सन् १७३८ ई० से आरंभ होता है, और कहा जाता है कि इनके बनाए पदों की संख्या लक्षावधि थी। दुर्भाग्यवश इनकी सब रचनाएँ प्रकाशित नहीं हुई हैं, और संभवतः प्राप्य भी नहीं हैं। इनकी ग्यारह पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं।[1]

चाचा वृन्दावनदास

१८वीं शताब्दी के मध्यभाग में श्री हरिदास जी के 'टट्टी-संस्थान' में श्री भागवत रसिक नामक भक्त हुए, जो इस संस्थान के अंतिम आचार्य ललित मोहिनी दास जी के शिष्य थे। यद्यपि इन्हें गद्दी का अधिकार प्राप्त हो रहा था, तथापि इन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। इनकी एक पुस्तक 'अनन्य निश्चयात्मक ग्रंथ' को लखनऊ के केदारनाथ जी वैश्य ने छपवाया था। इनके लिखे कुंडलिया छंद भक्ति निरूपण के संबंध में बेजोड़ हैं।

भागवत रसिक

---

१. (१) श्री ब्रजप्रेमानंद सागर, (२) हिंडोला, (३) छद्म लीला, (४) चौबीस लीला; (५) श्रीकृष्ण गिरिपूजन मंगल; (६) श्रीकृष्ण मंगल; (७) रास रस, (८) अष्टयाम; (९) समय प्रबंध, (१०) मन प्रार्थनावली, (११) श्री हितरूप चरितावली।

लगभग इसी समय श्री हितहरिवंश जी की परपरा में हठी नाम के कवि हुए, जिन्होंने 'राधानुधाशतक' नाम का काव्य लिखा। राधिका के सबंध म इतने

हठी

भक्ति भरे कवित्त शायद ही किसी दूसरे कवि ने लिखे हो। राधिका के चरणो के प्रति इनकी भक्ति-भावना बडी ही मधुर है। इस काल के बहुत कम भक्त कवियो मे इतनी काव्य-मर्मज्ञता रही होगी। खूब भक्ति-भाव के साथ काव्य-मर्मज्ञता के मणिकाचन योग के कारण इनकी कविता सहृदयो को आकृष्ट करती है। राधिका के चरणो के संबंध मे ये कहते हैं—

नवनीत गुलाब ते कोमल हैं, हठी कज की मजुलता इनमें।
गुललाला गुलाल प्रवाल जपा छवि ऐसी न देखी ललाइन मे।
मुनिमानस मदिर मध्य वसै वस होत हैं सूधे सुभाइन मे।
रहु रे मन तू चित चाइन सो वृषभानु कुमारि के पाइन मे।

यह महिमामयी राधिका जब श्रीकृष्ण का रूप धारण करती है तब तो शोभा के समुद्र में ज्वार आ जाता है—

मोर पखा गरे गु ज की माल किए नव वेष बडी छवि छाई।
पीत पटी दुपटी कटि में लपटी लकुटी 'हठी' मो मन भाई।
छूटी लटै डुलै कुंडल कान बजै मुरली धुनि मद सुहाई।
कोटिन काम गुलाम भए जब कान्ह ह्वै भानुलली बनि आई।

फिर टट्टी सस्थान की परपरा में ही सहचरिशरण जी नाम के भक्त कवि हुए, जो १८वी शताब्दी के अतिम भाग मे वर्तमान थे। इनकी दो पुस्तके प्राप्त हुई हैं—

सहचरिशरण

१. 'ललित प्रकाश', २ 'सरस मंजावली'। 'ललित प्रकाश' मे टट्टी संस्थान के सिद्धातो की व्याख्या और आचार्यो के जीवन-वृत्त है, और 'सरस

मंजावली' में मंजु छंदो मे भगवान् की और राधिका की रूप माधुरी का वर्णन है।

१८वी शताब्दी के अंत मे कृष्ण-चैतन्य सप्रदाय के गुण-मंजरीदास हुए। हिंदी में महाप्रभु चैतन्यदेव के सिद्धांतों का प्रचार इन्होंने ही किया है। फिर इसी समय स्वामी नारायणदास जी हुए, जिनकी भक्ति विषयक कविताएँ बहुत लोकप्रिय हुई। १८वी शताब्दी के अंत भाग में लखनऊ के अग्रवाल कुल के श्री ललितकिशोरी जी हुए जिनके भक्ति भरे पदों ने भारतेंदु जैसे सहृदय काव्य-मर्मज्ञ का हृदय हरण किया था।

प्रेमभक्ति का साहित्य

इस प्रकार १५वी शताब्दी में ब्रजभूमि में जिस प्रेम-भक्ति का बीज वपन हुआ, वह सैकड़ो वर्ष तक भक्तों को काव्य-रचना की प्रेरणा देता रहा, और सहृदयों को मुग्ध बनाए रहा। १७वी शताब्दी के बाद के भक्ति साहित्य में सखी भाव की साधना का प्राधान्य होगया। इस काल के तीन शक्तिशाली संप्रदायों ने इस भाव-धारा को प्रोत्साहित किया—१ महाप्रभु चैतन्य के शिष्यो द्वारा प्रवर्तित 'गौड़ीय वैष्णव सप्रदाय', २. गोस्वामी हितहरिवंश द्वारा सस्थापित 'राधावल्लभीय सप्रदाय' और ३ गोस्वामी हरिदास द्वारा पोषित 'टट्टी संस्थान'। इन सप्रदायो द्वारा प्रचारित भक्ति सिद्धातो मे आत्म-समर्पण का वेग है, और यह आत्म-समर्पण स्त्री रूप में सबसे अधिक अभिव्यक्त होता है। स्त्री आत्म-समर्पण का प्रत्यक्ष विग्रह है। आगे चलकर भक्तों ने इस भाव को बड़ी सरस और मधुर भाषा मे व्यक्त किया है। इसका प्रभाव रामभक्ति-शाखा पर भी पड़ा है। वृन्दावन की भाति अयोध्या भी सखी-सप्रदाय के भक्तो का केंद्र बन गई। १८वीं शताब्दी के साहित्य

मे सखी भाव की साधना मे आतरिक प्रेम-निवेदन की भावना के साथ-ही-साथ बाह्य उपकरणो मे भी स्त्री भाव का अनुकरण प्रवेश करने लगा; और भक्तो ने कई बार केवल स्त्री नाम ही नही ग्रहण किया, स्त्रियो की वेश-भूषा और हाव-भाव का अनुकरण भी आरभ किया। यह बात साधना पक्ष के ह्रास की ओर इगित करती है। इससे प्रकट होता है कि आतरिक प्रेम-प्रदर्शन की शक्ति क्षीण हो आई है, और वह अपनी यथार्थ अभिव्यक्ति के लिये बाह्य उपकरणो का सहारा लेना चाहता है। यह आश्चर्य की बात है कि रामभक्ति-शाखा में यह बात अधिक स्पष्ट हुई है।

इस साहित्य के गुण-दोष

श्रीकृष्णभक्ति का साहित्य मनुष्य की सबसे प्रबल भूख का समाधान करता है। वह मनुष्य को बाह्य विषयों की आसक्ति से तो अलग कर देता है, लेकिन उसे शुष्क तत्त्ववादी और प्रेमहीन कथनी का उपासक नही बनाता। वह मनुष्य की सरसता को उद्बुद्ध करता है, उसकी अतर्निहित अनुराग-लालसा को ऊर्ध्वमुखी करता है, और उसे निरंतर रससिक्त बनाता रहता है। यह प्रेम-साधना ऐकातिक है, वह अपने भक्त को जागतिक द्वद्व और कर्त्तव्य-गत संघर्ष से हटा कर भगवान् के अनन्यगामी प्रेम की शरण मे ले जाती है,। यही उसका दोष है, क्योकि जीवन केवल प्रेमनिष्ठा तक ही सीमित नही, यह केवल उसका एक पक्ष है। मनुष्य को पूर्णरूप से सजग बनाने के लिये ऐसे साहित्य की आवश्यकता होती है, जो उसको कर्त्तव्य-पथ पर चालित करे और जीवन के प्रत्येक सघर्ष मे विजयी होने की उमग सचारित करे। कृष्णभक्ति के साहित्य ने दूसरे पक्ष को क्रमश गौण किया है और अंत तक एकदम भुला दिया है। इसी का यह परिणाम हुआ है कि इतना मधुर और मोहक

साहित्य १९वी शताब्दी में एकदम क्षीणवल हो गया। वह साधारण गृहस्थो के काम की चीज नही रहा, उसमें जीवन-सघर्ष से ऊबे हुए ऐकातिक प्रेमनिष्ठा के भक्तो का ही प्राधान्य हो गया। उसकी मधुरता और मोहकता आज भी ज्यो की त्यो वनी हुई है। आज भी उसमे मनुष्य की अतिरिक्त अनुराग लालसा को मडित करने की शक्ति है। परंतु फिर भी वह जीवन का संवल नही वन सकती, क्योकि वर्तमान काल के सघर्ष-सकुल जीवन मे वह नई प्रेरणा नही दे सकती।

पद्रहवी शताब्दी में भक्ति के साहित्य ने नवीन जीवन दृष्टिकोण और नवीन जीवनादर्श दिया था। चार सौ वर्षों तक उस आदर्श न भक्ति की प्रेरणा दी परतु अतिम दिनो में यह प्रेरणावेग क्रमश. एकागी और क्षीणवल होता गया। भक्ति साहित्य ने भाषा में उत्तरोत्तर माधुर्य भरा किंतु अंत तक वह माधुर्य मात्रा को अतिक्रम कर गया।

[इस साहित्य के अध्ययन मे सहायक ग्रथ—मिश्रवधु मिश्रवधु-विनोद, रामचद्र शुक्ल . हिंदी साहित्य का इतिहास, दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप के कवि, रामकुमार वर्मा हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, व्रजेश्वर वर्मा . सूरदास, मुशीराम शर्मा सूरसौरभ; वियोगी हरि · व्रजमाधुरीसार,]

६

सगुणमार्गी रामभक्ति का साहित्य

६

सगुणमार्गी रामभक्ति का साहित्य

स्वामी रामानंद द्वारा प्रचारित रामभक्ति ने दो मार्गों मे अपने आपको प्रकट किया। निर्गुण मार्ग के रूप मे उसका विकास कबीर, दादू आदि निर्गुण-परपरा के भक्तो में हुआ। परंतु स्वय स्वामी रामानद निर्गुण मार्ग के उपासक नही थे। उनकी लिखी समझी जाने वाली पुस्तको से उनका सगुणोपासक होना ही सिद्ध होता है। गुरुग्रथसाहेब मे पाए जाने वाले भजन से उनकी उदार मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। वे साधना के क्षेत्र में निर्जीव आचारो को बहुत महत्त्व नही देते थे। उनका उपदेश शिष्यो के ही सस्कार और रुचि के अनुकूल विकसित हुआ। उनका उपदेश भगवान् की अनन्य भक्ति करना ही था। इसी को वे बडा समझते थे। यह ऐकातिक भक्ति ही उनका एकमात्र उपदेश था। इसके साथ ही रामानद के शिष्यो ने एक और सर्व-सामान्यतत्त्व उनसे ग्रहण किया--रामनाम। निर्गुण और सगुण दोनो ही मार्ग के अनुयायियो ने उनसे इस महामत्र को ग्रहण किया। रामनाम के बारे मे दोनो मतो मे कोई विरोध नही है। 'राम' के अर्थ के बारे में अवश्य दोनो मतो मे मतभेद है। कबीरदास इसका मर्म दूसरा ही बताते है और सगुणमार्गी भक्त कुछ और ही बताते हैं। कबीरदास ने कहा था कि "दसरथ सुत तिहुं लोक बखाना। राम नाम को मरम है आना।" उधर भक्तप्रवर तुलसीदास जी ने मानो इसी उक्ति का उत्तर देते हुए कहा था--

रामभक्ति की दो शाखाएँ

जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान ।।

इसलिये दोनो प्रकार के भक्तो के मन मे मतभेद 'राम' के अर्थ के सबंध मे था । निर्गुणमार्गी अवतारो में विश्वास नही करते थे, इसलिये उनके राम 'दसरथ-सुत' नही हो सकते थे, किंतु सगुणमार्गी अवतारो मे पूर्ण आस्था रखते थे, इसलिये उनके 'राम' 'दसरथ अजिर बिहारी' नररूपधारी थे । यहीं दोनों के दृष्टिकोण मे अतर हो जाता है । लीला मे सभी भक्तों का विश्वास था किंतु निर्गुणमार्गी भक्त के लिये सपूर्ण दिग्देशकाल उस लीला की भूमि था जब कि सगुणमार्गी भक्तो के लिये लीला का अर्थ था नरवेश में अवतरित भगवान् की जावनचर्या ।

तुलसीदास का आविर्भाव

सयोग से निर्गुण मार्ग की रामभक्ति को आरभ मे ही कबीर और नानक जैसे शक्तिशाली सत मिल गए । परतु सगुण मार्ग की रामभक्ति को कुछ विलब से तुलसीदास जैसा भक्त प्राप्त हुआ । वैसे तो सगुणमार्गी रामभक्ति के क्षेत्र में भी महान् साधको की कमी नही थी परंतु साहित्य के माध्यम से इस साधना के प्रकाश के विकीर्ण होने में कुछ समय लगा । सन् ईस्वी की सोलहवी शताब्दी के अत में यह सुयोग प्राप्त हुआ । परंतु जब वह प्राप्त हुआ तो उसे ऐसे शक्तिशाली महापुरुष का सहयोग मिला कि साधना के क्षेत्र के साथ ही साहित्य का क्षेत्र भी धन्य हो गया । विरले अववसरो पर ऐसा शुभ सयोग प्राप्त होता है जब मनुष्य के 'सर्वोत्तम' को, प्रकट होने के लिये, इस प्रकार भाव और भाषा का सहारा प्राप्त होता है । १६वी शताब्दी के मध्य भाग में किसी समय तुलसीदास जी का जन्म हुआ था । ठीक-ठीक तिथि मालूम नही, किंवदतियाँ जितना धुआँ उड़ेलती

है उतना प्रकाश नही। परतु इतना सत्य है कि उन्होने अपना रामचरितमानस संवत् १६३१ अर्थात् सन् १५७५ ई० मे आरभ किया था। इसके तीस-चालीस वर्ष पहले उनका जन्म हो गया होगा।

तुलसीदास का महत्त्व बताने के लिये अनेक विद्वानो ने अनेक प्रकार की तुलना-मूलक उक्तियो का सहारा लिया है।

तुलसीदास का महत्त्व

नाभादास ने इन्हे 'कलिकाल का बाल्मीकि' कहा था, स्मिथ ने इन्हे 'मुगलकाल का सबसे महान् व्यक्ति' माना था, ग्रियर्सन ने 'इन्हें बुद्धदेव के बाद सबसे 'बडा लोक-नायक' कहा था, और यह तो बहुत लोगो ने बहुत बार कहा है, कि उनकी रामायण उत्तर-भारत का बाइबिल है। इन सारी उक्तियों का तात्पर्य यही है, कि तुलसीदास असाधारण शक्तिशाली कवि, लोकनायक और महात्मा थे।

यह खेद की बात है, कि इतने बडे महापुरुष की जन्म-तिथि और जन्म-स्थान का कुछ निश्चित पता नही चलता।

तुलसीदास विषयक जानकारी

इधर इस प्रकार की प्रवृत्ति बढने लगी है, कि तुलसीदास के साथ अपने गाँव या कुल या प्रदेश का कोई-न-कोई सबध स्थापित कर लिया जाय। इसका परिणाम यह हुआ, तुलसीदास के शिष्यो की 'डायरी' से लेकर उनके सगे-सबधियो के ग्रथ तक उपलब्ध होने लगे है। नये-नये दावे और नई गढी हुई अनुश्रुतियाँ इतिहास-लेखक के मार्ग को निरतर कटकाकीर्ण करती जा रही हैं। तुलसीदास के साहित्य के उन शक्तिशाली तत्त्वो की आलोचना गौण हो जाती है, जो इतने दिनो से लोक-चित्त को प्रभावित, उन्नीत और महिमान्वित करते रहे है, और केवल उनकी भौतिक

काया के कपोल-कल्पित संबधो पर विचार ही मुख्य हो उठता है। झूठी पुस्तको, अर्थहीन दावो और वेबुनियाद स्थापनाओ को महत्त्व देने का परिणाम यह हुआ, कि नित्य नवीन दावों की बाढ आती जा रही है। इतिहास की पुस्तको मे ऐसी पुस्तको की उपेक्षा ही वाछनीय है। अस्तु।

तुलसीदास का देखा हुआ समाज

तुलसीदास की जो पुस्तकें प्रामाणिक मानी जाती हैं. उनके देखने से स्पष्ट होता है कि जिस काल मे उनका जन्म हुआ था, उस समय उन्होने जिस समाज को देखा था, वह बहुत ऊँचे आदर्शों पर नही चल रहा था। उच्च स्तर के लोग विलासिता के पक मे डूबे हुए थे, और निचले स्तर के स्त्री-पुरुष दरिद्र, रोगी और अशिक्षित थे। वैरागी हो जाना मामूली बात थी। जिनके भी 'नारि मुई घर सपति नासी' वही मूँड मुडा के सन्यासी हो जाता था। वस्तुत. मुस्लिम सपर्क के बाद हिंदू-समाज मे आत्म-रक्षा की जो भावना उत्पन्न हुई थी, उसने समाज में अनावश्यक सावधानी का भाव भर दिया था। जाति-पाँति की प्रथा और भी कठोर हो उठी थी। जन्म से ही नीच माने जानेवाले लोगो मे यदि कुछ भी स्वाधीन विचार उत्पन्न हुआ करता, तो वे इस कठोर बधन की विषम वेदना से विचलित हो जाते, और साधु बन जाते थे। इस बात को यदि सहानुभूति की दृष्टि से देखा जाय, तो यह आवश्यक सामाजिक रोग के रूप मे दिखेगी। पर यदि समाज-स्थिति के ढाचे को ज्यो-का-त्यो बचा रखने की दृष्टि से देखा जाय, तो समाज को बर्बाद कर देने वाली कुप्रथा के रूप मे ही दिखेगी। तुलसीदास ने अत्यत दु.ख के साथ इस कुप्रथा का उल्लेख किया है। सारा देश सैकडों सप्रदायो और अखाडो मे वँटे हुए इन साधुओ से भरा हुआ था। नाथ-मार्गी साधुओ का प्रभाव अब भी पूर्ण मात्रा में था,

'अलख' की आवाज गर्म तो थी, पर तुलसीदास ने अत्यंत क्षोभ के साथ देखा था, कि ये अलख जगाने वाले कुछ भी नही लख पाते थे। भक्ति की जो नई धारा आई थी, वह इन अशिक्षित, नाथ-प्रभावित, शास्त्रज्ञान-विवर्जित और विवेक-हीन साधुओं के हाथों कुछ-का-कुछ बनती जा रही थी। कलि-काल के य 'अधम' भक्त साखी, सबदी, दोहरा, कहनी, और उपखान (उपाख्यान) कह-कह कर भक्ति का निरूपण करते थे और वेद-पुराणो को निंदा करते थे। जिन जानियों को परपरा से नीच समझा जाता था, उनमे कुछ अत्यंत धर्मात्मा और प्रभावशाली सत हो चुके थे, जिन्होन सहज भक्ति मार्ग का उपदेश दिया था, और वेद-पुराण प्रतिपादित मार्ग की निंदा की थी। उनका प्रभाव तथाकथित नीच जातियो पर पड़ा था, और उनम आत्म-विश्वास का सचार हो गया था। शिक्षा के अभाव में इस आत्म-विश्वास ने दुर्वह गर्व का रूप धारण किया था। ये लोग शास्त्राभ्यासी पडितों को 'बराबरी का दावा' करते थे, और कहते थे कि 'हम क्या तुमसे कुछ कम हे?' सामाजिक सगठन को ज्यो-का-त्यों रखकर उसके स्वर को उन्नति करने के प्रयत्नशील तुलसीदास को ये बातें चिन्ताजनक मालूम हुई थी। जो जातियाँ परंपरा से मुविवा भोगने की अभ्यस्त थो, उन्हे इस प्रकार की बाते चिढ़ाने-वाली सिद्ध हुई। यद्यपि तुलसोदास स्वय 'अगुन और सगुन' मे कुछ विशेष भेद नही मानते थे, परंतु उन 'अज्ञ अकोविद अध अभागी' लोगों की निर्गुण उपासना और सगुण-प्रत्याख्यान शैली मे बहुत खिन्न थे। जिनके चित्त में विषय-विकार की काई लगी हुई थी, और जो 'पाखडो हरि-पद विमुख' थे, और तुलसोदास का पक्का विश्वास था, कि ये अभागे 'जानहिं झूठ न साँच'। उनका विश्वास था कि ये अगुण-सगुण विवेक से बिल्कुल अपरिचित थे, और

मूढतावश अनेक पथो की जल्पना-कल्पना किया करते थे।

इस प्रकार तुलसीदास के युग मे हिंदुओ के समाज का फौलादी ढाँचा जहाँ एक तरफ अतिरिक्त सावधानी के कारण अधिकाधिक कसा जा रहा था, वहाँ उसी कसाव के परिणामस्वरूप धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्र में यथा-स्थिति मर्यादा पर कस के चोटें भी की जा रही थी। अतिरिक्त सामाजिक सावधानी का शिकार स्वय तुलसीदास को भी होना पडा था, जान पडता है कि काशी के पडित लोग उन्हे धूत, अवधूत और जुलाहा तक कहने लगे थे तथा उनकी जाति-पाँति तक को सदेह की दृष्टि से देखने लगे थे।

हिंदू समाज में सकीर्णता का कसाव

समाज मे धन की मर्यादा बढी हुई थी। दरिद्रता हीनता का लक्षण मानी जाती थी। लोग पेट के लिये ऊँचे नीचे सब कर्म करने को प्रस्तुत थे---बेटी-बेटा बेचने तक से नही हिचकते थे। उनके जीवन मे कभी ऐसा अकाल पडा था, कि न किसान के खेत में अन्न होता था, न कोई भीख ही देता था। भिक्षाजीवी ब्राह्मणो में भीरुता आ गई थी। वे अपने आदर्श से च्युत हो गए थे। स्वय तुलसीदास दरिद्रता के भीतर से बडे हुए थे। टुकडे माँग कर ही वे पेट पालते थे, चार चने ही मिल गए तो चारो पदार्थ समझते थे। कथरी-करवा लिये द्वार-द्वार बिलबिलाते फिरते थे। दरिद्रता के कारण उन्हे निरादर भी भोगना पड़ा था। पडितो और ज्ञानियो की दुनियाँ अलग थी, साधारण जनता की अलग। समूचा समाज विशृखल, अस्त-व्यस्त और जर्जर हो गया था। तुलसीदास की पुस्तकें उस काल की सामाजिक समस्याओ की उलझनो के समझने का बहुत ही उत्तम सकेत देती है।

उन्होने स्थान-स्थान पर अपने बारे में जो कुछ लिखा है

वहुत ही हृदय-द्रावक है । जन्म होते ही माता-पिता चल वसे, वड़ी कठिनता से भीख माँग कर उन्होंने अपना पेट पाला, दाँत निकाल-निकाल कर द्वार-द्वार उन्होंने अपनी दीनता प्रकट की थी, खोची माँग-माँग कर वे जीवन-निर्वाह भर का अन्न-सग्रह कर पाते थे । वहुत जहर पीने के वाद उन्होंने अपनी कविता की अमृतधारा दान दी थी । जन्म उनका अच्छे कुल मे हुआ था, और गुरु उन्हे अच्छे मिल गए थे । सूकरखेत या सोरो मे उन्होंने इन्हें वहुत प्रकार से तत्त्व-ज्ञान समझाने का प्रयत्न किया । उन दिनो तुलसीदास वालक थे, ठीक से समझ नही सके । परतु गुरु ने प्रयत्न नही छोड़ा, वार-वार समझाया और कोमल-मति वालक तुलसीदास ने अपनी वुद्धि के अनुसार उसे ग्रहण भी किया । रामायण मे उन्होंने अपने गुरु को 'कृपासिंधु नर-रूप हरि' कहा है । इस पद से अनुमान कर लिया गया है कि उनके गुरु का नाम 'नरहरि' रहा होगा ।[1] युवावस्था में उनमे यौवनोचित चचलता आई थी । विनय-पत्रिका मे उन्होंने एक जगह जरा-सा आभास दिया है कि युवावस्था में 'योवन युर युवती कुपथ्य करि भयो त्रिदोष भरि मदन वाय ।' अनुमान कर लिया जा सकता है कि इसमे उस

उनका आत्म-परिचय

---

१ अयोध्या के कुछ वैष्णव सम्प्रदायों की गुरु-परपरा में तुलसीदास नरहरिदास के शिष्य वताए गए हैं । श्री-संप्रदाय की गुरु-परपरा में रामानंद जी के गुरु राघवानद जी थे । उनके वाद तुलसीदास जी तक का क्रम इस प्रकार है—राघवानद—रामानंद—सुरसुरानद—माधवानद—गरीवानद—लक्ष्मीदास—गोपालदास—नरहरिदास—तुलसीदास । (श्री प्रेमलता जी का वृहद जीवन-चरित्र)

जैंकवदती की ओर इशारा है, जिसमे कहा गया है कि उनकी पत्नी जब पितृ-गृह चली गई थी, तो बरसात की भरी गगा को तैरकर उनके पास हाजिर हुए थे, और उनकी फटकार सुनी थी। पत्नी ने कहा था कि मेरे ऊपर जितना प्रेम है, उतना यदि राम पर होता, तो तुम्हारा कल्याण हो जाता। उसी समय ये विरक्त हो गए। फिर नाना तीर्थों मे भ्रमण करते हुए भगवान् का भजन करते रहे। चित्रकूट, अयोध्या और काशी इनके प्रिय स्थान थे। अयोध्या मे ही स० १६३१ (१५७५ ई०) म इन्होने सुप्रसिद्ध रामचरितमानस आरभ किया था। काशी मे इन्हे लोगो ने बहुत तग किया था। एक बार इसी काशी में भयकर महामारी का प्रकोप हुआ, लोग तडप-तडप कर मरने लगे। सभवतः यह प्लेग की बीमारी थी। तुलसोदास के बाहु-मूल मे कभी भीषण पीड़ा हुई। अनुमान किया जा सकता है कि यह प्लेग की ही गिल्टी रही होगी। अम्लपित्त के वे शुरू से ही रोगी थे, शायद इसीलिय सर के सब बाल झड गए थे, और पितरो को भेंट देने लायक एक बाल भी उनके सिर में नही रह गया था। इस नई बीमारी ने उन्हें बहुत विचलित किया। बाहु की पीड़ा से वे व्याकुल हो उठे। आगे चलकर 'पाँय पीर, पेट पीर, बाहु पीर, मुँह पीर, जर्जर सकल सरीर पीरमई' हो गया। शायद उनका प्लेग सेप्टिक भी हो गया। उन दिनो इस महाव्याधि की कोई उचित चिकित्सा भी नही थी। उनके सारे शरीर में छोटे-छोटे फोड़ो के रूप मे 'घोर बरतोर' निकल आए। सभवतः इसी रोग से वे सं० १६८० (सन् १६२३ ई०) के श्रावण मास मे साकेतवासी हो गए।

तुलसीदास का व्यक्तित्व उनके ग्रथो में बहुत स्पष्ट होकर प्रकट हुआ है। अत्यत विनम्र भाव, सच्ची अनुभूति के साथ अपने आराध्य पर अटूट विश्वास उनके व्यक्तित्व

के प्रधान तत्व है । उनके सपूर्ण साहित्य मे यह तथ्य भरा पड़ा है । आराध्य की ऐसी एकनिष्ठा भक्ति, ऐसा अनन्य विश्वास और इतनी अखड आस्था संसार के इतिहास मे दुर्लभ है । निरंतर विषपान करने से जो व्यक्ति नील-कंठ हो गया था, उसके मुँह से आशा और विश्वास की यह अद्भुत वाणी निकली है । कबीरदास की भाँति तुलसीदास भी गलदश्रु भावुकता के पक्षपाती न थे । केवल एक ही प्रसग पर उनकी वाणी म गद्गद् भाव दिखाई पडता है--जब कभी श्री रामचन्द्र के मनोहर रूप का वर्णन आ जाता है, तभी उनकी लेखनी मे भाव-विह्वलता की भाषा उतर आती है । जनकपुर मे सीता जी की एक सखी ने कहा था कि ऐसा तनुधारी ससार मे नही है, जो इस रूप को देखकर मोहित न हो जाय । तुलसीदास ने सखी के इस वचन को आदि से अत तक याद रक्खा है । जब कभी देवता से लेकर राक्षस तक भगवान् की नील सरोरुह काति को देखते है, तभी मोहित हो जाते है, और जब स्वयं तुलसीदास के सामने इस मनोहर रूप की स्मृति आती है, तो वे भी गद्गद् हो जाते है । अन्य स्थलो पर वे बराबर सावधान रहते है, इस प्रकार अपने अखड विश्वास और गम्भीर अध्ययन के योग से वे एकदम नवीन जगत् का निर्माण कर सके है ।

उनका व्यक्तित्व

तुलसीदास के ग्रथो की भीतरी गवाही के बल पर हमे इतना ही मालूम होता है । किंतु कुछ और भी पुरानी पुस्तकें प्राप्त होती है, जिनमे तुलसीदास के जीवन-चरित विषयक कुछ सामग्री मिल जाती है । इनमे तीन स्रोत विश्वसनीय है--(१) नाभादास का भक्तमाल, (२) भक्तमाल पर प्रियादास की टीका, और (३) गोसाई गोकुलनाथ

उनके परिचय के अन्य स्रोत

द्वारा लिखित कही जाने वाली 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'। कई इतिहास-लेखक वेणीमाधवदास की लिखित कही जानेवाली एक छोटी पुस्तिका 'मूल गोसाईं चरित' का और किसी बाबा रघुवरदास की लिखी बताई जानेवाली एक दूसरी अल्प-प्रकाशित रचना 'तुलसी चरित' का भी इस प्रसंग मे उल्लेख करते है। पर मेरे विचार से ये दोनो पुस्तके अप्रामाणिक है। इनका इस प्रसग मे उल्लेख भी नही होना चाहिए। 'शिवसिंह सरोज' मे वेणीमाववदास की लिखी एक विस्तृत पुस्तक की चर्चा है। शिवसिंह जी ने इस पुस्तक को देखा था, और लिखा था कि "इस पुस्तक से गोसाई जी महाराज के सब चरित्र प्रकट होते है, पर इस पुस्तक मे (शिवसिंह सरोज मे) इस विस्तृत कथा का कहाँ तक विस्तार करूँ।" इसी इशारे को पकड कर इस पुस्तक की रचना हुई होगी। पर शिवसिंह ने जिस पुस्तक को देखा था, उसमें तुलसीदास के जन्म सवत् का उल्लेख नही था। इसीलिये उन्होने अनुमान के भरोसे लिखा था, कि 'ये तुलसीदास प्राय सवत् १५०३ के करीब उत्पन्न हुए थे।' परन्तु इस छपे हुए 'मूल गोसाई चरित' मे इनका जन्म सवत् १५५४ दिया हुआ है। स्पष्ट ही शिवसिंह की देखी पुस्तक इससे भिन्न थी। यह कहना ठीक नही कि शिवसिंह ने गोसाई चरित देखा ही नही था। उनका कथन बहुत ही स्पष्ट है। उससे यही सूचित होता है कि उन्होने गोसाई चरित देखा अवश्य था। तिथियाँ तो इस पुस्तक में अशुद्ध है ही—जैसे हितहरिवश का तिरोधान सवत् १६०९ मे हो गया था, पर इस पुस्तक के अनुसार वे १६२० तक तो जीवित थे ही, इसके अनुसार स० १६०६ मे सूरदास गोकुलनाथ गोसाईं का पत्र लेकर तुलसीदास से मिले थे जो सभव नही जान पड़ता, क्योकि उस समय गोकुलनाथ की उम्र सिर्फ ८ साल की थी, इस

पुस्तक के अनुसार रामचद्रिका १६४३ सं० के आसपास लिखी गई, जबकि केशवदास ने स्वय कहा है कि यह पुस्तक १६५८ स० मे लिखी गई, इत्यादि। 'सत्य शिव सुन्दरम्' जैसे आधुनिक प्रयोग भी इसमे हैं, फिर, यह डायरी की शैली पर लिखी गई है जो बिल्कुल आधुनिक प्रथा है। इसी प्रकार संवत् १९६९ की मर्यादा मे श्री इद्रनारायण ने बाबा रघुवर दास की रचित कही जानेवाली एक पुस्तक 'तुलसी चरित' की सूचना दी थी। यह बहुत बडा ग्रथ था, इसमे १३३९६२ छद थे। दुर्भाग्यवश इसका बहुत थोडा अश ही मर्यादा मे छपा, और पूरी पुस्तक कभी दुनियाँ के सामने आई ही नही। इसका जितना अश छपा है, उतना इसकी अप्रामाणिकता बताने के लिये पर्याप्त है। इधर कुछ और रचनाएँ मिली हे, जो काफी प्रामाणिक हे। उनसे इस पुस्तक का एकदम मेल नही है। आगे हम इन पुस्तको की चर्चा करेंगे।

'भक्तमाल' मे गोसाई तुलसीदास के सबध मे सिर्फ एक छप्पय मिलता है। इससे कोई विशेष बात नही जानी जाती।

भक्तमाल आदि का परिचय

सिर्फ इतना ही जान पडता है, कि तुलसीदास बड़े अच्छे कवि और भक्त थे, और भक्तमाल के लेखक नाभादास के समकालीन थे। नाभादास के शिष्य प्रियादास के भक्तमाल पर जो टीका लिखी थी, उसमे चमत्कारो का ही अधिक विस्तार है। जीवनी लेखक के काम की कोई ठोस बात उसमे भी नही है। पर गोकुलनाथ जी की लिखित कही जानेवाली 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' से कई बातो का पता चलता है। ये बाते सक्षेप मे इस प्रकार है—तुलसीदास नददास के छोटे भाई थे, वे काशी में रहते थे, और भाषा मे रामायण लिखी थी, वे कभी व्रज गए थे और नददास से और गुसाईं विट्ठलनाथ से भी मिले थे और वे राम के अनन्य भक्त थे। इसमे नवा-

धिक महत्त्वपूर्ण सूचना यह है कि तुलसीदास नंददास के भाई थे।

अब तक यह विश्वास किया जाता रहा है कि तुलसीदास राजापुर के रहने वाले सरवरिया ब्राह्मण थे, पर इधर सोरों को तुलसीदास का जन्म-स्थान मानने के पक्ष में कुछ प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। पहले पहल लाला सीताराम ने अपने सम्पादित राजापुरवाले अयोध्या कांड के संस्करण में यह इशारा किया था कि सूकर खेत या सोरों तुलसीदास की जन्म-भूमि हो या नहीं, वहाँ वे रहे जरूर थे। मगर सूकर खेत सोरों है या गोंडा जिले में स्थित शूकर क्षेत्र ? पं० रामचंद्र शुक्ल गोंडेवाले को ही असली शूकर क्षेत्र समझते हैं। उनका दावा है कि तुलसी की भाषा यहीं की भाषा है। इधर पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अनेक खोज के बाद यही निर्णय दिया है, कि सोरों (सूकर खेत) ही तुलसीदास का जन्म-स्थान है। जब से यह बात कुछ बल पकड़ने लगी है, तब से कुछ ऐसी नई सामग्रियों का पता लगा है, जो आश्चर्यजनक ढंग से संगति रखनेवाली और ऐतिहासिक तथ्यों को प्रकाश में ले आनेवाली सिद्ध हुई है। तुलसीदास के पूर्व-पुरुष एटा जिले के रामपुर नामक ग्राम में, जिसे उनके चचेरे भाई नंददास ने नाम बदल कर श्यामपुर कर दिया था, रहते थे। यह स्थान सोरों से दो मील दूर है। विशेष परिस्थितियों के कारण तुलसीदास के पिता आत्माराम शुक्ल को सपरिवार सोरों में जाना पड़ा पर उनके भाई (नंददास के पिता) उसी गाँव में रहे। तुलसीदास की दोहावली के अनेक दोहों से इस तथ्य का समर्थन किया गया है, कि उनका निवास-स्थान सोरों के इसी मुहल्ले में था। उनकी ससुराल बदरिया ग्राम में थी। इधर नंददास के एक पुत्र कृष्णदास का भी पता चला है।

उनकी लिखी दो पोथियाँ भी प्राप्त हुई है जिनमे एक का नाम 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य' है और दूसरी का 'वर्षफल'। दोनो में ही कृष्णदास ने सावधानी के साथ अपने पिता के नाम के साथ अपने बडे चाचा का उल्लेख किया है और अपनी माता कमला और चाची रत्नावली के चरणो की वदना भी की है। सूकर क्षेत्र का माहात्म्य स० १६७० (सन् १६१३) ई० मे लिखा गया, और वर्षफल स० १६५७ (१६०० ई०) में। इसमें भी रत्नावली माता का स्मरण कर लिया है। इन कृष्णदास के लिये लिखी गई एक रामायण की खडित प्रति भी मिली है, जो सवत् १६४३ (सन् १५८६ ई०) की लिखी गई है। इसमें भी लिपिकार लछमनदास यह लिखना नही भूले है कि "श्री तुलसीदास गुरु की आज्ञा सो उनके भ्राता-सुत कृष्णदास सोरो क्षेत्र निवासी हेत लिखित।" फिर 'नददास' के पुत्र का नाम 'कृष्णदास' भी उचित ही जान पडता है! सब मिलाकर सोरो से प्राप्त होने वाली सामग्री जितनी साफ सुथरी और सुन्दर योजना-समन्वित है, उतनी अब तक हिंदी साहित्य के इतिहास मे अन्यत्र नही देखी गई। इस सामग्री मे ऐसी कोई बात आई ही नही है जिसके विषय में आधुनिक पडितो मे मतभेद हो सके। ये सिर्फ एक बात का पक्का समर्थन करती है कि तुलसीदास सोरो के निवासी थे। और तो और, स्वय माता रत्नावली के लिखे दोहे भी मिल गए है, और उसमे देवर नद की चर्चा छटने नही पाई है। इस प्रकार के एक-मन, एक-चित्त, एक-प्राण लेखक साहित्य में दुर्लभ ही है।

मुझे सोरो के प्रामाणिक या अप्रामाणिक होने के पक्ष में कुछ भी नही कहना है। जहाँ तक पुस्तको से पढकर समझने का प्रश्न है, मेरा विचार है कि सोरो के पक्ष मे दिए जानेवाले प्रमाण बहुत महत्वपूर्ण न होते हुए भी

वजनदार है। उनको यो ही टाल नही दिया जा सकता। परतु यदि इस प्रकार सुचिंतित योजना के साथ प्रमाणो की वृद्धि होती गई तो यह निर्णय करना कठिन हो जाएगा, कि सोरो की वास्तविक जनश्रुति और अनुश्रति क्या हैं। तुलसीदास और नददास के जन्म-स्थान का प्रश्न हमेशा के लिये धूमिल हो जाएगा।

तुलसीदास के रचित ग्रथ

तुलसीदास के नाम पर अब तक कोई तीन दर्जन से ऊपर पुस्तके प्राप्त हो चुकी है।[1] परतु मिर्जापुर के प्रसिद्ध रामायणी प० रामगुलाम द्विवेदी केवल बारह ग्रथो को प्रामाणिक समझते है जिनमे छ. छोटे है और छ. वडे। छन्नूलाल जी के प्रमाण पर और उक्त द्विवेदी जी की स्थापना को मानकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने भी इन्ही १२ ग्रथो को प्रामाणिक माना है। वे ये है—१. रामचरितमानस (रचना काल स० १६३१)। २ रामलला नहछू (जो संभवतः जनेऊ के अवसर को मन में रख कर लिखा गया था)। ३. वैराग्य सदीपनी (सत महिमा, सत स्वभाव और शांति को वर्णन करनेवाली दोहा-चौपाइयो मे लिखी छोटी-सी

१—१ कड्खा रामायण २. कुडलिया रामायण, ३. छप्पय रामायण, ४ पदावली रामानण, ५ रामलला नहछू, ६. रामाज्ञा, ७ पार्वती-मगल, ८ जानकी-मगल, ९ वैराग्य सदीपिनी, १०. बरवै रामायण, ११. सकट मोचन, १२ छदावली रामायण, १३. रोला रामायण, १४ भूलना रामायण, १५. कवितावली, १६. गीतावली, १७ कृष्ण गीतावली, १८. हनुमान बाहुक, १९ हनुमान चालीसा, २० रामशलाका, २१ रामसतसई, २२. विनय पत्रिका, २३ दोहावली, २४. तुलसी सतसई, २५ कलि धर्माधर्म निरूपण।

पुस्तिका) । ४. बरवै रामायण, जिसमें केवल ६९ बरवै छंदों का संग्रह है। (उसकी एक बड़ी प्रति मैंने देखी है, जिसमें रामकथा का क्रमबद्ध वर्णन है। इस बड़ी प्रति के केवल आठ-दस बरवै इसमें संगृहीत हैं। ५. पार्वती-मंगल—एक सौ चौसठ छंदों में शिव-पार्वती-विवाह, मिश्रबंधु इसे प्रामाणिक नहीं मानते। ६. जानकी-मंगल में २१६ छंदों में राम-जानकी-विवाह का प्रसंग है। ७ रामाज्ञा प्रश्न जिसमें सात-सात दोहे के सात सप्तकों वाले सात सर्ग हैं, सगुन विचारने के उद्देश्य से लिखा गया है। ८. दोहावली—भक्ति, नीति और वैराग्य विषयक ५७३ दोहों का संग्रह। ९ कविता-वली—कवित्त, सवैया, छप्पय आदि छंदों का संग्रह, जिसमें छंद रामायणी कथा के कांडों के अनुसार संग्रह कर दिये गए हैं, पर कथा क्रम-बद्ध नहीं है। १० गीतावली—लीला विषयक गीतों का संग्रह। ११. श्रीकृष्ण गीतावली के पद। १२ विनय पत्रिका—विनय संबंधी गेय पदों का संग्रह। इनमें रामचरितमानस तथा अंतिम पाँच ग्रंथ बड़े हैं, बाकी छोटे। कुछ लोग 'कलिकाल धर्म निरूपण' को भी प्रामाणिक मानते हैं।

सफलता के कारण

तुलसीदास को जो अभूतपूर्व सफलता मिली उसका कारण यह था कि वे समन्वय की विशाल बुद्धि लेकर उत्पन्न हुए थे। भारतवर्ष का लोक-नायक वही हो सकता है, जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो। भारतीय समाज में नाना भाँति की परस्पर-विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार-विचार और पद्धतियाँ प्रचलित हैं। तुलसीदास स्वयं नाना प्रकार के सामाजिक स्तरों में रह चुके थे। ब्राह्मण-वंश में उनका जन्म हुआ था, दरिद्र होने के कारण उन्हें दर-दर भटकना पड़ा था।

गृहस्थ जीवन की सबसे निकृष्ट आसक्तियो के वे शिकार हो चुके थे। अशिक्षित और सस्कृति-विहीन जनता मे रहने का उन्हें अवसर मिल चुका था, और काशी के दिग्गज विद्वानो और तपोधन सन्यासियो के ससर्ग में उन्हे खूब आना पड़ चुका था। उन्होने नाना पुराणो और निगमागम का अध्ययन किया था, और साथ ही लोकप्रिय साहित्य और साधना मार्ग की नाडी पहचानने का उन्हें अवसर मिला था। उस युग में प्रचलित सब प्रकार की काव्य-पद्धतियो को उन्होने अपनी शक्तिशाली भाषा की सवारी पर चढाया था। उनकी काव्य-पद्धति का अध्ययन करने से उनकी अद्भुत समन्वयात्मिका वुद्धि का परिचय मिलता है। शिक्षित जनता में जितने प्रकार की काव्य-पद्धतियो का प्रचलन था, उन सबको उन्होंने सफलतापूर्वक अपनाया था। चंद के छप्पय, कुडलिया, कबीर के दोहे और विनय के पद; सूरदास और विद्यापति की लीला-गान-विषयक भाव-प्रधान गीति-पद्धति; जायसी, ईश्वरदास आदि की दोहा-चौपाइयो की शैली; गंग आदि भाट कवियो की सवैया कवित्त की पद्धति; रहीम के बरवै, सबको उन्होने अपनी अद्भुत ग्राहिका शक्ति के द्वारा आत्मसात् कर लिया। उन दिनो पूर्व-भारत मे अनेक प्रकार के मगल-काव्य प्रचलित थे। बंगला मे ये मगल-काव्य मिलते है, पर हिंदी में सिर्फ कबीरदास के नाम पर चलने वाले और बाद के बने हुए आदि मंगल, अनादि मगल, अगाध मंगल आदि रचनाएँ मिलती है, जो सिर्फ इस बात के सबूत के रूप मे बची रह गई है कि किसी समय मंगल-काव्यों की बड़ी भारी परपरा मध्यदेश में भी व्याप्त थी। मंगल-काव्य, विवाह काव्य और सृष्टि-प्रक्रिया व्यापक ग्रंथ है। नददास का एक रुक्मिणी-मंगल मिलता है, और चंद-बरदाई के रासो मे संयोगिता को पत्नीधर्म की शिक्षा देने के

लिये विनय-मगल नाम का एक अध्याय है, जो स्पष्ट रूप से स्वतत्र ग्रथ है। तुलसीदास ने इस शैली को भी अपनाया। उन्होने पार्वती-मगल और जानकी-मगल नाम के दो काव्य लिखे थे। इसी प्रकार उन दिनो साधारण जनता मे प्रचलित सोहर, नहछू गीत, चाचर, बेली, बसत आदि रागो मे भी उन्होने रामकाव्य लिखे। इस प्रकार साधारण जनता में प्रचलित गीति-पद्धति से लेकर शिक्षित जनता मे प्रचलित काव्य रूपो को उन्होने अपनाया है।

समन्वय-बुद्धि

तुलसीदास के काव्य की सफलता का एक और रहस्य उनकी अपूर्व समन्वय-शक्ति मे है। उन्हे लोक और शास्त्र दोनो का बहुत व्यापक ज्ञान प्राप्त था। उनके काव्य-ग्रथो मे जहाँ लोक विधियो के सूक्ष्म अध्ययन का प्रमाण मिलता है, वही शास्त्र के गभीर अध्ययन का भी परिचय मिलता है। लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफलता दी। उसमे केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नही है, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृत का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिंतन का, ब्राह्मण और चाडाल का, पंडित और अपडित का समन्वय, रामचरितमानस के आदि से अत दो छोरो पर जाने वाली परा-कोटियो को मिलाने का प्रयत्न है। इस महान् समन्वय का आधार उन्होने रामचरित को चुना है। इससे अच्छा चुनाव हो भी नही सकता था। रामनाम उन दिनो बडे जोरो पर था। निर्गुण भाव से भजन करनेवाले भक्तो मे भी यही नाम प्रिय था, और लोक मे भी इस शब्द की महिमा प्रचलित हो चुकी थी। अगुण और सगुण के समन्वय के लिये इससे बढकर दूसरा साधन हो नही सकता था। तुलसीदास ने

ब्रह्म-राम से भी नाम को बड़ा कहकर सहज ही निर्गुण और सगुणमार्ग के भीतर की सारी खाई पाट दी है। तत्त्व-ज्ञान कुछ भी हो, नाम निस्सदेह मनुष्य को भव-सागर पार करा देता है। उन दिनो और भी दो प्रकार के हरिभक्ति-पथ प्रचलित थे—एक सूरदास का मधुर और सख्य भाव से भजन का मार्ग था, दूसरा कबीर आदि का निर्गुणमार्ग। तुलसीदास दोनो मे से किसी को अस्वीकार नही कर सकते थे। परन्तु फिर भी उन्होने दास्य भाव की भक्ति को, जो सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से सबसे उत्तम विनीत मनोभाव उत्पन्न कर देती है, श्रेष्ठ बता देते है। प्रसग आते ही वे राम के सगुण रूप पर जोर देते है। कथा के प्रवाह में उत्तम कोटि के भक्त बराबर भगवान् से यही वर माँग लेते है कि भगवान् का सगुण रूप ही उनके मन म बसे। यह भाव रामायण के समस्त उदात्त भावो का पोषण देता है। राम की नर-लीला म निश्चय ही बहुत सुन्दर मनोवैज्ञानिक और शील-सवारी तत्त्वो का परिपाक हुआ है, परतु वह समस्त नर-लीला पाठक को क्षणिक सन्तोष हो देती है, उसका वास्तविक मनोविराग भगवान् की इसी अनिर्वचनीय शोभा मे होता है। उनके चरित्रो का सहज विकास केवल काव्य के मनोरजक गुण के रूप मे नही आता, बल्कि निखिलानन्द सदोह भगवान् की केवल भक्तो पर अनुग्रह करने की इच्छा से किया हुआ लीला विस्तार के रूप में गौण होकर ही आता है। मुख्य वस्तु है भगवान् के परम प्रेममय, परम अनुग्रह-परक और परम शातिदायक रूप का विकास। तुलसीदास के काव्य का यह बडा भारी आकर्षण है। कथा का घुमाव सब जगह काव्य की अगुलि के इशारे पर नही चलता, वह उन मार्गों से अग्रसर होता है, जिधर से भक्ति रस की प्राप्ति हो सकती है। इसीलिये रामचरितमानस

केवल विशुद्ध काव्य दृष्टि से लिखा हुआ कथा-ग्रथ नही है। उसमे भक्ति रस की प्रधानता है। समन्वय के प्रयत्न मे समझौते की जरूरत होती है। तुलसीदास को ऐसा करने को वाध्य होना पड़ा है। परतु जिस असामान्य दक्षता के साथ तुलसीदास ने इस वात को संभाला है वह अद्भुत है। रामचरितमानस कथा-काव्य की दृष्टि से अनुपमेय होने पर भी उसके प्रवाह मे वाधा पड़ी है। अगर वह विशुद्ध कविता की दृष्टि से लिखा गया होता, तो कुछ और ही हुआ होता। इसम यहाँ दार्शनिक मत को विवेचना है, तो वहाँ भक्ति तत्त्व की व्याख्या। फिर भी अपनी असामान्य दक्षता के कारण तुलसीदास ने इस काव्यगत अतराय को यथासभव कम किया है। अपने प्रयत्न में वे इतने सफल हुए है कि भक्ति विह्वल समालोचको को इसमे कोई दोष ही नही दिखाई देता। कथा का झुकाव इतना वारीकी से पहचाना गया है कि यह बात प्रायः ही पाठक भूल जाता है कि रामचरितमानस का लक्ष्य केवल कथा ही नही और कुछ भी है। शुष्क तत्त्व-ज्ञान तुलसीदास को वहुत प्रिय नही रहा। जव कभी वे उसकी चर्चा करते हैं तो कवि की भाषा मे। उपमाओ और रूपको के प्रयोग से उनका वक्तव्य साफ हो जाता है। और कविता करने के लिये जव तुलसीदास कवि की भाषा का प्रयोग करते है तो वे अद्वितीय नजर आते है।

चरित्र-चित्रण मे तुलसीदास की तुलना संसार के गिने-चुने कवियो के साथ ही की जा सकती है। उनके सभी पात्र उसी प्रकार हाड़-मास के जीव हैं, जिस प्रकार काव्य का पाठक, परतु फिर भी उनमें अलौकिकता है। सवसे अद्भुत वात यह है कि इन चरित्रों की अलौकिकता समझ मे आनेवाली चीज है। जीवत पात्र सिर्फ श्वास-प्रश्वास ही नही लेते, सिर्फ

चरित्र-चित्रण

हमारी भाँति नाना प्रकार की संवेदनाओ को ही नहीं अनुभव करते, बल्कि वे आगे बढते है, पीछे हटते है, अपनी उदात्त वाणी और स्फूर्तिप्रद क्रियाओ से हमारे अदर ऊपर उठने का उत्साह भरते है, हम साथ ले लेते है, हम उनका सग पा जाने पर उल्लसित होते है, उमँगते ह, और सन्मार्ग पर चलने मे जो विघ्न-बाधाएँ आती है उन्हे जीतने का प्रयास करते है। तुलसीदास के जीवत पात्र इसी श्रेणी के है। बहुतेरे सगुणमार्गी भक्तो द्वारा निबद्ध चरित्रो में श्वास-प्रश्वास की क्रिया तो है, सवेदना की तरगे भी है, परतु आगे बढने और बढाने की गति नही है। उनकी अलौकिकता पाठक के चित्त में केवल आश्चर्य-जन्य श्रद्धा और औत्सुक्य-जन्य निष्टा जागृत करके समाप्त हो जाती है। पाठक सोचता है कि ये लोग समर्थ है, और हम नगण्य जीव है। परतु तुलसीदास के पात्र ऐसे नही है। उनकी अलौकिकता हमारी नगण्यता को नही बल्कि हमारी ग्राहिका शक्ति को उत्तेजित करती है। हम उसी मार्ग पर चलने को आतुर हो जाते है। भरत, लक्ष्मण, हनुमान, अगद, सीता, कौशल्या जैसे पात्र हमे प्रेरणा देते है। मानव जीवन के किसी-न-किसी अंग पर वे प्रकाश डालते है, या फिर उनसे किसी-न-किसी सामाजिक असगति की तीव्र आलोचना व्यग्य होती है, या फिर वे मनुष्य और मनुष्य के बीच सद्भावना और पर-दु ख-कातरता की सद्वृत्तियो को जगाते है। अन्य सगुणमार्गी भक्त लीला के लिये लीला-गान करते थे। तुलसीदास ने ऐसा कही नही किया। वे आदर्शवादी ही नही, आदर्श-स्रष्टा थे, और अपने काव्य से भावी समाज की नीव डाल रहे थे। वे उस देश में पैदा हुए थे, जहाँ कल्पना की जा सकती है कि राम के जन्म होने के हजारो वर्ष पहले रामायण लिखी गई थी, अर्थात् जहाँ कवि भविष्य का द्रष्टा और स्रष्टा समझा जाता है।

तुलसीदास ऐसे ही भविष्य द्रष्टा थे। आज तीन, साढे-तीन सौ वर्ष बाद इस विषय मे कोई सदेह नही रह गया कि उन्होने सचमुच ही भावी समाज की सृष्टि की थी। आज का उत्तर भारत तुलसीदास के आदर्शों पर गठित हुआ है। वही उसके मेरुदड है।

भाषा पर प्रभुत्व

भाषा की दृष्टि से भी तुलसीदास की तुलना हिंदी के किसी अन्य कवि से नही की जा सकती। जैसा कि शुरू मे ही बतलाया गया है, उनकी भाषा मे भी एक प्रकार के समन्वय की चेष्टा है। वह जितनी ही लौकिक है उतनी ही शास्त्रीय। उसमे सस्कृत का मिश्रण बडी चतुरता से किया जा सकता है। उसमे एक ऐसा लचीलापन है जो कम कवियो की भाषा में मिलता है। जहाँ जैसा अवसर आया है, वहाँ वह वैसी हो जाती है। जायसी आदि सफल लौकिक भाषा के लेखक कवियो की भाषा से मिलान करने पर यह गुण प्रकट होता है। जायसी की भाषा मे एक ही प्रकार का सहज सरल भाव है, चाहे वह राजा के मुँह से निकली हो, या रानी के मुँह से। किंतु तुलसीदास की भाषा विषयानुकूल तथा वक्ता और बोद्धा के अनुसार हो जाती है। परिचारिका की भाषा और रानी की भाषा मे अंतर है, निषाद की भाषा जितनी ही सरल और अकृत्रिम है, वशिष्ठ की भाषा उतनी ही वैदग्ध्यमडित और परिष्कृत। तुलसीदास के पहले किसी हिंदी कवि ने इतनी मार्जित भाषा का प्रयोग नही किया था। काव्योपयोगी भाषा लिखने मे तो वे कमाल करते है। उनकी विनय-पत्रिका में भाषा का जैसा जोरदार प्रवाह है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जहाँ भाषा साधारण और लौकिक होती है, वहाँ तुलसीदास की उक्तियाँ तीर की तरह चुभ जाती हैं और जहाँ शास्त्रीय और गभीर होती है, वहाँ पाठक का मन

चील की तरह मँडराकर प्रतिपादित सिद्धात को ग्रहण कर लेता है ।

उस युग के किसी भी अन्य कवि को तुलसीदास के समान सूक्ष्मदर्शिनी और सारग्राहिणी दृष्टि नही मिली थी । मानव प्रकृति का उन्हे बडा ही अद्भुत और सूक्ष्म ज्ञान था । बाह्य प्रकृति का उन्होने अपने काव्यो मे बहुत कम ध्यान दिया है । इसमें तो सदेह नही कि जहाँ कही उन्होने इसे छुआ है वहाँ पर्याप्त सफल हुए हैं । पर असल में वे इससे उदासीन ही बने रहे । जो भावुक सहृदय पद-पद पर फूल-पत्तियो को देखकर मुग्ध हो जाता है, झरने और पहाड़ो का वर्णन देखने को व्याकुल रहता है, नदी-नालो को देखकर तन-मन विसार देता है, वह उनके काव्य का लक्षीभूत श्रोता नही है । यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वे गलदश्रु भावुकता को पसद नही करते थे । बाह्य प्रकृति को उन्होने मानव चित्त को उदात्त भावना से भावित करनेवाली शक्ति नही माना । वे भगवान् की नर-लीला में ही इस महागुण का अस्तित्व स्वीकार करते है । यह नर-लीला ही मनुष्य को मनुष्यत्व के चरम लक्ष्य की ओर ले जा सकती है । बाह्य प्रकृति भी किसी परात्पर-शक्ति का भकुटि-विलास ही है, परतु फिर भी तुलसीदास नर-लीला के प्रेमी है । उनकी भावुकता भगवान् के मयनमोहन और करुणायतन रूप में ही प्रकट होती है । कभी-कभी प्रकृति का वर्णन उन्होने एक रस्मया प्रथा पालन के रूप में किया है । ऐसे स्थलो पर उनका मन जैसे रमता ही नही । यह एक विचित्र बात है कि उनके काव्यो में उपमानो के प्रयोग मे काव्यगत रूढियो का बुरी तरह दुरुपयोग हुआ है । कज-लोचन, कजमुख, कंजपद, कंजद्युति आदि मे कज केवल परपरा-प्राप्त उपमान है, एक ही साथ

सारग्राहिणी दृष्टि

सब अंगो के लिये जब इसका प्रयोग किया जाता है, तो पाठक के चित्त में न तो वह अनुभूति उत्पन्न हो पाती है, जो इस उपमान का अभिप्रेत है और न वह आसानी से सामान्य धर्मो को हृदयगम कर सकता है। तुलसीदास जैसे कल्प कवि के लिये, जो आवश्यकता पड़ने पर नये-नये उपमानो को अनायास गढ सकता था, यह कुछ विचित्र-सी बात है। पर इसका भी समाधान शायद उनकी समन्वयात्मिका वृत्ति से हो जाता है। तुलसीदास जैसे मर्यादा-सेवी कवि को वीरता के प्रसग मे शत्रु नारियो के गर्भस्राव का बार-बार उल्लेख खटक जाता है। इसी तरह कई काव्य-रूढियो का उन्होने इस तरह व्यवहार किया है, जैसे उस विषय मे कुछ सोचा ही न हो। यह बात और भी विशेष रूप से इसलिये खटकती है कि अनुचित, अशोभन और अर्थहीन रूढियो का उन्होने सदा तिरस्कार किया है, भले ही उनका समर्थन वाल्मीकि से ही क्यो न हुआ हो।

तुलसीदास के काव्यो मे उनका निरीह भक्त रूप बहुत स्पष्ट हुआ है, पर वे समाज-सुधारक, लोक-नायक, कवि, पडित और भविष्य स्रष्टा भी थे। यह निर्णय करना कठिन है कि इनमे से उनका कौन-सा रूप अधिक आकर्षक था, और अधिक प्रभावशाली था। इन सब गुणो ने तुलसीदास मे एक अपूर्व समता ला दी थी। इसी सतुलित प्रतिभा ने उत्तर-भारत को वह महान् साहित्य दिया जो दुनिया के इतिहास मे अपना प्रतिद्वंद्वी नही जानता।

तुलसीदास के अत्यन्त लोकप्रिय और प्रभावशाली साहित्य के आगे दूसरों [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

किसी प्रकार से चालित या प्रभावित करने मे समर्थ न हो सके। रामानद की शिष्य-मडली मे अनंतानंद का नाम आता है। उनके शिष्य कृष्णदास पयहारी की चर्चा पहले ही आई है। इन्होने गलता के मठ को नाथपथियों के हाथ से ले लिया था। इस मठ की शिष्य-परपरा को आगे चलकर रामानदी प्रभाव को स्वीकार करना पडा था, फिर भी उनमें नाथ प्रभाव बहुत रह गया है। पयहारी जी के शिष्य स्वामी अग्रदास अच्छे कवि थे, ये भी गलता मे ही रहते थे। इनका समय सन् १५७७ ई० के आस-पास है। इनकी चार पुस्तको का पता लगा है---हितोपदेश उपखाण बावनी, ध्यान मजरी, राम ध्यान मजरी, और कुडलिया। इनकी रचना बहुत ललित और मँजी हुई भाषा में है। श्रीराम की लीला का वर्णन करते समय इनकी दृष्टि शोभा और सुषमा की ओर अधिक रहती है, चरित्र-वर्णन की ओर कम।

इन्ही के शिष्य नाभादास थे जिनका भक्तमाल अपने ढंग का अपूर्व ग्रथ है। इसमे अनेक पुराने और नये भक्तो का चरित-वर्णन है। ये तुलसीदास जी के समकालीन थे, क्योंकि इन्होने अपनी पुस्तक भक्तमाल में तुलसीदास का उल्लेख वर्तमान काल की क्रिया में किया है। ३१६ छप्पयो मे २०० भक्तो का चरित है। यह ऐसा अपूर्व ग्रंथ है कि परवर्ती काल मे इसकी एक अपनी परंपरा स्थापित होगई है। इस पुस्तक मे ही भक्तो के नाम के साथ सिद्धियो और चमत्कारो का बीज-वपन हुआ है। सिद्धियो की कथा प्रत्येक नाथपथी सिद्ध के नाम से जुडी हुई थी। १४-१५वी शताब्दी मे निश्चित रूप से इन सिद्धियो की कहानी का अम्बार-सा लग गया था। इब्नबतूता आदि विदेशी यात्रियो ने इन योगियो की सिद्धियों की कहानी सुनी थी। हमने पहले ही विचार किया है कि धार्मिक विश्वासों

नाभादास

की दृष्टि से भक्तिकाल के पहले का काल 'सिद्धिकाल' कहा जा सकता है। नाभादास को ऐसी सैकड़ो सिद्धियो की कहानी गलता मे प्रचलित मिली होगी। उनके दादा गुरु कृष्णदास पयहारी ने, जिन्हें गलती से अष्टछापवाले कृष्णदास अधिकारी के साथ गड्डमड्ड कर दिया जाता है, सिद्धि के प्रताप से ही गलता की गद्दी अधिकार की थी। उन्हे वैष्णव भक्तो की महिमा वताने के लिये सिद्धियों की कहानी आवश्यक लगी होगी। भक्तमाल ने इस उद्देश्य की पूर्ति की।

नाभादास जी के शिष्य प्रियादास जी ने भक्तमाल पर एक टीका कवित्त सवैयो मे लिखी, जिसमे जीवन-वृत्त की अपेक्षा चमत्कारो का ही विस्तार अधिक किया गया। एक विशेष वात इस नवीन विकास मे लक्ष्य करने योग्य है। यह नाथ-

प्रियादास

सिद्धों और वैष्णव भक्तो की प्रवृत्तियो का अतर स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। नाथ-सिद्धो को अपने तपोवल और योग-साधना का गर्व था। उन्होने दिखाना चाहा था कि वे हवा में उड सकते थे, पानी पर खडाऊ पहन कर चल सकते थे, छाया पकड़ कर स्थूल वस्तु की गति रोक सकते थे, शेर पर सवारी कर सकते थे, सर्पों के फण पर शयन कर सकते थे, और भी न जाने क्या-क्या कर सकते थे। सर्वत्र उन्हे अपने तप और योग का भरोसा था। वैष्णव भक्त ऋद्धि-सिद्धि सब भगवान् की साँवरी सूरत और मोहिनी मूरत पर निछावर कर चुके थे। इसीलिये स्वय भगवान् को उनकी रक्षा का भार लेना पडा था। भक्तमाल के वैष्णव भक्तो की मान-रक्षा का भार भगवान् पर आ गया है। भक्त अपना निरीह भाव छोडने को वाध्य नही, उस पर जो भी विपत्ति आती है, वह भगवान् की शरणागति से दूर हो जाती है। इस नई प्रवृत्ति ने भक्तो को वहुत लोकप्रिय वनाया। सटीक भक्त-

माल का एक अनुवाद बंगला मे श्रीकृष्णदास या लालदास नामक भक्त ने किया। इसके अंत मे उन्होने एक लंबा परिशिष्ट जोड़ दिया, जिसमें गौडीय वैष्णव संप्रदाय के सिद्धातो का समावेश है। इस पुस्तक ने परवर्ती बगला साहित्य को कुछ दूर तक प्रभावित किया है। कविवर रवीद्रनाथ ठाकर ने सूरदास तुलसीदास, सनातन, कबीर आदि भक्तो के चरित्रो को आश्रय करके जो सुन्दर कविताएँ लिखी वे इसी ग्रंथ से प्रभावित होकर। इसी प्रकार इसका एक मराठी अनुवाद भी हुआ था, और पता लगा है कि उड़िया मे भी इस सटीक ग्रथ का अनुवाद हुआ था। अब अनेक सप्रदायो में भी इस ग्रथ के अनुकरण पर भक्तमाल जातीय ग्रथ लिखे गए। दादूपंथियों का भक्तमाल लिखा गया, शैव भक्तों की चरितावली बनाई गई, और सिख संप्रदाय में भी भक्तो के चरितवाले ग्रथ रचित हुए। इस प्रकार नाभादास की पुस्तक ने साहित्य और साधना-पद्धति को गभीर रूप से प्रभावित किया। इनकी दो 'अष्टयाम' नामक पुस्तको का भी पता लगा है, जिनमे एक ब्रजभाषा गद्य मे है और दूसरी दोहा-चौपाइयों की शैली मे।

केशवदास

रामचरित सदा से भारतीय साहित्य का प्रिय विषय रहा है। इस काल मे तो भक्ति की नई भावधारा ने इसे और भी अधिक लोकप्रिय बना दिया था। केशवदास की प्रसिद्ध रामचद्रिका इसी चरित को आश्रय करके लिखी गई है। इन दिनो उत्तर भारत में वाल्मीकि के रामायण के ही समान प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक भी बहुत चाव से पढे जाते थे। केशव की रामचद्रिका इन सब ग्रथो से बहुत प्रभावित है। प्रसन्न-राघव से तो ज्यो-का-त्यो सवाद कई स्थानो पर ले लिया गया है। केशवदास ने इस पुस्तक की रचना के संबंध मे

लिखा है कि वाल्मीकि मुनि ने स्वप्न मे कहा, कि 'तू भला-बुरा तो गुनता नही, वेकार की वात लिखा करता है, कुछ राम का चरित्र गा, नही तो तुझे स्वर्ग नही मिलेगा ।' फिर केशवदास ने इस पुस्तक की रचना की । इससे प्रकट होता है कि इससे पहले केशवदास ने वहुत सी व्यर्थ की वाते लिख ली थी । निस्सदेह इनमे प्राकृत जनो के सवध मे लिखी रचनाएँ है । 'रतन बावनी' उनकी प्राकृत जनो को आश्रित करके लिखी हुई कविता है । इसका रचनाकाल उन्होने नही वताया । इस पुस्तक की कुछ घटनाओ के साथ केशव की अन्य पुस्तको मे वर्णित घटनाओ का मेल न देख कर समझा जाता है कि इसका कुछ अंश अवश्य प्रक्षिप्त है । इसमें नाम को देखते हुए छदो की सख्या ५२ होनी चाहिए, पर अभी जो पुस्तक प्राप्त होती है, उसमे यह संख्या ६८ है । इस पर से भी अनुमान होता है कि कुछ अंश इसका प्रक्षिप्त है । यह केशवदास की आरभिक रचना है । इसके वाद उन्होंने निम्नलिखित क्रम से पुस्तक रचना की थी——'रसिकप्रिया' (सं० १६४८, सन् १५९१ ई०), 'कवि-प्रिया' (सं० १६५८, सन् १६०१ ई०), 'रामचद्रिका' (स० १६५८, सन् १६०१ ई०),'वीरसिह देव चरित्र' (स० १६६४, सन् १६०७ ई०), 'विज्ञान गीता' (सं० १६६७, सन् १६०१ ई०), 'जहाँगीर जस चद्रिका' (सं० १६६९, सन् १६१२ ई०) । इस 'कविप्रिया' की रचना राय प्रवीण को काव्य की शिक्षा देने के लिये हुई थी । रसिकप्रिया और कविप्रिया काव्य-शास्त्र की पुस्तके है । जिन दिनों वे इन्हें लिख रहे थे, उन्ही दिनों वाल्मीकि मुनि ने उन्हे स्वप्न में ऐसी वेकार बातों से विरत होने का उपदेश दिया । पर विरत होते थोड़ी देर लगी । रामचंद्रिका के आरंभ में उनका काव्य-शास्त्र-शिक्षक रूप ही प्रधान हो उठा है, नही

तो एक गुरु के छंद से उदाहरण शुरू करने की कोई आवश्यकता नही थी। 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' कोई भक्ति ग्रंथ तो है नही।

खोज की रिपोर्टों मे 'बाल-चरित्र' और 'हनुमान-जन्म-लीला' नाम की दो और पुस्तकें भी केशवदास लिखित पाई गई हैं, पर इनकी रचना की शिथिलता के कारण मिश्रबंधु ने इन्हे किसी और केशवदास की रचना बताई है।

केशव का कवित्व

जान पड़ता है कि इन पुस्तकों में प्राकृत-प्रेम-प्रसंग की चर्चा करते रहने के कारण केशवदास का चित्त ऊब गया था और उन्होंने इस प्रकार के साधारण मनुष्यों के चरित को आश्रय करके लिखे गए काव्य को व्यर्थ का श्रम समझा था। स्वप्न इसी विचार की प्रतिक्रिया थी, और रामचंद्रिका उसी का फल। केशव पंडित कुल में उत्पन्न हुए थे, उन्होंने संस्कृत के शास्त्रों का अच्छा अध्ययन किया था। भाषा में कविता लिखने के कारण वे मन-ही-मन एक प्रकार की हीन भावना का अनुभव कर रहे थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनमें पांडित्य दिखाने का प्रयत्न कुछ मात्रा से अधिक हो गया। रामचंद्रिका इसीलिये चरित-काव्य न बन कर पांडित्य-प्रदर्शी ग्रंथ बन गया है। छंद का परिवर्तन इतना अधिक हुआ है कि ऐसा जान पडता है कि किसी को छंद सिखाने के लिये ही इसकी रचना की गई है। राय प्रवीण को काव्य-शास्त्र की शिक्षा देते-देते शायद छंदः शास्त्र की शिक्षा देने की भी आवश्यकता अनुभव हुई हो। सं० १६५८ में ही कविप्रिया और रामचंद्रिका दोनो का आरंभ हुआ था। इन दिनो अनेक पुराने जैन अपभ्रंश चरित-काव्यों का संधान मिला है। इन चरित-काव्यो में छंद बदलने की प्रवृत्ति पाई जाती है। पृथ्वीराज-

रासो में भी बहुत अधिक छद बदला है, बल्कि यों कहना चाहिए कि पृथ्वीराजरासो छद परिवर्तन का सर्वोत्तम ग्रथ है। कथानक की गति और प्रवाह मे वहाँ छद बाधक नही, साधक है। परन्तु रामचद्रिका मे छदो का परिवर्तन किसी खास उद्देश्य से किया गया नही जान पडता। इससे कथा की गति या मोड़ मे कोई सहायता नही पहुँचती, फिर कथा का प्रवाह भी टूटा-टूटा-सा है। केशवदास की विशेष रुचि सवादो मे है। सुमति और विमति, रावण और वाणासुर, राम और परशुराम, रावण और अगद, इत्यादि के सवाद काफी मनोरजक हुए हैं। ऊपर वताया गया है कि हनुमन्नाटक और प्रसन्नराघव नाटको का सवाद उन दिनो उत्तर भारत में अधिक प्रचलित था और केशवदास के ऊपर भी इसका प्रभाव था। प्रभाव तो गोस्वामी तुलसीदास के रामायण में भी है, परतु वहाँ अत्यत स्वाभाविक और स्वकीयता लिये हुए है। केशवदास के सवाद कथा मे जोड़े हुए से लगते है। कवि को जिस प्रकार का सवेदनशील और प्रेषण-धर्म वाला हृदय मिलना चाहिए वैसा केशवदास को नही मिला था। दूसरा कवि जिन स्थानो पर अधिक जम कर लिखता उन स्थानो पर उनका मन जमा ही नही। राम को वनवास देनेवाले दशरथ-कैकेयी प्रसग को सात पक्तियो में समाप्त कर दिया गया है, लेकिन स्वयवर सभा में राजाओ के वर्णन मे वहुत अधिक परिश्रम किया गया है। किसी प्रकार के रस या भाव को उद्रिक्त करने का अवसर जब मिल जाता है, तव भी वे अलकार-योजना और श्लेष-निर्वाह के चक्कर मे पड़ जाते है। छद और अलकार ही रामचन्द्रिका में प्रतिपाद्य विषय वन गए है। चरित्र को आश्रय करके पहले भी ऐसे काव्य लिखे गए है जिनका उद्देश्य व्याकरण और अलंकार की शिक्षा देना है। प्रसिद्ध भट्टि-

काव्य इसी श्रेणी का काव्य है, और बाद का मंछ कवि द्वारा लिखित 'रघुनाथ रो रूपक' भी इसी जाति की रचना है। इस दृष्टि से रामचंद्रिका भी यदि छंद और अलंकार सिखाने को पुस्तक होती, तो उसकी परंपरा मे इसे रख दिया जा सकता था। परंतु यद्यपि हिंदी मे रामचंद्रिका के पढने-पढाने की परंपरा रही है, तथापि ग्रंथकार का मूल उद्देश्य कुछ ऐसा नही जान पड़ता। वह चरित-काव्य ही लिखना चाहता है। कथा-प्रवाह का शैथिल्य, छंद-परिवर्तन का अनौचित्य और मार्मिक स्थलो मे भी उक्ति चमत्कार का मोह इसे उत्तम चरित-काव्य नही होने देते। फिर भी स्थान-स्थान पर इसमे प्रकृति का बडा सुंदर चित्रण हुआ है। कई संवादो में चरित्रगत वैशिष्ट्य तो नही, लेकिन परिस्थिति के अनुरूप प्रत्युत्पन्नमतित्व का अच्छा परिचय मिलता है, और सरस सूक्तियाँ भी पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है।

'जहाँगीर जस चद्रिका' और 'वीरसिंह देव चरित' बहुत साधारण कोटि के ग्रंथ है। केशवदास की वास्तविक प्रतिभा 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' में ही प्रकट हुई है। वस्तुत केशवदास रीति-काल के ही आचार्य है। परपरा से प्रसिद्ध है कि वे बडे रसिक चित्त के व्यक्ति थे, और अपने केशो को धोखा देने वाली शुक्लता से बहुत खिन्न हो गए थे, क्योकि शत्रु के समान आचरण करनेवाले ये शुक्ल केश मृगनयनियो के मुख से उन्हे बाबा संबोधन निकलवा देते थे—

केसव केसन अस करी जस अरिहू न कराहिं।
चंद्रवदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं।।

पता नही इस किंवदती का मूल क्या है। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि साधारण जनता केशवदास

की रचना में वहुत छिछली और भोड़ी रसिकता का ही संधान पाती है। यह दोहा यह भी सिद्ध करता है कि साधारण जनता समझती है कि किस कवि की रचना में वास्तविक रस है, और किसमें छिछली रसिकता।

कविप्रिया और रसिकप्रिया वस्तुत रीति-ग्रंथ हे, और इनकी चर्चा यथास्थान आगे की जाएगी। जैसा कि पहले ही वताया जा चुका है, गोस्वामी तुलसीदास के लोक-व्यापी प्रभाव ने जहाँ रामचरित को अत्यत लोकप्रिय वना दिया, वही रामचरित सम्वन्धी अन्यान्य काव्यो को श्रीहीन और फीका वना दिया है, इसीलिये परवर्ती काल में रामचरित सवधी कोई काव्य वहुत लोकप्रिय न हो सका। उदयराम राम ने सन् १५६६ ई० में हनुमन्नाटक के आधार पर इसी नाम की एक पुस्तक लिखी, जो कवित्त और सवैया छंदो में है। प्राणचद चौहान ने सन् १६१० ई० मे रामायण महा-नाटक की रचना की। लालदास ने सन् १६४३ ई० में सीताराम की लीलाओं का ग्रथ 'अवध विलास' लिखा और सन् १६६३ ई० में 'वाल भक्ति नेह प्रकाश' और 'दयाल मजरी' नाम के ग्रंथ लिखे, जिनमें प्रथम पुस्तक सीताराम की कहानी है।

अन्य राम-काव्य

रामभक्ति का साहित्य सामाजिक मर्यादा के रक्षण का साहित्य है (वह वैधी भक्ति के आसपास सदा वना रहा है) जवकि कृष्णभक्ति का साहित्य प्रधान रूप से रागानुग भक्ति का साहित्य है। कर्त्तव्य-वुद्धि से जो नियम स्थिर किए जाते हे उन्हे 'विधि' कहते है, और स्वाभाविक रुचि से जो वुद्धि उत्तेजित होती है उसे 'राग' कहते हे। जहाँ तक जड़ जगत का सवंध है वहाँ तक विधि और

रामभक्ति साहित्य की विशेपता

राग मे विरोध रहता है, परंतु जहाँ तक भगवान् का संबंध है, विधि और राग मे कोई अन्तर नही रहता क्योकि दोनो ही स्थान मे इष्ट वस्तु एक ही होती है। वैध भक्त की तीन अवस्थाएँ होती है--१. श्रद्धावान्, २ नैष्ठिक और ३. रुचियुक्त। वैधी भक्ति का अनुयायी सामाजिक वंधन और मर्यादाओ को नही भूलता, जबकि रागानुराग मार्ग का अनुयायी इष्ट के प्रति ऐकातिक भाव से आकृष्ट होता है। अपने ऐकातिक प्रेम के मार्ग मे यदि वह सामाजिक विधि-निषेधो को वाधक पाता है, तो वह उनका उल्लघन कर देता है। गोपियो का प्रेम ऐकातिक प्रेम है। इसीलिये रागानुग मार्ग के अनुयायी भक्त अपने मे गोपियो का अभिमान करके, अर्थात् अपने को किसी-न-किसी गोपी का रूप समझ कर, भगवान् का भजन करते हैं। यही कारण है कि कृष्णभक्ति साहित्य मे सामाजिक विधि-निषेध की मर्यादा की ओर कम ध्यान दिया गया है, और ऐकातिक प्रेम की ओर अधिक। दूसरी ओर राम को आश्रय करके लिखे गए साहित्य मे सामाजिक विधि-निषेध की ओर काफी ध्यान दिया गया है। रामभक्ति के साहित्य मे मर्यादाओ का इतना अधिक ध्यान रक्खा गया है कि कम प्रतिभाशाली कवियो के हाथ में पडकर वह ऊपरी सतह की नैतिकता के रूप मे प्रकट हुआ है। उसमे पद-पद पर यह चिंता है कि कही सामाजिक और पारिवारिक मर्यादा के जो ऊपरी विधान है, उनका रच मात्र भी इतस्तत: न हो जाए।

कृष्णभक्ति की ऐकातिक प्रेम-साधना ने धीरे-धीरे रामभक्ति के साहित्य और साधना को भी प्रभावित किया है। १८वी शताब्दी के बाद अयोध्या के रामायत वैष्णवो में इस प्रकार की मधुर-भाव की साधना का सूत्रपात हुआ है।

कृष्णभक्ति का प्रभाव

मधुर-भाव की उपासना कुछ इतनी आकर्षक और मनोहर है, कि भक्त-हृदय उसकी ओर से आँख नही मूँद सकता। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास ने प्रधान रूप से दास्य-भाव का ही प्रचार किया है, पर गीतावली के उत्तर-काड में कृष्णभक्त कवियो की भाँति माधुर्य की ओर आकृष्ट हुए दिखते है।[1] इसम सखियों का रघुनाथ के सुदर रूप की ओर वैसा ही मधुर आकर्षण है जैसा गोपियो का श्रीकृष्ण की ओर, परतु फिर भी तुलसीदास मर्यादा-प्रेमी कवि है, और अपनी माधुर्य-भावना मे भी सावधान है। किंतु अठारहवी शताब्दी के वाद अयोध्या में माधुर्यभाव की उपासना का पूर्ण प्रवेश हुआ है। १६वी शताब्दी के रामचरितमानस के टीकाकार श्री रामचरणदास जी ने माधुर्यभाव की उपासना चलाई। माधुर्यभाव के उपासक कृष्णभक्त सप्रदाय मे गौडीय वैष्णवो का संभवत. प्रधान स्थान है। महाप्रभु चैतन्यदेव राधाभाव से भगवान् का भजन करते थे, परतु उन लोगो ने भी इस साधना को आतरिक भावना पर ही आश्रित वनाये रक्खा। कभी किसी ने वाह्यरूप मे स्त्रीवेश धरके भगवान् के सामने हाव-भाव नही दिखाया। परंतु अयोध्या के नवीन माधुर्योपासको ने स्त्रीवेष धारण करके लाल साहब (श्रीरामचंद्र) को नाना शृंगारिक चेष्टाओ से प्रसन्न करने की साधना प्रवर्तित की है। इस सप्रदाय का नाम 'स्वसुखी संप्रदाय' या 'स्वसुखी शाखा' है। ये लोग सीताजी को सपत्नी के रूप मे देखते हैं। इस सप्रदाय के पास अपने पक्ष के

---

१ मधुर भाव के उपासक वैष्णव लोग तुलसीदास को (और स्वामी रामानद जी को भी) इसी भाव का उपासक मानते हैं। स्वामी रामानंद का स्थूल शरीर का नाम तो रामानंद था पर आत्मशरीर का नाम रामानंददायिनी था, तुलसीदास जी का तुलसी सहचरी जी था और, और तो और, इस सप्रदाय के आदि प्रवर्तक श्री हनुमान जी का आत्मसवधी नाम श्री चारुशीला जी था।

समर्थन के लिये कई पुस्तके हैं, जैसे 'लोमग सहिता', 'भुशुंडि रामायण' और 'महारासोत्सव' तथा 'कोशल खड' इत्यादि ।

इन पुस्तकों में रामचद्र जी की अनेक रासलीलाओ और विहारो का वर्णन है। रामावतार मे भगवान् ने ९९ रास किए थे, केवल एक बाकी रह गया था, जिसे उन्होने कृष्णावतार मे किया। इस माधुर्यभाव की उपासना मे चिरान (छपरा) के श्री जीवाराम जी ने कुछ परिवर्तन किया, और उन्होने पति-पत्नी भाव के स्थान पर सखी भाव को प्राधान्य दिया, और इसी कारण अपने सप्रदाय का नाम 'तत्सुखी शाखा' रखा। लक्षण किला अयोध्या के युगलानन्य-शरण जी ने सखीभाव की उपासना का खूब प्रचार किया। रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह इनके भक्त थे, और इनकी प्रेरणा से चित्रकूट को वृन्दावन की भाँति क्रीडाकुंज का तीर्थ बनाने का प्रयत्न किया। इस शाखा के मूल प्रवर्तक कोई कृपानिवास नाम के एक आचार्य बताए जाते है, जिनकी 'कृपानिवास पदावली' नामक एक माधुर्यभावपरक पुस्तक भी छपी है।

मधुरभाव का प्रवेश

इन माधुर्यभावोपासक भक्तों में भी रामोपासना का प्रधान गुण मर्यादा का पालन एकदम गायब नही हो गया है। ऊपरी सतह की सामाजिक और पारिवारिक मर्यादा का पालन दृढता के साथ किया जाता है। जो साधु राम को अपना छोटा भाई समझकर उपासना करते है, उनके सामने आने पर सीता या उनकी सखियो का अभिमान करने वाले भक्त तुरत घूँघट खीच लेते हैं। इसी प्रकार जनक का अभिमान करने वाले भक्त उनके सामने सतान-वत्सल पिता की भाँति ही उपस्थित होते हैं; इस प्रकार अपनी ऐकातिक प्रेमनिष्ठा

मे भी रामभक्तों ने मर्यादा की अवहेलना नहीं की है।

जिस प्रकार अयोध्या के साधको ने रामचद्र जी के चरित्र को प्रधानता दी है उसी प्रकार जनकपुर के भक्तो ने जानकी के चरित्र को प्रधान बनाकर ही काव्य लिखा है। सन् १७०३ में अयोध्या के महंत श्री रामप्रियाशरण जी ने 'सीतायन' नाम का एक काव्य लिखा है। सन् १७३४ मे प्रेमसखी नामक एक भक्त हुए हैं, जिन्होने 'जानकी-राम का नखशिख', 'होरी छंदादि प्रबंध' और 'कवित्तादि प्रबंध' नाम की पुस्तके लिखी है। पहली में श्रीराम-जानकी के नखशिख सौंदर्य का वर्णन है. और दूसरी में क्रीड़ा, प्रेम, फाग का सरस वर्णन है। १८वी शताब्दी के अयोध्या-निवासी जानकीरसिकशरण जी ने 'अवधी सागर' नामक एक ग्रंथ की रचना की जिसमें श्री रामचद्र और सीता का अष्टयाम लीला, रास, नृत्य, विहार आदि का वर्णन है।

जनकपुर के भक्तो की विशेषता

१८वीं शताब्दी के अंतिम भाग मे रामायत सखि-संप्रदाय के मूल प्रवर्तक कृपानिवास हुए, जिनकी 'भावना पच्चीसी', 'समय प्रबंध' (अष्टयाम लीला), 'माधुरी प्रकाश' (राम और सीता के अंग. प्रत्यंग के शोभा का वर्णन), 'जानकी सहस्र-नाम' नामक पुस्तकें प्राप्त हुई है। इनकी लिखी पदावली की चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथसिंह जी बड़े भारी रामभक्त थे। परंपरा से यह घराना कबीरदास का भक्त रहा है। महाराज विश्वनाथसिंह जी ने (जन्म सन् १७३५ ई०) बीजक की पांडित्यपूर्ण टीका लिखी जिसमें साकेतवासी श्री रामचंद्र जी की साकार उपासना का प्रतिपादन किया। इन्होने श्री

विश्वनाथ सिंह

रामचरित को आश्रय करके भी कई काव्य लिखे हैं, जिनमे 'आनंद रघुनंदन' नाटक बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें रामचंद्र जी का नाम हितकारी है, रावण का दिक्-शिरा है, सुग्रीव का नाम सुगल है, अगद का भुजभूपण हैं, और हनुमान जी का नाम त्रेतामल्ल है। इस प्रकार महाराज विश्वनाथ सिंह जी ने रामायण के पात्रो के नाम बदल दिए हैं, यद्यपि यह बदलना सार्थक है। इस नाटक मे व्रजभापा गद्य का प्रयोग किया गया है, किन्तु बीजक की टीका में बघेलखडी भापा का व्यवहार है। उनके लिखे अनेक अन्य ग्रथ हैं जिनकी चर्चा आगे रीतियुक्त भावधारा के प्रसग मे की जाएगी।

अयोध्या के श्री रामचरणदास जी, जो सखी-संप्रदाय के 'स्वसुखी शाखा' के प्रवर्तक हैं, कई पुस्तको के लेखक बताए जाते हैं। रामायण पर इनकी टीका तो प्रसिद्ध है ही। पाँच और पुस्तकें इनके नाम पर मिलती हैं, जिनके नाम हैं दृष्टात-बांधिका, कवितावली रामायण, पदावली रामचरित्र, और रसमालिका। इनकी पुस्तको मे माधुर्यभाव के भजन हैं। १९वी शताब्दी के श्री जानकीचरण के भी दो ग्रथ उपलब्ध हुए हैं, प्रेमप्रधान और सियारामरसमंजरी। अयोध्या के श्री बनादास १९वी शताब्दी के श्रीरामभक्ति साहित्य के बहुत प्रमुख स्थान के अधिकारी हैं। इनकी रचनाओं की सख्या काफी अधिक है, पर सभी प्रकाशित नही हैं। इनके ग्रथो में रामचरित के साथ अध्यात्म और संतमत का भी मिश्रण है।

स्वसुखी संप्रदाय

सखी संप्रदाय की तत्सुखी शाखा के प्रवर्तक श्री जीवाराम जी—जिनका भक्त नाम युगलप्रिया था—की भी दो रचनाएँ

मिली है—पदावली और अष्टयाम। १९वी शताब्दी में चान्द्रअली जू नामक भक्त ने 'नेह प्रकाश' नाम की पुस्तकें लिखी जिसकी टीका जनकलाडिलीशरण जी ने लिखी। इसी समय श्री जनकराजकिशोरीशरण जी भी हुए, जिनका भक्त नाम रसिकअली है। इन्होंने भी अष्टयाम, सीताराम-सिद्धात-मुक्तावली और सीताराम-सिद्धात-अनन्य-तरगिणी नामक पुस्तकें लिखी है। इस काल में अयोध्या के रामभक्ति साहित्य में मधुर भाव की साधना का वहुत जोर रहा और राम-जानकी के अष्टयाम लीलाओ और गूढ प्रेम रहस्य को व्यक्त करने वाली पुस्तको की वाढ आ गई। वीसवी शताब्दी मे भी इस सम्प्रदाय में वहुत अच्छे भक्त हुए है। युगलानदशरण जी के शिष्य जानकीवरशरण जी हुए जिनका भक्त नाम प्रीतिलता था; इनके शिष्य श्री रामवल्लभाशरण जो हुए जिनका साधना नाम युगलविहारिनी जी था। इनके शिष्य श्री सियालालशरण जी हुए जो प्रेमलता नाम से साधन भजन और काव्य रचना करते थे। प्रेमलता जी के लिखे तैतीस ग्रथ है जो सव अप्रकाशित है। इनका साकेतवास सन् १९४१ ई० में हुआ है। इनकी रचनाओ में कुछ तो सिद्धात-व्यापक ग्रथ है (जैसे, नामतत्त्व-सिद्धात, नाम-रहस्यत्रयी, सीतारामरहस्यदर्पण इत्यादि), कुछ उपदेश-परक है (जैसे, वैराग्यप्रवोधक वहत्तरी, हितोपदेश शतक, उपदेश पेटिका इत्यादि), और कुछ मे राम-जानकी के विहार और अष्टयाम लीला के पद है। वीसवी शताब्दी मे इस शाखा मे ये वहुत प्रभावशाली सत रहे है। पर यह सारा-का-सारा साहित्य अप्रकाशित और अविवेचित पड़ा हुआ है। जिस समय इस श्रेणी का साहित्य वडी तेजी से लिखा जा रहा था, उस समय साहित्य की मूलधारा दूसरे

तत्सुखी शाखा

रास्ते निकल गई। भगवद्भक्ति की अपेक्षा देशभक्ति और नवीन राष्ट्रचेतना ने उसको अधिक प्रेरणा दी, और यह साहित्य उपेक्षित रह गया।

[इस साहित्य के सहायक ग्रंथ—रामचंद्र शुक्ल · हिंदी साहित्य का इतिहास, रामकुमार वर्मा हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास; माताप्रसाद गुप्त तुलसीदास, रामदास गौड रामचरित-मानस की भूमिका; तुलसी ग्रंथावली (तीसरा भाग); कामिल बुल्के : रामकथा; बल्देवप्रसाद मिश्र : तुलसीदर्शन, राजपति दीक्षित : तुलसीदास।]

७

प्रेम-कथानकों का साहित्य

७

प्रेम-कथानकों का साहित्य

गोस्वामी तुलसीदास जी के पहले लोकभाषा मे प्रेम-कथानको का ऐसा साहित्य काफी अधिक सख्या में लिखा गया था जिसके कथा-अंश का आधार लोक-प्रचलित कथानक थे। कभी-कभी ये काव्य किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम के साथ जुडे होते थे और कभी इनमें के चरित-नायक बिलकुल कल्पित व्यक्ति हुआ करते थे। जब तुलसीदास ने कहा था 'कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लगति पछताना' तो उनके मन मे दोनो प्रकार की रचनाएँ थी। उन दिनो 'मधुमालती', 'मृगावती', 'हीर और राँझा', 'ढोला और मारू', 'सारगा और सदावृक्ष' आदि निजधरी नायक-नायिकाओ की प्रेम-कहानियाँ आजकल के सस्ते ढग के उपन्यासो का काम करती थी। इन प्रेम-संबधी कहानियो को लोग वडे चाव से पढते थे। १७वी शताव्दी के जैन कवि बनारसीदास ने अपने आत्म-चरित 'अर्द्ध कथानक' मे लिखा है कि 'मधुमालती' और 'मृगावती' नामक पुस्तको के पढने का उन्हे ऐसा चस्का लगा था कि दूकान का सव काम-काज छोड़ कर घर मे ही वैठे रहते थे।

प्रेम-कथानको की परपरा

अब घर मे वैठे रहे नाहिन हाट वजार।
मधुमालती मृगावती पोथी दोइ उचार ॥

साधारणत प्रेम-काव्यो का नाम उनकी नायिकाओ के नाम पर रखने की प्रथा वहुत प्राचीन काल से चली आ रही

थी। रत्नावली, पद्मावती, वासवदत्ता, कुवलयमाला आदि नायिकाओ के नाम पर गद्य-काव्य, नाटक, पद्यबद्ध काव्य और चपू जाति की ऐसी रचनाएँ प्राप्त होती है जिन्हे एक शब्द में 'रोमास' कहा जा सकता है। कवियो ने लोक में प्रचलित कथानको का आश्रय लेकर ये कथाएँ लिखी होगी। ऐसी लोक-कथाओ का सबसे बडा संग्रह पैशाची में लिखी गई गुणाढ्य कवि की 'वृहत् कथा' थी जो मूल रूप में अब प्राप्त नही है, पर क्षेमेद्र और सोमदेव आदि कवियो द्वारा सस्कृत मे रूपानरित होकर बची हुई है। इस ग्रथ की कहानियो में नरवाहन दत्त, उदयन आदि ऐतिहासिक राजाओं के नाम से सबद्ध है, पर अधिकाश म नाम के अतिरिक्त बाकी सारी बातें कल्पित ही है। उदयन की कथाएँ प्राचीन भारत के गाँव-गाँव मे प्रचलित थी। कालिदास के मेघदूत में गाँव के बडे बूढों को 'उदयन-कथा-कोविद' अर्थात् उदयन की कहानी कहने मे पटु बताया गया है। नरवाहन दत्त भी किसी ऐतिहासिक राजा का नाम होगा। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि यह प्रसिद्ध शक नरपति 'नहपान' का ही सस्कृत बनाया हुआ रूप है। जो हो, इन कहानियो मे ऐतिहासिक राजाओं क नाम अवश्य जुडे रहते थे पर उनके विषय मे जो प्रेम की कथाएँ दी जाती थी उनका सब समय ऐतिहासिक होना जरूरी नही था। इसी प्रकार के प्रसिद्ध राजाओ मे शूद्रक, हाल, सातवाहन, विक्रमादित्य आदि भी थे जिनके नाम पर दर्जनो कहानियाँ प्रचलित थी। प्राकृत और अपभ्रश में भी प्रेम-कथाओ की यह परपरा चलती रही। नवी शताब्दी के कौतूहल नामक प्राकृत भाषा के कवि ने लीलावती नामक प्रेम कथानक लिखा था। १०वी शताब्दी के मयूर कवि ने भी पद्मावती-कथा नाम का एक काव्य लिखा था। ऐसा जान पडता है कि आगे चलकर 'वती' प्रत्यय युक्त नाम

लोक-कथानकों मे बहुत जनप्रिय हो गया। 'लीलावती', 'पद्मावती' आदि नाम पुराने साहित्य में मिलते है। परवर्ती साहित्य में इन शब्दो की तौल पर गढ़े हुए 'कनकावती', 'मुग्धावती', 'मृगावती', 'सपनावती' आदि नाम प्रचलित होगए थे। फिर भी मधुमालती, कानकंदला, रूपमंजरी, 'विद्युद्-लेखा जसे काव्यात्मक नाम एकदम भुला नही दिए गए। पद्मावत में ऐसी प्रेम-कहानियो की एक लंबी सूची दी गई है जिससे पता चलता है कि उन दिनो की 'सपनावती', 'मुगधा-वती', 'मिरगावती', 'मधुमालती', 'प्रेमावती', 'खंडरावती' आदि नायिकाओं को केंद्र करके लिखी हुई या कही जाने वाली प्रेम-कहानियाँ काफी प्रचलित थी। पृथ्वीराजरासो में पृथ्वीराज की पद्मावती, हंसावती, इंद्रावती आदि रानियो के विवाह की कथाएँ है। मूलत: ये सभी प्रेम-कथानक हैं। इनमें प्रेम-कथानकों की सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। अंतर इतना ही है कि यहाँ नायक की युद्ध-पटुता और शौर्य-प्रदर्शन मुख्य हो गया है और प्रेम-व्यापार गौण। इस गौणता के कारण ही आगे आलोचित होने वाले प्रेम-कथानको के प्रसंग में हमने इनकी गणना नही की है किंतु इसमे कोई संदेह नही कि 'पद्मावती' की वही लोक-प्रचलित कथा रासो में भी ग्रहण की गई है जो जायसी के काव्य का आधार है। पृथ्वीराज की अन्य रानियो के साथ विवाह की कथाएँ भी लोक-प्रचलित कथानकों को ही आश्रय करके लिखी गई हैं। उनमे ऐति-हासिकता एकदम नही है।

ऐतिहासिक नरेशों के साथ कल्पित या अर्द्ध-कल्पित प्रेम की कहानियों पर आधारित प्रेम-काव्य इस देश में हमेशा ही लिखे गए हैं। यह कह सकना कठिन है कि इनमें किन-किन कहानियों को आश्रय करके प्रेम-काव्य लिखे गए। बनारसीदास के उल्लेख से यह तो स्पष्ट है कि 'मधुमालती'

और 'मृगावती' नाम की पुस्तकें लिखी गई थी। इस नाम की दो पुस्तकें प्राप्त भी हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन कहानियों को आश्रय करके एकाधिक कवियों ने काव्य लिखे होंगे। उदाहरणार्थ मझन ने मधुमालती की कथा का आश्रय लेकर अपना काव्य लिखा था और दक्षिण के उर्दू कवि नसरती ने 'गुलशने इश्क' नाम से यही कहानी लिखी थी।

प्रेम-कथानकों की आधारभूत कहानियाँ

इसी प्रकार १८वी शताब्दी के निगम कायस्थ ने 'मधुमालती' की प्रसिद्ध लोक-कथा को आश्रय करके ७९६ दोहे-चौपाइयो में एक काव्य लिखा था जिसका कथानक और स्वर दोनो ही मझन से भिन्न है। कुतबन ने अपनी मृगावती मे लिखा है कि 'यह कथा पहले से ही चली आ रही थी। इसमे योग, शृंगार और विरह रस वर्तमान था। मैंने दुबारा फिर उसी कथा को लिपिबद्ध किया है।' कुतबन का यह दावा अवश्य है कि पहले से ही प्रचलित कथा के अर्थ को उन्होने नये सिरे से स्पष्ट किया है— 'पुनि हम खोलि अरथ सब कहा।' सूफी कवियो का यही विशेष दृष्टिकोण है। वे लोक-प्रचलित कथा में नये अर्थ को भरते है।

दिल्ली के बादशाह सिकदर शाह (१४७९–१५१७) के समकालीन कवि ईश्वरदास ने भी दोहे-चौपाइयो में सत्यवती कथा नाम की पुस्तक लिखी थी। इसमे व्यास-जनमेजय के सवाद रूप से कथा शुरू होती है। ५–५ अर्द्धालियो के बाद दोहे का घत्ता है। इसकी भाषा ठेठ अवधी है। पूर्वी प्रदेशो में कथानक लिखने के लिये जिस काव्य शैली का व्यवहार होता था उसका उत्तम नमूना इस पुस्तक में है। इनमें भी एक प्रेम-कहानी है; यद्यपि सूफी कवियों को जिस प्रकार का परोक्षसत्ता-परक प्रेम है और अर्थ खोलने के उद्देश्य से जैसा सांकेतिक प्रयोग है, वह इसमें नही है। सती की

महिमा और पतिव्रत धर्म के महात्म्य को बताने के उद्देश्य से ही यह पुस्तक लिखी गई थी । गोस्वामी तुलसीदास जी की रामायण मे एक ओर जहाँ काव्य गुण अत्यधिक मात्रा में प्राप्त था, वही दूसरी ओर उसमे धर्म-भावना का योग भी था । इसीलिये इस महाग्रथ ने 'प्राकृत जन गुन गान मूलक' सभी प्राकृत कथाओं को प्राय समाप्त कर दिया । रामायण का प्रवेश मुस्लिम घरो मे बहुत कम हो सका इसीलिये वहाँ कुछ पुरानी प्रेम-कहानियाँ बच गई ।

भारतवर्ष के सूफी कवियो ने अपने आध्यात्मिक सिद्धातों के प्रचार के लिये इन कहानियो का उपयोग किया । यह कोई नई बात नही है । प्राचीन काल मे भी लोक-प्रचलित कहानियो का धार्मिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्य से प्रयोग किया गया है । महाभारत और पुराणो मे, जातक कथाओं में तथा बौद्धो के अवदान-साहित्य मे, जैन कवियों द्वारा लिखित चरित-काव्यो मे इस पद्धति का पूरा उपयोग किया गया है । यदि सूफी कवियो ने भी इस पद्धति को अपनाया तो यह कोई नई बात नही थी ।

सूफी कवियो द्वारा निवद्ध प्रेम-कथानक

प्रेम-कथानको पर आश्रित काव्य तीन श्रेणियो के प्राप्त हुए है —

१—आध्यात्मिक सिद्धातो के प्रचार के लिये लिखे गए काव्य ।

२—विशुद्ध लौकिक प्रेम-काव्य ।

३—अर्द्ध-ऐतिहासिक प्रेम-गाथाएँ ।

प्रथम श्रेणी मे मुख्य रूप से सूफी कवियो की लिखी गई प्रेम-कहानियाँ आती है किंतु सूफियो के अतिरिक्त अन्य भक्त कवियो ने भी इस शैली को थोड़ा-बहुत अपनाया है ।

इसलिये इन काव्यों को दो श्रेणियो में बाँट सकते हैं— (१) सूफी कवियो के लिखे हुए प्रेम-काव्य और (२) अन्य भक्त कवियो द्वारा लिखे गए प्रेम-काव्य। हिंदी साहित्य में प्रमुख और विशिष्ट होने के कारण पहले सूफी कवियों की चर्चा की जा रही है।

सूफी-संप्रदाय का प्रवेश इस देश मे ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती (१२वी शताब्दी) के समय से माना जाता है।

सूफी मत का भारतवर्ष में प्रवेश

सूफियो के चार सप्रदाय—चिश्ती (१२वीं शताब्दी), सोहरावर्दी (१२वीं शताब्दी), कादरी (१५वी शताब्दी) और नक्सबंदी (१५वी शताब्दी)—इस देश मे आए हैं। इनका सादा जीवन, उच्च विचार और प्रेम का तत्ववाद भारत के धर्म-जिज्ञासुओं को धीरे-धीरे आकृष्ट करने लगा। भारतीय सूफी संतो ने इसकी प्रचलित लोक-कथाओ का आश्रय करके अपने आध्यात्मिक विचार का प्रचार आरंभ किया। इस श्रेणी का सबसे प्रथम काव्य अलाउद्दीन खिलजी के राज्य-काल के मुल्ला दाऊद नामक किसी सूफी संत का चंद्रावत या चंद्रावती नामक काव्य बताया जाता है। इधर सुना गया है कि इसकी एक प्रति उपलब्ध हुई है पर अभी तक यह प्रकाशित नही है इसलिये इस काव्य के विषय में कुछ कहना सभव नही है।

दूसरे सूफी कवि कुतवन हैं (१५वी शताब्दी का अत्य भाग और १६वी शताब्दी का प्रथम भाग) जिन्होंने

कुतवन

सन् ९०९ हिजरी अर्थात् १५०१ ईस्वी में मृगावती नामक प्रेम-काव्य लिखा। इसकी एक खडित प्रति प्राप्त हुई है। इस पुस्तक से कुतवन के संबंध में इतना ज्ञान होता है, कि वे शेख बुड्ढन के शिष्य थे। इनके जीवन काल में हुसेनशाह राज्य कर रहे थे।

ये हुसेनशाह जौनपुर के शासक थे। शेरशाह इन्ही के पुत्र थे। मृगावती हिजरी सन् ९०९ (सन् १५०१ ई०) मे पहले से चली आती हुई कथा को आश्रय करके लिखी गई थी। मृगावती मे कुछ ऐसी कथानक-रूढियो का व्यवहार किया गया है जो भारतीय साहित्य मे नवीन जान पड़ती है। चंद्रगिरि के राजा गणपति देव का पुत्र कंचनगिरि के राजा रूपमुरारी की पुत्री पर मुग्ध हुआ। अनेक कष्ट सहने के बाद वह अपनी प्रेमिका को पाने मे समर्थ हुआ पर राजकुमारी उडने की विद्या जानती थी और राजकुमार को धोखा देकर उड़ गई। भारतीय कथाओ मे प्रेमिका का धोका देना अपरिचित तथ्य नही है पर उड कर अन्यत्र जाना नई रूढ़ि है। फिर राजकुमार योगी होकर मृगावती के खोज में निकल पड़ता है, रास्ते मे किसी राक्षस के हाथ से रुक्मिणी नाम की किसी अन्य सुन्दरी का उद्धार करता है और उससे विवाह-सूत्र मे बँधता है। इसके बाद वह फिर उस नगर में पहुँचता है जहाँ मधुमालती अपने पिता की मृत्यु के बाद सिंहासनासीन हो राज्य कर रही थी। बारह वर्ष बाद राजकुमार के पिता को पुत्र का समाचार मिलता है और उसे बुला भेजता है। राजकुमार अपनी दोनो पत्नियों के साथ घर लौटता है। अंत में एक शिकार मे मृत्यु हो जाने के बाद दोनों स्त्रियाँ सती हो जाती है।

दो बाते इस कहानी मे विशेष ध्यान देने की है। एक तो पुरुष का ऐकांतिक प्रेम और प्रिया को प्राप्त करने के लिये कठिन साधना; दूसरा, प्रिया का धोखा देकर उड़ जाना और दूसरे देश में जाकर राज्य-शासन करना। इस प्रकार की कथानक-रूढियाँ इस देश मे नई ही है। प्रेम पात्र में ऐश्वर्य वृद्धि और कठिन साधना के द्वारा ही उसको प्राप्ति तथा माधुर्यभाव के द्वारा ऐश्वर्य भाव का पराभव,

ये सूफियो के आध्यात्मिक आदर्श हैं। यहाँ प्रिय भगवान् का प्रतीक है और धोखा देकर उड जाना उसके प्रेम की सचाई की परीक्षा है। सूफी कवियों ने सदा प्रेमी को अनेक विघ्नो में से निकाल कर नायिका तक पहुँचाया है। लौकिक पक्ष मे यह प्रेम को ऐकान्तिकता का सूचक है और पारलौकिक पक्ष मे साधना की गहनता का।

प्रायः सभी सूफी कवियो ने एक ही प्रकार के काव्यरूपों का उपयोग किया है। इनकी भाषा अवधी होती है; छंद, चौपाई और दोहा। चौपाई और दोहा में काव्य लिखने की प्रथा पूर्वी प्रदेशो में ही पाई जाती है। पश्चिमी प्रदेशों की काव्य-पद्धति पद्धडिया बंध (देखिए पृष्ठ १२) प्रथा थी। कभी-कभी दूसरे छंद भी व्यवहृत होते थे परंतु साधारण प्रथा घत्ता ही की थी। इस प्रकार आठ पद्धडिया या अलिल्लह छंद के बाद जो घत्ता दिया जाता था उसे अपभ्रंश मे 'कडवक' कहते थे। चौपाई और दोहे का सबसे पुराना प्रयोग सरहपाद की रचनाओ मे मिलता है, फिर कबीरदास की रचनाओ मे यह प्रयोग पाया जाता है। ऐसा जान पडता है कि पूर्वी प्रदेशो मे चौपाई और दोहा मे लिखने की प्रथा थी। शुरू-शुरु मे पाई जाने वाली सूफी कहानियो में पाँच-पाँच अर्द्धालियो के बाद दोहा देने का नियम था पर मलिक मुहम्मद जायसी ने आठ-आठ अर्द्धालियो पर दिया है। आगे चलकर यह प्रथा रूढ हो गई। किसी-किसी सूफी कवि ने दोहे का घत्ता न देकर अन्य छंदो का भी घत्ता दिया है। कितने अर्द्धालियो के बाद घत्ता दिया जाएगा इसका कोई नियम नही है। किसी ने पाँच, किसी ने छ, किसी ने सात अर्द्धालियो पर दोहा लिखा है। कभी-कभी ९ अर्द्धालियो पर भी दोहे का घत्ता मिलता है।

सूफी कवियों द्वारा व्यवहृत काव्यरूप

प्रायः सभी सूफी कवि आरंभ मे मुहम्मद और परमात्मा की स्तुति करते हैं, अपने गुरु या पीर का नाम बताते हैं, और ग्रंथ का रचनाकाल भी बता देते हैं। शाहेवक्त अर्थात् समकालीन बादशाह का उल्लेख नियमित रूप से सूफी कवियो की रचनाओं मे प्राप्त होता है। यह सूफी कवियो की विशेषता बताई जाती है। नवी-दसवी शताब्दी से कई भारतीय कवियों मे भी समकालीन राजा का उल्लेख मिलता है। तिलकमंजरी मे धनपाल ने अपने समय के धार के परमार राजाओ की स्तुति की है। परंतु सभी भारतीय कवियों ने इस नियम का दृढतापूर्वक पालन नही किया।

कथानक को गति देने के लिये सूफी कवियो ने प्रायः उन सभी कथानक-रूढियो का व्यवहार किया है जो परंपरा से भारतीय कथाओ मे व्यवहृत होती रही हैं; जैसे—चित्र दर्शन, स्वप्न द्वारा अथवा शुक-सारिका आदि द्वारा नायिका का रूप देख या सुनकर उस पर आसक्त होना, पशु-पक्षियो की बात-चीत से भावी घटना का संकेत पाना, मंदिर या चित्रशाला मे प्रिय युगल का मिलन होना, इत्यादि। कुछ नई कथानक-रूढियाँ ईरानी साहित्य से आ गई हैं, जैसे प्रेम-व्यापार मे परियो और देवो का सहयोग, उड़नेवाली राजकुमारियाँ, राजकुमारी का प्रेमी को गिरफ्तार करा लेना, इत्यादि। परंतु इन नई कथानक शैलियो को भी कवियो ने पूर्णरूप से भारतीय वातावरण के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। अधिकांश सूफी कवियो के काव्यों का मूल आधार भारतीय लोक-कथाएँ हैं। परंतु १८वी शताब्दी और उसके बाद के कवियों में यूसुफजुलेखा, उर्सेद-नूरजहाँ आदि ईरानी कहानियो का भी आश्रय लिया गया है। यद्यपि ये काव्य अवधी भाषा मे लिखे गए हैं फिर भी इनकी लिपि फ़ारसी हुआ करती थी। बहुत-सी काव्य पुस्तकें उर्दू अक्षरो मे छपी हैं। कुछ की प्राचीन

प्रतियाँ कैथी लिपि मे भी मिलती है। अधिकाश सूफी कवि उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो के रहनेवाले हैं। इनकी रचनाओं से स्पष्ट होता है कि परवर्तीकाल मे ये क्रमशः हिंदी कविता की साधारण धारा से विच्छिन्न होते गए हैं। यद्यपि इनकी परपरा २०वी शताब्दी तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही है तथापि अंतिम दिनो मे न तो इस धारा ने हिंदी काव्यधारा को प्रभावित किया है और न स्वयं ही उसके द्वारा प्रभावित हुई है फिर भी यह साहित्य हिंदी का महत्वपूर्ण अंग है। इसमे मनुष्य के वास्तविक हृदय की ऐसी तड़पन व्यक्त हुई है जो जाति, देश, सप्रदाय से परे है।

मझन

इसी प्रकार मझन कवि के 'मधुमालती' नामक काव्य की एक खडित प्रति प्राप्त हुई है। इसमे कहानी यद्यपि सम्पूर्ण रूप से भारतीय वातावरण लेकर ही आती है तथापि कुछ ऐसी काव्य-रूढ़ियो का प्रयोग है जो भारतीय कथानक साहित्य में अल्प परिचित है। इसमे अप्सराएँ राजकुमार को उड़ा कर मधुमालती की चित्रसारी मे ले आती है और वही से दोनो के प्रेम का आरम्भ होता है। भारतीय साहित्य में उषा और अनिरुद्ध की कहानी मे नायक को नायिकाओ के घर पहुँचाए जाने की कथा शैली पाई जाती है। परतु यह भी बाणासुर नामक असुरराज की राजकुमारी की कथा है और विद्वानों का विचार है कि इस कथा की कथानक शैली को भारतीय की अपेक्षा असीरियन कहना अधिक उचित है। यह कहने की शायद आवश्यकता नही है कि सभी असीरियन काव्य-शैलियाँ और काव्य-रूढियाँ ईरानी साहित्य मे गृहीत हो गई थी और फारसी कवियो के माध्यम से भारतवर्ष में भी मध्य युग मे आने लगी थी। मृगावती के समान ही इस मधुमालती मे भी उडनेवाली स्त्रियोवाली-कथानक-रूढि का व्यवहार हुआ है।

मंझन ने इस काव्य की रचना सन् १५४५ ई० मे की थी।

इस काव्य मे भी समासोक्ति पद्धति मे भगवान् की ओर सकेत है। इसमें मधुमालती के रूप के बहाने समस्त प्रकृति में व्याप्त व्यापक रूप की ओर सकेत किया गया है। मलिक मुहम्मद जायसी ने जिस पारम रूप की कल्पना की है उसका परिचय मंझन के इस काव्य से भी मिलता है।

यहै रूप बुत यहै छिपाना। यहै रूप सब सृष्टि समाना॥
यहै रूप सकति अरु सिवौ। यहै रूप त्रिभुवन कर जीवौ॥
यहै रूप निरखब बहु भेषा। यहै रूप जग रंक नरेसा॥

यहै रूप त्रिभुवन जग परसै यहि पाताल अकास।
सोई रूप प्रगट मै देखौ कहा हवाल।

आगे चल कर यह सकेत किया गया है कि जो अपने को संपूर्ण रूप से खो देता है वही उसे कुछ-कुछ देख पाता है।

यहै रूप जलघर औ. तेहि भाव अनेक देखाव।
आप गँवाए जो रे कोई देखै, सो कुछ देखै पाव।

पंडित रामचद्र शुक्ल ने मझन को जायसी का पूर्ववर्त्ती कवि माना है लेकिन मंझन कवि ने शाहवक्त के वर्णन के प्रसग मे जिस सलेमशाह का वर्णन किया है वह यदि शेरशाह का पुत्र हो तो यह रचना पद्मावती के बाद की होगी· क्योंकि शेरशाह सन् १५४५ में मरा और उसके बाद ही वह गद्दी पर बैठा होगा। फिर कवि ने स्वय ही लिखा है—

सन् नवसै बावन जब भये, सबै बरस कुल परिहर गये।
तब हम जो उपजी अभिलाषा. कथा एक बाँधी बन भाषा।

इस पर से यह स्पष्ट लगता है कि कवि ने सन् ९५२

हिजरी मे अर्थात् सन् १५४५ ई० मे लिखा था। उधर मलिक मुहम्मद जायसी ने सन् ९२७ हिजरी मे अपना काव्य लिखा था। कुछ लोग ९२७ को ९४७ पढते है परतु जो भी पाठ स्वीकार किया जाए, मधुमालती पद्मावती के बाद की ही रचना सिद्ध होती है। पडित परशुराम चतुर्वेदी ने मझन को जायसी का परवर्ती माना है। पर प० रामचद्र शुक्ल ने इन्हें जायसी का पूर्ववर्ती कवि कहा है।

सूफी कवियो मे सर्वश्रेष्ठ मलिक मुहम्मद जायसी थे जो कही बाहर से जायस मे आए थे और इसी धर्म-स्थान को

मलिक मुहम्मद जायसी

अपना निवास-स्थान बना लिया था। इनकी प्रसिद्ध रचना 'पद्मावत' है, 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' नामक दो और रचनाएँ भी प्राप्त हुई है। भगवान् ने इन्हें रूप देने में बडी कजूसी की थी किंतु शुद्ध, निर्मल और प्रेम-परायण हृदय देने मे बडी उदारता से काम लिया था। इनके जन्म-समय के सबंध में कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है। 'आखिरी कलाम' में इन्होने अपना जन्म हिजरी सन् की ९वी शताब्दी में हुआ बताया है। इनके जन्म के दिन बडे जोर का भूकंप हुआ था। इनकी मृत्यु सन् १५४२ ई० में बताई जाती है। पद्मावत का रचनाकाल इन्होने ९२७ अर्थात् सन् १५२१ ईस्वी लिखा है और यह भी बताया है कि उस समय दिल्ली का सुल्तान शेरशाह था। यह दोनो बाते परस्पर विरोधी है। क्योकि शेरशाह १५४०–४५ तक दिल्ली के सिंहासन पर था। इसीलिये कुछ लोगो ने ९२७ को ९४७ पढ लिया है। यह कहना चाहा है कि वस्तुतः पद्मावत १५४०–१५४१ मे शुरू किया गया। बगाल के कवि अलावल ने पद्मावत का जो अनुवाद बंगला मे किया था उसमे उसका रचनाकाल ९२७ हिजरी ही बताया गया है। जान पड़ता है

कि कवि ने पद्मावत का आरंभ तो ९२७ हिजरी अर्थात् सन् १५२१ में ही किया था पर जब कथा समाप्ति पर आई उस समय शेरशाह दिल्ली के तख़्त पर विराजमान हो चुके थे। मलिक मुहम्मद ने अपने दो गुरुओं का उल्लेख किया है—एक तो सैयद असरफ जो शायद जायस के ही निवासी थे, दूसरे शेख मुहीउद्दीन जो निजामुद्दीन औलिया के वशज थे।

पद्मावती की कथा

पद्मावत की कहानी परिचित है। इसमे सिंहल देश की राजकुमारी पद्मावती और चित्तौड के राजा रतनसेन का प्रेम वर्णित है। पद्मावती के शुक के मुख से उसके रूप की प्रशंसा सुनकर राजा रतनसेन उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है। इस कहानी के अंत मे अलाउद्दीन के चित्तौड़ आक्रमण की कहानी आई है। इस आक्रमण का कारण पद्मावती का रूप ही है। कहानी के अंत में गोरा-बादल की लडाई है जो आगे चलकर बहुत रोचक काव्य-विषय बन गई थी। अलाउद्दीन इसमे अत्यंत धोखेबाज राजा के रूप मे चित्रित हुआ है और चित्तौड के राजपूत भी उसे उत्तर देने मे इसी कला का आश्रय लेते है। इस कथानक के दो भाग है। प्रथम मे राजा रतनसेन के एकांतिक प्रेम का बडा जीवत चित्रण है और इसकी पहली रानी नागमती के वियोग का बहुत हृदय-विदारक वर्णन दिया हुआ है। दूसरे भाग की कथा मे कुछ ऐतिहासिकता का मिश्रण हो गया है।

पद्मावती नाम भारतीय साहित्य मे बहुत परिचित है। संस्कृत के कई काव्यो की नायिका का नाम पद्मावती है। हिंदी में इस नाम के साथ मलिक मुहम्मद जायसी के प्रसिद्ध काव्य का योग है। गुजराती साहित्य मे भी यह नाम और यह कथा परिचित है। इस बात के विश्वास करने का कारण है कि कहानी का मूल रूप काफी पुराना रहा होगा। जायसी ने

'गजपति', 'नरपति' और 'अश्वपति' राजाओं का उल्लेख किया है। १२वीं शताब्दी तक के शिलालेखों में इन शब्दों का पता लता है। बाद में ये शब्द भुला दिए गए हैं। जायसी की हानी में इन शब्दों के आने का अर्थ यह है कि यह कहानी कम-से-कम १२वीं शताब्दी में अवश्य प्रचलित थी। परंतु कहानी का उत्तरार्द्ध परवर्ती है।

पद्मावती के कथानक और गोरा-बादल की कहानियों को आश्रय करके लिखे हुए अनेक कवियों के काव्य प्राप्त हुए हैं जिनमें हेमरतन (१५८८ ई०), जटमल (१६१३ ई०), लब्धोदय (१६५० ई०), सग्राम सूरि (१७०३ ई०), गिरिधारी लाल (१७७५ ई०) विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। संयोगवश ये सभी कवि जायसी के परवर्ती हैं और इसीलिये इनसे यह पता नहीं चलता कि जायसी की कहानी कितनी पुरानी है। इतना निश्चित है कि यह आख्यान बहुत लोकप्रिय था। इसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता के विषय में संदेह प्रकट किया गया है पर इसकी लोक-मनोहारिता को स्वीकार करना ही पडता है। जान पडता है जायसी ने ही प्रथम बार पुराने पद्मावती आख्यान के साथ किसी नये कथानक को जोडा है जिसके मुख्य पात्र गोरा-बादल थे। परन्तु यह अनुमान ही अनुमान है।

जायसी को रहस्यवादी कवि कहा जाता है। सूफियों का रहस्यवाद अद्वैत-भावना पर आश्रित है। रहस्यवादी भक्त

जायसी का रहस्यवाद

परमात्मा को अपने प्रिय के रूप में देखता है और उससे मिलन के लिये व्याकुल रहता है। जिस प्रकार मेघ और समुद्र के पानी में कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं, उसी प्रकार भक्त और भगवान् में कोई भेद नहीं है। फिर भी मेघ का पानी नदी का रूप धारण करके समुद्र के पानी में मिल जाने

को आतुर रहता है। उसी श्रेणी की आतुरता भक्त मे भी होती है। सूफी कवियो ने अपने प्रेम-कथानकों की प्रेमिका को भगवान् का प्रतीक माना है। जायसी भी सूफियो को इस भक्ति भावना के अनुसार अपने काव्य मे परमात्मा को प्रिया के रूप मे देखते है और जगत् के समस्त रूपों को उसकी छाया से उद्भासित बताते है। उनके काव्य मे प्रकृति उसी परम प्रिय के समागम के लिये उत्कठित और व्याकुल पाई जाती है।

पद्मावती का रूप

दो स्थान पर कवि ने पद्मावती के रूप का वर्णन किया है--हीरामन सुआ द्वारा चित्तौड के राजा रतनसेन से, और राघव चेतन द्वारा दिल्ली मे बादशाह अलाउद्दीन से। दोनो जगहो पर वर्णन नखशिख की प्रणाली पर है। अग-प्रत्यग के वर्णन के लिये सादृश्यमूलक अलकारो का विधान किया गया है। ये उपमान साधारणत परपरा-प्रचलित है और उनके जिन गुणो की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है वे दीर्घकाल से इस देश के आलकारिको मे प्रसिद्ध है। कुछ थोडे-से नये भी है जैसे कटि की क्षीणता की उपमा भिड से दी गई है।

इस रूप-वर्णन की विशेषता यह है--(१) रूप सौंदर्य के सृष्टिव्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना की गई है अर्थात् केशो की दीर्घता, सघनता और श्यामता के वर्णन के लिये परपरा से प्रचलित पद्धति के अनुसार केवल सादृश्य पर जोर न देकर कवि ने उसके लोकव्यापी प्रभाव की ओर सकेत किया है, जैसे--'बेनी छोरि झार जो बारा, सरग पताल होइ उजियारा' अर्थात् जब पद्मावती अपनी बेनी खोलकर केश झाडने लगती थी तो स्वर्ग और पाताल उद्भासित हो उठते थ, और "उनई घटा परी जग छांहा"--इसमे केशो की घटा

कहना तो केवल सादृश्य का सकेत करता है किंतु सारे ससार में उससे छाँह् पड़ जाना इस बात की ओर इंगित करता है कि यह रूप सारे ससार को छाँह् और शीतलता देता है। इसी प्रकार प्रत्येक अग के उपमान केवल सादृश्यगत साधारण धर्म को ही बता कर विरत नही हो जाते वल्कि उसके लोक-व्यापक प्रभाव को भी बता देते है। (२) जायसी ने इस रूप को पारस रूप कहा है। पारस रूप अर्थात् जिसके स्पर्श से इस जगत् के रूप में अद्‌भुत माधुर्य आ जाता है। अलाउद्दीन ने भी पद्मावती के उस पारस रूप की एक झलक दर्पण में प्राप्त की थी परतु उतने से ही उसे जान पड़ा कि पृथ्वी और आकाश सभी सोना हो गए है। 'होतहि दरस परस भई लोना, धरती सरग भएउ सब सोना।' (३) रूप-वर्णन के प्रसग में जायसी अत्युक्तियो पर उतर आते है। परतु अधिकांश स्थलो में उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्तियो के द्वारा वस्तु की व्यजना न होकर संवेदना या अनुभूति की व्यजना होती है। इसलिये सहृदय का चित्त वस्तु की ओर जाने ही नही पाता। फिर कवि बराबर परोक्ष सत्ता की ओर इशारा करता है और इस प्रकार सहृदय का मन प्रस्तुत विषय से हटकर अप्रस्तुत परोक्ष सत्ता की ओर जाता रहता है। इसका फल यह होता है कि अन्यान्य कवियो की इस श्रेणी की अत्युक्तियो में वस्तु पर दृष्टि निवद्ध होने के कारण जिस पकार का हास्यास्पद भाव पाया जाता है वैसा जायसी में नही पाया जाता। इस प्रकार जायसी के सादृश्य-मूलक अलकार सौदर्य के सृष्टिव्यापी प्रभाव को और हार्दिक सवेदना को प्रकट करने में समर्थ हुए है।

वस्तु-वर्णन के प्रसग में कवि ने प्रायः इस प्रकार के विशेषणो का प्रयोग किया है जिससे प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत परोक्ष सत्ता का अर्थ भी पाठक के चित्त में अनायास

उद्भासित हो सके; जैसे—सिंहलगढ़ के वर्णन के प्रसग मे नौ पौरी और उनके बाद दसवें दरवाजे वाले नगर का सकेत पाठक को अपने नौ छिद्रो और दसवे ब्रह्मरध्र वाले शरीर का सकेत उपस्थित करते है। इसी को समासोक्ति-पद्धति कहा जाने लगा है।

समासोक्ति-पद्धति

समासोक्ति एक अलकार है जिसकी सुदरता विशेषणो के प्रयोग पर निर्भर करती है। इसलिये इसे शास्त्र मे 'विशेषण विच्छित्तिमूलक' अर्थात् विशेषण की सजावट पर निर्भर रहने वाला अलकार कहा जाता है। यह श्लेष से भिन्न है क्योकि श्लेष की सुदरता विशेषण और विशेष्य दोनो की सजावट पर निर्भर है। इसीलिये उसे विशेषण-विशेष्य-विच्छित्ति-मूलक अलकार कहते है। श्लेष में कवि दो अर्थ बताने के लिये वचनबद्ध होता है किंतु समासोक्ति मे वह कौशल के साथ ऐसे विशेषणो का प्रयोग करता है जो सहृदय के चित्त में केवल अप्रस्तुत अर्थ का सकेत भर कर देते है। इसमें कवि आदि से अत तक दो अर्थो के निर्वाह के लिये प्रतिज्ञा-बद्ध नही होता। जहाँ और जब उसे मौका मिल जाता है तहाँ और तब वह कुछ विशेषणो का ऐसा प्रयोग करता है जिससे पाठक के हृदय में उसका अभिप्रेत अप्रस्तुत अर्थ भी आ उपस्थित होता है। जायसी ने अपने प्रबंध-काव्य मे इसी समासोक्ति-पद्धति का प्रयोग किया है। काव्य के अत में 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' जो संकेत है वह मूल ग्रथ का नही है। पद्मावत की प्राचीन प्रतियो से यह बात सिद्ध हो चुकी है। इसलिये जो लोग पद-पद पर पद्मावत में रूपक-निर्वाह की बात सोचते है वे गलती करते है। पद्मावत का कवि रूपक-निर्वाह के लिये प्रतिज्ञा-बद्ध नही है। कई बार प्रसग आने पर उसने जब लौकिक रूप के माध्यम से अलौकिक सौंदर्य की ओर इशारा किया है तो ऐसे स्थलों में

अप्रस्तुत इशारा ही प्रधान हो जाता है और प्रस्तुत प्रसग गौण हो जाता है। यह काव्यगत दोष है। सिहलगढ के वर्णन के प्रसग मे जहाँ तक नौ पौरियो, दस दरवाजो और राजपरिवार के वर्णन का प्रसग है वहाँ तक तो समासोक्ति का बहुत सुदर निर्वाह हुआ है, पर जहाँ कवि 'का निचित माटो के भाँडे' कहकर चेतावनी देने लगता है वहाँ उसका कवि रूप गौण हो जाता है और सत रूप प्रधान हो जाता है। यहाँ समासोक्ति-पद्धति का निर्वाह ठीक नही हो पाया।

परोक्ष-सकेत के उत्साह का अतिरेक

परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करने का उत्साह जायसी मे इतना अधिक है कि वे ऐसे प्रसगो को मानो खोजते फिरते है जिनसे परोक्ष सत्ता की ओर इशारा करने का मौका मिल सके। ऐसा मौका बाह्य चित्रण में अधिक मिलता है; जैसे---सिहलगढ, उसके बगीचे, मानसरोवर, पद्मावती का बाह्य रूप आदि। किंतु इससे पात्रो की स्वभावगत विशेषताओ का चित्रण नही हो पाता। मनोभावो का चित्रण तो वे बडी निपुणता से कर लेते है किंतु विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न पात्रो की व्यक्तिगत विशिष्टता और विलक्षणता प्रकट करने में वे सफल नही हो सके है। उनका आदर्श चित्रण एकदेशी है। रतनसेन प्रेमी का आदर्श है और नागमती पतिव्रता का। किंतु जीवन की बहुमुखी परिस्थितियो के पडने पर इनका कौन-सा रूप निखरेगा यह स्पष्ट नही हो सका, सर्वत्र एक सामान्यीकरण का प्रयास है।

अन्य सूफी कवियो में 'चित्रावली' के लेखक उसमान प्रसिद्ध है। ये गाजीपुर के रहने वाले और जहाँगीर के

उसमान

समकालीन थे। 'चित्रावली' की रचना सन् १६१३ ई० के आसपास हुई थी। इस काव्य में नैपाल के राजा धरणीधर के पुत्र सुजानकुमार और

रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली के प्रेम की कथा वर्णित है। राजकुमार को एक देव रूपनगर का एक उत्सव दिखाने को ले गया था और राजकुमारी की चित्रशाला मे रख दिया था। चित्र देखकर राजकुमार मोहित हुआ और उसने भी अपना चित्र राजकुमारी के बगल मे बना दिया जिसे देख राजकुमारी भी प्रेमासक्त हुई। उसमे चित्रदर्शन द्वारा प्रेम की पुरानी भारतीय कथानक-रूढ़ि का ही प्रयोग है। श्री हर्षदेव की रत्नावली मे प्रेमिका का चित्र देखकर नायक के चित्त मे प्रेम अकुरित हुआ था। काव्य मे नायक के प्रयत्न और अन्य नायिका से विवाह आदि बाते सूफियों के प्रेम-कथानकों की शैली पर ही चली है।

जान कवि

१७वी शताब्दी के जान कवि हाँसीवाले शेख मुहम्मद चिश्ती के शिष्य थे और बहुत प्रतिभाशाली कवि थे। इनकी ७० रचनाएँ उपलब्ध हुई है जिनमें २१ प्रेमगाथा सबधी है। इनकी मुख्य रचनाएँ पाँच है--कनकावती, कामलता, मधुकर-मालति, रत्नवति और छीता।

कासिम शाह

कासिम शाह की पुस्तक 'हस जवाहर' भी एक प्रेम-कहानी है। यह दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह (१७२१–१७४८) के समकालीन है। नूर मुहम्मद की दो पुस्तके प्रसिद्ध है 'इद्रावति' और 'अनुराग बाँसुरी'। कवि के अपने ही वक्तव्य से पता चलता है कि इद्रावति १७४४ ई० और अनुराग बाँसुरी १७६४ ई० मे लिखी गई थी। ये फारसी के कवि थे और 'कामयाब' नाम से शायरी करते थे।

इसी तरह आलम शाह के समकालीन कवि शेख निसार हुए हैं जिनका असली नाम गुलाम अशरफ था।

इनका 'यूसुफ जुलेखा' नाम का प्रेम-काव्य उपलब्ध हुआ है। फिर बहुत हाल के कवि वाबूगज (प्रतापगढ) निवासी ख्वाजा अहमद हैं जिनके 'नूरजहाँ' नामक काव्य मे ईरान के सुलतान मलिक शाह के पुत्र खुरशेद शाह तथा खूतन नगर की राजकुमारी नूरजहाँ का प्रेम प्रसग वर्णित है। यह कहानी सन् १६०५ मे लिखी गई और हाल मे शेख रहीम का 'भाषा प्रेम रस' और कवि नसीर का 'प्रेम दर्पण' (१६१७) लिखा गया है। इस प्रकार सूफियो की कविता १४वी शताब्दी से लेकर आधुनिक काल तक अव्यवहित रूप से चलती आई है।

अन्य सूफी कवि

आध्यात्मिक और धार्मिक सिद्धातों के प्रचार के हेतु से कुछ अन्य सतो ने भी प्रेम-कथानको का उपयोग किया है। इस प्रकार की रचनाओ में १६वी शताब्दी के सत कवि बाबा धरणीदास का 'प्रेम प्रगास' और १७वी शताब्दी के सत दुखहरन की 'पुहपावती' प्रेम-कहानियो पर आश्रित काव्य है। अष्टछाप के कवि नददास ने रूपमजरी नाम देकर एक कल्पित प्रेम-कथानक काव्य लिखा था। इस काव्य का उद्देश्य भी हरिभक्ति का प्रचार रहा। अन्य वैष्णव कवियो ने जिन प्रेम-कथाओ को आश्रय करके कथाएँ लिखी है वे साधारणतः पौराणिक है। अधिक प्रचलित कहानियाँ नल-दमयती, कृष्ण-रुक्मिणी, उषा-अनिरुद्ध आदि की प्रेम-कथाएँ है जो प्राचीन काल से ही पुराणो में प्रसिद्ध है इसलिये कल्पित प्रेम-कथानकों के संबध में इनकी चर्चा न करना ही अच्छा है।

अन्य सतो के प्रेम-कथानक

तीसरी श्रेणी मे विशुद्ध लौकिक प्रेम-कथाएँ आती हैं। इसमें कुछ के साथ ऐतिहासिक व्यक्तियो के नाम जुडे होते हैं, पर मुख्य रूप से इन्हें लौकिक प्रेम-कथा

हो कह सकते है। राजस्थान और गुजरात में 'ढोला मारू की कहानी' का आश्रय करके एक काव्य लिखा गया था जो क्रमश प्रक्षेप होते रहने के कारण वढता गया है। विश्वास किया जाता है कि यह ढोला कछुआ वश के राजा नल का पुत्र था जो दसवी शताब्दी मे किसी समय राज्य करता था और मारवणी या मारू राजा पिंगल की कन्या थी। इस प्रकार यह कहानी कुछ ऐतिहासिक तथ्यो पर आधारित है। ढोला मारू के जो दोहे इस समय मिलते है उनकी भाषा वहुत पुरानी नही है और दोहो मे यद्यपि क्रमवद्ध कहानी का आभास मिलता है परंतु विशेषत. वह मुक्तक के रूप में ही है।

लौकिक प्रेम-कथानक

कहानी मे निम्नलिखित क्रम है—

१—मारवणी के प्रेम की प्रारंभिक अवस्था—स्वप्न में पति-दर्शन, विरह-वर्णन, तथा सारस-चातक तथा क्रौंच संबंधी उक्तियां।

२—ढोला के प्रति मारवणी का संदेश।

३—मारवणी का संदेश सुनकर ढोला की प्रेमजन्य व्याकुलता।

४—प्रस्थानोद्यत ढोला को रोकने के लिये मारवणी का प्रयत्न और दम्पति का प्रेमपूर्वक संवाद।

५—मारवणी का विरह।

६—ढोला और मारवणी का मिलन।

७—मारवणी और ढोला का संवाद।

दोहों में कथासूत्र टूटा हुआ है इस बात का अनुमान पुराने ज़माने में ही लोगों को हो रहा था। जैसलमेर के शासक ने अपने समय में प्राप्त दोहों को एकत्र करवाकर उनमें [illegible]

जैन कवि कुशललाभ को कथासूत्र मिलाने की आज्ञा दी। कुशललाभ ने बीच-बीच में चौपाइयाँ जोड़ कर यह काम पूरा किया। यह 'ढोला मारू चौपाई' नाम से प्रसिद्ध हुआ और जैन लोगो में खूब प्रचारित हुआ।

किसी-किसी ने इन दोहों के बीच गद्य-वार्ता जोडकर कथानक को पूरा किया है। इस प्रकार इस समय ढोला मारू के चार रूपातर मिलते है—

१—केवल दोहा वाला।

२—कुशललाभ के चौपाइयो से युक्त दोहे।

३—गद्य-वार्ता से युक्त दोहे।

४—कुशल-लाभ को चौपाई और गद्य-वार्ता का मिश्रित रूप।

प्रथम रूप काफी पुराना है किंतु कितना पुराना है यह कहना सभव नही। दूसरा रूप १६वी शताब्दी में प्राप्त हुआ है। इस काव्य से दोहाबद्ध प्रेम-कथानको की एक प्रेम-परंपरा की सूचना मिलती है। बाद मे भी अनेक दोहा-बद्ध लौकिक प्रेम-काव्य लिखे जाते रहे। उदाहरणार्थ, १७वीं शताब्दी के अंत्य भाग में "सारंगा-सदैव्रछरा दूहा" (सारंगा सदावृक्ष) की प्रेम-कथा किसी अज्ञात कवि द्वारा लिखी गई थी जिसके आरभ में वार्ता है और बाद मे ३१ दोहे है। इसमें राजा शालिवाहन के पुत्र सदैव्रछ और उनके मन्त्री की पुत्री सावलिगा (सारगा) की प्रेम-कथा है। यह प्रेम-कथा राजपूताने मे काफी लोकप्रिय रही क्योकि इसको आश्रय करके लिखे गए कई छोटे-छोटे काव्यो की प्रतियाँ प्राप्त हुई है। बाद मे उत्तर भारत के अन्य स्थानो में भी यह कहानी गई और अब भी सड़को पर बिकनेवाले साहित्य मे इस कहानी का स्थान बना हुआ है। इसी प्रकार १७वी शताब्दी के अंत्य

भाग मे वीजो नामक नायक और सोरठ नामक नायिका के प्रेम को आधार वना कर लिखा गया १३१ दोहो का छोटा-सा काव्य 'सोरठरा दूहा' प्राप्त हुआ है। फिर मदनकुमार और चपकमाला के प्रेम को आधार करके दास कवि की लिखी हुई ११३ दोहो की पुस्तक (जिसमे बीच-बीच मे वार्ता भी है) 'मदन सतक' नाम से प्राप्त हुई है । फिर छीहल कवि की 'पंच सहेली' नाम की रचना है जिसमे पाँच सखियो के विरह का दोहो मे वर्णन है ।

दोहा और चौपाइयो मे काव्य लिखने की प्रथा तो वहुत लोकप्रिय हुई थी । सुमति हंस का 'विनोद रस' (१७वी शताब्दी) सूरदास का 'नल दमन' (१७वी शती), निगम कायस्थ की 'मधुमालती' (१८वी शताब्दी), मुरली का 'मियाँ विनोद' (१८वी शती), हरसेवक मिश्र की 'कामरूप कथा' (१८वी शती), आदि रचनाएँ दोहा-चौपाई छंदो मे निवद्ध प्रेम-कथानक ही है । फिर सत्रहवी शताब्दी के भद्रसेन नामक राजस्थानी कवि द्वारा लिखित २०२ दोहो में निबद्ध 'चदन मलयागिरि री वात' नामक प्रेम-कथा प्राप्त हुई है, और प्रताप कुँवर लिखित 'चंद कुँवर की बात' भी ऐसी ही रचना है ।

कुशललाभ की लिखी हुई एक और प्रेम-कथा 'माधवा-नल-कामकदला चरित्र' है जिसमें दोहा, चौपाई और गाहा छद का प्रयोग है । इन्होने स० १६१६ मे कुमार हरिराज के मनोरजनार्थ ५५३ पद्यो मे इस पुस्तक की रचना की थी । माधवानल और कामकंदला की प्रेम-कथा को आश्रय करके और भी कई कवियो ने काव्य लिखे है, जिनमें आलम (१५४७ ई०) का दोहा-चौपाई छंदो मे लिखा हुआ ,माधवा-नल भाषा बध' और नरसा के पुत्र गणपति (सन् १५२७ ई०) का लिखा हुआ 'माधवानल प्रबध दोहा बध' प्रसिद्ध है ।

फिर किसी अज्ञात कवि का लिखा हुआ 'कुतुब सतक' नाम का एक प्रेम-कथानक-काव्य मिला है जिसमें दिल्ली के सुलतान फिरोज शाह के शाहजादे कुतुबुद्दीन और साहिबा का प्रेम वृत्तांत वर्णित है। यह कथा तुकांत गद्य में है, और बीच-बीच में दोहे हैं। सं० १६४३ को लिखी इसकी एक प्रति उपलब्ध हुई है, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि पुस्तक १६वीं शताब्दी में लिखी गई होगी। कभी-कभी शृंगार-प्रधान रचनाओं का प्रधान उद्देश्य सदाचार और नैतिक जीवन की महिमा बताना भी रहा है, पर वस्तुतः शृंगार का स्वर ही प्रधान हो जाता रहा है, नैतिकता गौण। काशीराम का 'कनक-मंजरी' नामक छोटा-सा काव्य एक ऐसी पतिव्रता स्त्री के चरित्र को केंद्र करके रचित है, जिसे राज-पुत्र का प्रलोभन मार्ग-भ्रष्ट नहीं कर सका। यह १७वीं शताब्दी के अंत्य भाग और १८वीं के आरंभ का कवि है। इसी समय एक अज्ञात कवि की 'मैनासत' नाम की रचना प्राप्त हुई है, जिसमें किसी मालिन ने मैना के सतीत्व की परीक्षा ली है। सत्रहवीं शताब्दी में राजपूताने में अनेक 'वात' नामधारी प्रेम-कथाएँ लिखी गईं, पर वे राजपूताने के बाहर तो कुछ प्रभाव ही नहीं डाल सकीं, स्वयं राजपूताने में भी बहुत सीमित क्षेत्रों में उनका प्रचार रहा। इनकी सूची इस प्रकार है---अमादम भटियाणी री वात (१९वीं), पेढरे नायक दे री वात (१८वीं), पनावीरम दे री वात (१९वीं), पर्यं घोरावार री वात (१८वीं), मोभल री वात (१८वीं), मलयागिरि री वात (१८वीं), रावल लषणसेण री वात (१८वीं), राणै खेतो री वात (१८वीं), भाषा दे री वात (१८वीं) वीझरै अहीर री वात (१८वीं), सोहणी री वात (१८वीं), वात संग्रह (१८वीं)।

[सहायक पुस्तकें—रामचद्र शुक्ल जायसी ग्रथावली, हिंदी साहित्य का इतिहास; रामकुमार वर्मा. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास; परशुराम चतुर्वेदी. सूफी काव्यधारा; पृथ्वीनाथ कुलश्रेष्ठ· मलिक मुहम्मद जायसी; ढोला मारूरा दोहा; राजस्थान भारती और शोध-पत्रिका।]

८

रीतिकाव्य

(१६वीं शताब्दी के मध्य भाग से १९वीं
शताब्दी के मध्य भाग तक)

८

रीतिकाव्य

(१) रीतिग्रन्थों का सामान्य विवेचन

भक्ति-काल के प्रथम उन्मेष के समय हिंदी में अत्यधिक शक्तिशाली और व्यापक प्रभाववाले कवि उत्पन्न हुए।

भक्ति काव्य के व्यापक प्रभाव का काल

साहित्य जगत् की पूरी शक्ति खिंचकर इन महान् कवियों के निकट पहुँच गई। नये आदर्श और नये जीवन-दर्शन से प्रभावित होकर हिंदी कविता तेजी से नवीन मार्ग की ओर बढ़ी। यह रास्ता भी नया था। उन दिनों जितने भी प्रकार के काव्यरूप प्रचलित थे, और लोक-साहित्य से भी जितने प्रकार के काव्य-रूपों के साहित्य में गृहीत हो जाने की सम्भावना थी, उन सब का उपयोग भक्ति के नये आदर्श और नये जीवन-दर्शन के प्रचार में किया गया। लौकिक-रस की गीति-परम्परा को सूरदास, नंददास, हितहरिवंश और तुलसीदास आदि भक्तों ने अपूर्व आत्म-समर्पण-मूलक और अनन्यगामिनी भक्ति के पदों में बदल दिया, चर्चरी, फाग, हिंडोल, बसंत आदि लोक-प्रचलित गानों पर कबीर, तुलसी, दादू आदि भक्तों ने ऐसा भक्ति-रंग चढ़ाया कि शताब्दियों बाद भी वह रंगमंच-मात्र भी फीका या भद्दा नहीं हुआ है। प्रेम-कथानकों की लौकिक शैली को सूफी कवियों ने आध्यात्मिक रसानुभूति के स्तर पर उठाया, नंददास आदि कवियों ने भक्ति की भावना से भावित किया, और संत कवियों ने उसे अपने ढंग की भक्ति के रस से रस-

सिक्त किया। अपभ्रंश से चले आते हुए नीति और शृंगार संबंधी दोहों को भी राम और कृष्ण के रंग में रंग डाला गया, और व्याह, जनेऊ, जन्म और अन्य गृहस्थी के उत्सवों के लिये जो लौकिक रस के पद प्रचलित थे, उन्हें भी भगवान् के नाम से संबद्ध कर दिया गया। इस प्रकार भक्ति-काल के प्रथम उन्मेष के समय अध्यात्म-भाव और भक्ति-रस की ऐसी बाढ़ आई, कि कुछ सौ वर्षों के लिये लोक भाषा के साहित्य में और कुछ उल्लेख योग्य बाकी ही नहीं रह गया। १५वीं से १७वीं शताब्दी तक का साहित्य भक्ति का उमड़ता हुआ पारावार है। पूर्ववर्ती काल के साधुओं की सिद्धियों के नाम पर भरमानेवाली प्रवृत्ति इस काल में सम्पूर्ण रूप से उच्छिन्न हो गई। मध्यदेश में इस समय मुस्लिम शासन प्रतिष्ठित हो चुका था, और भिन्न-भिन्न संप्रदायों को प्रश्रय देने वाले राजवंश समाप्त हो चुके थे। इसी प्रकार चारण कवियों की कल्पित प्रशंसावाली काव्य-वृत्ति भी शिथिल हो गई थी। परन्तु फिर भी यह सब प्रवृत्तियाँ संपूर्ण रूप से निःशेष नहीं हुई। कुछ-न-कुछ और कहीं-न-कहीं थोड़ी-बहुत मात्रा में ये जीवित अवश्य रहीं। सबसे अधिक प्रश्रय उन्हें राजपूताने में मिला। इस प्रदेश में छोटे-मोटे हिंदू रजवाड़े बचे हुए थे, उनके आश्रय में वहाँ राजस्तुति-परक चारण कविताएँ और युद्धोल्लास-सञ्चारिणी वीर-कविताएँ भी उसी प्रकार बची थीं, जिस प्रकार नाथों, निरंजनियों और अन्य संप्रदायों के अनेक मठ और साधन-पद्धति। इस प्रकार राजपूताने का साहित्य १५वीं शताब्दी की प्रधान काव्य-धारा से कम प्रभावित हुआ। लगभग सौ वर्ष बाद भक्ति की मूलधारा राजपूताने के संपूर्ण साहित्य और लोक-चित्त को अभिभूत करने में समर्थ हुई। थोड़े परवर्ती समय की राजपूत कलम ने राधाकृष्ण की प्रेम-लीलाओं

का जैसा मनोहर चित्रण किया, वह संसार भर के कला-मर्मज्ञो की प्रशसा प्राप्त कर चुका है। लगभग उसी के आस-पास मशहूर कांगड़ा कलम का भी जन्म हुआ जिसने भारतीय चित्र-शिल्प को अद्भुत समृद्धि प्रदान की।

लेकिन मूल मध्यदेश में भी चारण शैली की कविताओं का एकदम लोप नही हुआ। उसका भग्नावशेष गग आदि भाटो की रचनाओ में तथा केशवदास के विरुद-ख्यापक काव्य मे मिलता है। आगे चलकर भाटो की कविता का प्रधान लक्षण दाता की अतिरजित प्रशसा और सूम की हास्योद्रेचक निंदा तक ही रह गई। लेकिन मध्यदेश मे यह धारा, अति क्षीण रूप मे ही सही, जीवित अवश्य रही।

पन्द्रहवी से सत्रहवी शती तक के साहित्य मे भक्ति भावना की प्रवलता ने सभी प्रकार की लौकिक रचनाओ को प्रभावित किया। यहाँ तक कि उसने राजस्तुति-मूलक और घोर शृगार-परक काव्यो को भी अपने रग मे रग दिया। वस्तुत. १५वी-१६वी शताब्दी के भक्त-कवियो ने ऐहिकता-परक रचनाओ की कमर तोड़ दी। वे यदि जीवित बची भी तो चलने और आगे बढने की शक्ति से बचित रह कर ही।

किंतु शृगार रस मनुष्य की सबसे प्रिय वस्तु है। ससार के साहित्य में इसी रस का बोलबाला है, वीर रस और धर्म सबधी रचनाओ मे भी सर्वत्र ही इस रस ने अपना प्रभाव विस्तार किया है। सगुण भाव के भक्तो ने तो शृगार रस को संपूर्ण भाव से अपना लिया, केवल उसका मुँह जड़ जगत् की ओर से फिरा कर चिदानद-घन भगवान् की ओर कर दिया। सूफी कवियो की तो आधार भूमि ही लौकिक प्रेम पर आधारित थी, अन्य सतो ने भी भगवत् प्रीति के प्रसग मे इस रस की उपयोगिता को स्वीकार किया है। कबीर ने तो 'राम भरतार'

भक्ति और शृगार भावना

के लिये कितने ही मगलचार के भजन गाए, विरह का दुखड़ा रोया और मिलनोत्कंठा के आवेग और औत्सुक्य का वर्णन किया। दादूदयाल ने घोषणा की कि—

पुरिष हमारा एक है, हम नारी बहु अग।
जे जे जैसी ताहि सो, खेलै तिस ही रंग॥

और अत्यंत निरीह भक्त नानक ने भी कुछ इसी लहजे में कहा है—

भनति नानकु सभन का पिवु एको सोई।
जिसनो आदरि करे सो सोहागण होई॥

इन सभी सत कवियो ने विरह और मिलन के गान गाए है। बारहमासा और षड् ऋतु वर्णन के बहाने अपने हृदय की समस्त वेदना उँडेल कर रख दी है, और इस प्रकार भगवान् के साथ मानव जीवन के सबसे सुकुमार रस का सम्बन्ध जोड लिया है।

कृष्ण-भक्त कवियो ने तो भगवान् की प्रेमलीला को ही अपने काव्य का प्रधान विषय बनाया है। यद्यपि सिद्धान्त रूप में इन लोगो ने स्वीकार किया है, कि भगवान् परम प्रेम, परम ज्ञान और परम ऐश्वर्य के आश्रय है, तथापि उनकी प्रेम-मयी लीलाओ को ही उन्होने प्राधान्य दिया है। इस प्रेमलीला को प्राधान्य देने का परिणाम यह हुआ है कि उन्हे भगवान् की प्रेयसियो के रूप, गुण, शील, वय, प्रकृति और अवस्थाभेद से अनेक श्रेणियो की कल्पना की है। उनके वस्त्र, भूषण और सौभाग्य चिह्नो के अनेकानेक भेद कल्पित किए है, और उन्हें रिझाने के लिये भगवान् के भी बिसातिन-मनिहारिन, जोगिन, तमोलिन, ओझा, ज्योतिषी, केवट, दान, संग्राहक आदि अनेक रूपो के धारण करने की कल्पना की है।

सबसे पहले रूप गोस्वामी पाद ने भगवान् की प्रेयसियो

और उनकी सखियों, भगवान के मित्रों तथा अन्य सबधियो के अनेकानेक भेदो की कल्पना करके "उज्ज्वल-नीलमणि" नामक ग्रथ सस्कृत मे लिखा। इस ग्रंथ ने मधुर भाव की विविध उपासना-पद्धतियो को तो खूब प्रभावित किया, किंतु हिंदी कविता की मूलधारा को इसने प्रत्यक्ष रूप से नही प्रभावित किया। इस ग्रंथ का दृष्टिकोण यद्यपि भिन्न है, तथापि इसकी रचना मे संस्कृत के नायिका-भेदवाले ग्रंथो की पूरी सहायता ली गई है।

उज्ज्वल-नीलमणि

भक्त कवियों की गोपी-गोपाल-लीला ने क्षीणरूप में जीवित रहनेवाली लौकिक रस की काव्यधारा को थोडा सहारा दिया, और इस जरा से सहारे को पाकर के लौकिक रस की कविताएँ सिर उठाने लगी। शुरू-शुरू मे इनकी धारा बहुत क्षीण थी, किंतु जैसे-जैसे भक्तिकाल के आरभिक उन्मेष का उत्साह शिथिल पडता गया, और भक्तो मे भी गतानुगतिकता की मात्रा बढती गई, वैसे-वैसे लौकिक रस की कविता भी तेजी से सिर उठाती गई। १७वी शताब्दी के बाद लगभग प्रत्येक कवि की कविता में श्रीकृष्ण और गोपियो का नाम तो अवश्य आ जाता है पर प्रधानता ऐहिकता-परक शृगार रस की ही रह जाती है। यहाँ से भक्तो की सख्या तो नहीं घटती, और भक्ति का उत्साह संपूर्णरूप से वर्तमान भी रहता है, किन्तु भक्ति साहित्य की मूल-प्रेरक शक्ति नहीं रह जाती। यहाँ आकर कविता को प्रेरणा देनेवाली शक्ति, अलकार, रस और नायिका-भेद हो जाते हैं। यहाँ साहित्य को गति देने मे, अलंकार शास्त्र का ही जोर है, जिसे उस काल में 'रीति', 'कवित्त रीति' या 'सुकवि रीति' कहने लगे थे, सभवत इन्ही शब्दो से प्रेरणा पाकर शुक्ल जी ने इस श्रेणी की रचनाओ को 'रीति-काव्य' कहा। उन्होने विक्रम सवत् १७०० से १९०० (१६४३ ई०—

रीति-काव्य

१८४३ ई०) तक के काल को रीति-काल माना है।

हिंदी मे भक्त कवियों में नददास प्रथम कवि हैं जिन्होंने स्पष्ट रूप से नायिका-भेद पर पुस्तक लिखी। इस पुस्तक का नाम है 'रस मजरी'। इसमे आरभ में, 'रसमय रसकारन रसिक'—'आनद-घन सुन्दर नदकुमार' की स्तुति है। फिर बताया है कि ससार मे जो कुछ रस है, उसके एकमात्र आधार श्रीकृष्ण ही हैं। जिस प्रकार छोटी-बड़ी सभी नदियो का पानी समुद्र में ही गिरता है उसी प्रकार सभी खड-विच्छिन्न रस अंत मे भगवान् में ही मिल जाते हैं। ससार मे जितने भी कवि हैं और वे जो कुछ भी यश वर्णन करते हैं सब भगवान् के हो हो जाते हैं। रूप और प्रेम का जो कुछ भी रस है, वह सब भगवान् से ही आता है, भगवान् मे ही विलीन हो जाता है। फिर नददास ने बताया है, कि उनके एक मित्र ने उनसे कहा कि मुझे नायक-नायिका-भेद का ज्ञान नही है, हाव-भाव, हेला-रति आदि का विवेक नही है, सो इन्हे ठीक से समझा दीजिए, क्योकि जब तक इनका ज्ञान नही होता, तब तक प्रेम-तत्व को पहचाना नही जा सकता। उसी मित्र के अनुरोध से नंददास ने पहले नायिकाओ का लक्षण लिखा, फिर नायको का संक्षिप्त परिचय दिया। शुरू में एक बार भूमिका रूप मे नददास ने कह दिया है कि सब रूपो और प्रेमो के आश्रय 'सुन्दर नदकुमार' हैं। इसके बाद वे सच्चे रूपोपासक कृष्णभक्त कवि की भाँति किसी तत्ववाद की व्याख्या के फेर मे नही पड़े। सहज भाव से नायिकाओ के लक्षण दे दिए हैं, और उस लक्षण का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है कि उसे उदाहरण तो ठीक नही कहा जा सकता, पर उदाहरण का काम उससे चल जाता है। साधारणत. नायिकाओ के स्वभाव भेद से जो उत्तमा, मध्यमा, अधमा भेद

नायिका-भेद के भक्त कवि

किए जाते है, उसे नददास जी ने कही लिखा ही नही है। कारण उनके ग्रथ के एकमात्र आश्रय श्रीकृष्ण जी है, और प्रेमिकाएँ गोपियाँ है; (स्पष्ट रूप से उन्होने यह बात कही नही कही, केवल भूमिका मे इशारा भर कर दिया है।) उनमे मध्यमा, अधमा, हो ही नही सकती। परतु धर्म-भेद, व्यापार-भेद और वय.क्रम-भेद के अनुसार होनेवाले भेदो का उन्होने विस्तार किया है। रीति-काल के परवर्ती कवि घूम-फिरकर राधा कृष्ण या गोपियो का नाम ले लेते है, नंददास को इस की आवश्यकता नही मालूम हुई। कारण स्पष्ट है, उनके मन में कही कोई विचिकित्सा नही थी। वे पूर्ण रूप से आश्वस्त थे, कि यह भगवान् की ही लीला गा रहे है। उन्होने कही किसी गोपी का नाम नही लिया, 'कुंज-सदन', 'कालिंदी तीर' 'मनमोहन पिया' आदि शब्दो का इस चतुरता से प्रयोग किया है, कि कवि का भक्ति-परक अभिप्राय एकदम स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिये परकीया वाग्विदग्धा का उल्लेख इस प्रकार है—

अहो पथिक अति वरसत घामा। रचक वहूँ करो बिसरामा ।।
इहँ ते निकट कलिंदी तीर । सीतल मद सुगध समीर ।।
गहवर तरु तमाल है तहाँ । प्रफुलित वल्लि मल्लिका जहाँ ।।
छिनक छाँह लीजै रस पीजै । वहुरो उठि मारग मन दीजै ।।
पिहिं सुनाय पथिक सो कहै । वाक् विदग्धा परतिय सु है ।।

स्पष्ट ही यहाँ श्रीकृष्ण का सकेत व्यग्य होता है। नंददास ने इस पुस्तक मे बड़े कौशल से लौकिक-सी दिखनेवाली बात्त में अलौकिक तत्त्व का संकेत भरा है।

यह ध्यान देने की बात है, कि नंददास ने प्रधान रूप से भानुदत्त की रसमजरी के लक्षणो और उदाहरणो का ही अनुवाद किया है। रसमंजरी मे भी निकुंज आदि की बात है, पर वहाँ उस प्रकार की श्रीकृष्ण लीला की व्यजना नही होती। ऊपर

जो उदाहरण दिया गया है, वह हू-ब-हू रसमंजरी के इस श्लोक का अनुवाद है—

> निविडतमतमालमल्लिवल्ली
> विचकिलराजिविराजितोपकण्ठे ।
> पथिक समुचितस्तवाद्य तीव्रे
> सवितरि तत्र सरित्तटे निवस्स ॥

नंददास ने 'सरित्तटे' को कालिंदी तीर बनाकर श्रीकृष्ण लीला की अभिव्यंजना की है। परंतु यह भी उन्होंने सर्वत्र नहीं किया है। कहीं-कहीं केवल संकेत भर कर दिया है। अधिकांश स्थलों पर रसमंजरी के श्लोकों का उल्था भर कर दिया है।

नंददास ने जिस मित्र के अनुरोध पर रसमंजरी लिखी थी, उसने कहा था कि उसने नायिका-भेद सुना नहीं है। इस कथन से कुछ विद्वानों ने अनुमान लगाया है, कि इसके पूर्व नायिका-भेद पर कोई भाषा ग्रंथ था ही नहीं। नंददास ने स्पष्ट रूप से कहा है कि वे 'रसमंजरी' के अनुसार अपना ग्रंथ लिख रहे हैं। यह 'रसमंजरी' भानुदत्त नामक मैथिल कवि की संस्कृत रचना है। परवर्ती हिंदी कविता को इस पुस्तक ने बहुत प्रभावित किया है। 'रसमंजरी' के लेखक भानुदत्त १४वीं शताब्दी के आरंभ में हुए होंगे, क्योंकि इस पुस्तक की एक टीका 'रसमंजरी प्रकाश' सन् १४२८ ई० में लिखी गई बताई जाती है। यह टीका दो बार मद्रास से (१८७२ ई०, १८८१ ई०) प्रकाशित हो चुकी है। 'रसमंजरी' के एक उदाहरण में 'निजाम' नृप का उल्लेख देखकर कुछ लोगों ने भानुदत्त को और भी परवर्ती ग्रंथकार माना है। पर यह 'निजाम' देवगिरि के मुस्लिम शासक थे, आधुनिक निजाम नहीं। इसलिये 'रसमंजरी' को [illegible] शताब्दी में लिखी गई थी, इसमें संदेह करने की

ने प्रभावित नही किया है, दक्षिण के काव्य-शास्त्र को भी इसने प्रभावित किया है।

परन्तु यह अनुमान ठीक नही, कि नददास के पहले नायिका-भेद की पुस्तके भाषा मे थी ही नही। अब तक के ज्ञात साहित्य मे कृपाराम की 'हित-तरगिणी' नायिका-भेद की सबसे पुरानी पुस्तक बताई जाती है। इस पुस्तक की ओर सबसे पहले रत्नाकर जी ने साहित्यिको का ध्यान आकृष्ट किया था। भारत जीवन प्रेस से स० १९५२ (१८९५ ई०) मे यह प्रथम वार छपी थी। इस प्रकाशित पुस्तक के अनुसार इस पुस्तक की रचना स० १५९८ अर्थात् सन् १५४१ ई० में हुई थी। (सिधि-निधि-शिवमुख-चद्र लखि माघ सुद्ध तृतियासु। हित तरगिणी हौ रची कवि हित परम प्रकासु।)

कृपाराम की हित-तरगिणी

परंतु इसकी भाषागत प्रौढता तथा बिहारी के दोहो मे से किसी-किसी दोहे का भाव-साम्य, और बिहारी के किसी-किसी सग्रह मे इसके एकाध दोहो का अतर्भाव देखकर विद्वानो ने इसके इतने पुराने होने मे सदेह किया है। श्री चद्रबली जी पाडेय ने 'शिवमुख' के स्थान पर 'सव सुख' पाठ कल्पना करके इसका काल १७९८ सवत् करने का सुझाव रक्खा है। 'सव सुख' सात के अर्थ मे प्रचलित नही है। पर मेरा भी विश्वास है कि यह पुस्तक उतनी पुरानी है नही, जितनी पुरानी अब तक समझी जाती रही है। काल-सूचक यह दोहा कुछ अशुद्ध है, इसमें सदेह नही। 'लखि' का कुछ अर्थ होना चाहिए, और 'माघ शुद्ध' से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि उस वर्ष माघ अधिक मास रहा होगा, जो सभव नही, पर पक्ष का पता नही चलता। यह गडबडी देख कर किसी किसी ने 'शुद्ध' को 'सुदि' बना दिया है। परतु जब तक किसी हस्तलिखित प्रति से किसी अन्य

पाठ का समर्थन नही होता, तब तक इससे अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि 'हित-तरंगिणी' के कालसूचक दोहे में कुछ गड़बड़ी है।

अलकार और रस के वास्तविक विवेचक केशवदास ही हैं। इनके पहले के एक और लेखक करनेस बदीजन की तीन पुस्तको की चर्चा इस सिलसिले में की जाती है---कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण। परंतु इन पुस्तको के बारे में कुछ पता नही चलता। केशवदास ने दो अत्यत महत्त्व-पूर्ण ग्रंथ लिखे थे---'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया'। 'कविप्रिया' का उद्देश्य काव्य शास्त्र का सुनिपुण विवेचन नही था, वह साधारण से साधारण व्यक्तियो को काव्य का मर्म उपलब्ध कराने का प्रयास है। अपने आश्रयदाता राजा इंद्रजीतसिह की पतिव्रता गणिका रायप्रवीन को काव्य शिक्षा देने के उद्देश्य से इस पुस्तक का आरभ हुआ था। इसमे केशवदास ने रसवादी आचार्यों का अनुसरण न करके दडी आदि पुराने अलंकार-चमत्कारवादी कवियो का अनुसरण किया है। परंतु 'रसिकप्रिया' की रचना रसिक-जनों को ध्यान में रखकर की गई थी। रामचद्रिका के प्रसग में कहा गया है कि केशवदास उसमे भी शिक्षक के रूप में ही आते हैं। वस्तुत अपनी काव्य-शास्त्रीय रचनाओं में भी वे शिक्षक के रूप में ही प्रधान रूप में आते हैं। उनका उद्देश्य अल्पमति के विद्यार्थी को काव्याभ्यास का ज्ञान करा देना ही है। 'रसिकप्रिया' में वे भगवद्भक्ति को प्रधानता देते दिखाई देते है। इस प्रकार प्रथम-प्रथम जिन कवियो ने नायिका-भेद पर ग्रथ लिखे है, उन्होंने कुछ-न-कुछ भगवद्भक्ति का पुट दिया अवश्य है।

केशवदास के रीति ग्रथ

१७वीं शताब्दी में मुगलो का विशाल साम्राज्य

ह्रासोन्मुख हो चला था, उस समय दिल्ली के सिंहासन पर सम्राट् शाहजहाँ आसीन था। शाहजहाँ का शासनकाल मुगल साम्राज्य का मध्याह्न काल था। उसके जीवनकाल मे ही गृह मे कलह आरभ हो गया, और उदार तथा लोकप्रिय दाराशिकोह को दबाकर औरगजेब सम्राट् बन बैठा। इस काल मे पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में सर्वत्र विद्रोह की आँधी आई, और धीरे-धीरे मुगल शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती गई। केंद्रीय शासन निर्बल पड़ गया, छोटे-छोटे रजवाड़े और नवाब स्वतंत्र हो गए। समूचे देश में क्या राजनीति, क्या धर्म, क्या काव्य क्षेत्र---कही भी कोई प्रथम श्रेणी का नेता उत्पन्न नही हुआ। मुगल शासन के अतिम दिनो मे जिस उत्तरदायित्व-हीन विलासिता का वातावरण उत्पन्न हुआ था, वह नाना टुकडो मे विभक्त होकर छोटे-छोटे आकारो मे सारे देश मे फैल गया। लेकिन उसकी प्रकृति में कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। विलासिता जब चित्तगत सकीर्णता के साथ प्रकट होती है, तो केवल विनाश की ओर ही ले जाती है। मुगल दरबार के आदर्श पर प्रतिष्ठित शतधा-विकीर्ण विलासिता छोटे-छोटे सरदारो के दरबारो में इसी चित्तगत सकीर्णता के साथ सबद्ध हो गई। इसीलिये इस काल की शृगार भावना में एक प्रकार का रुग्ण मनोभाव है।

रुग्ण मनोभाव का काल

सन् ईस्वी की सत्रहवीं शताब्दी तक आते-आते हिंदुओं की जाति-पाँति की व्यवस्था और भी कसी जाकर सिमट गई थी। अब वह पुरानी वर्ण-व्यवस्था के आदर्श पर न चलकर पेशेवर जातियो के रूप मे ढलने लगी थी। पेशे वशानुक्रम मे चलने लगे। प्रत्येक पेशे के लोग अलग-अलग

जाति-पाति व्यवस्था का नया रूप

जातियो के रूप मे संगठित होते गए। इस समय आर्थिक दृष्टि से समाज में स्पष्ट रूप से दो श्रेणियाँ हो गई—एक तो उत्पादक वर्ग, जिसमें प्रधान रूप से किसान और किसानो से सबध रखने वाली जातियाँ बढई, लोहार, कहार, जुलाहा इत्यादि थी, और दूसरा दल भोक्ता (राजा, रईस, नवाब आदि) या भोक्तृत्व का मददगार था। मुगल शासन के अतिम दिनो में भारतीय समाज के ये ही दो आर्थिक वर्ग थे—राजा, सामंत, मनसबदार आदि भोक्ता वर्ग और कृषक और श्रमिको का उत्पादक वर्ग। दोनो का परस्पर का सबध क्रमश. क्षीण होता गया, और मुगल काल के अतिम दिनो मे इन दोनो की दुनियाँ लगभग अलग हो गई। यह व्यवधान कोई नया नही था। मौर्य और गुप्त राजाओ के काल से ही इसका आरंभ हो गया था। सन् ईस्वी की पहली-दूसरी शताब्दी में नागर और जानपद जनो का अतर बहुत स्पष्ट हो गया था। एक के लिये कामशास्त्र, अलंकृत काव्य और नाटक लिखे जाने लगे थे, और दूसरे के लिये व्रत, संयम बताने वाले स्मृति-पुराण। ज्यो-ज्यो साम्राज्य व्यवस्था सगठित होती गई, और राजनीतिक सत्ता केंद्र में सिमटती गई, त्यो-त्यो व्यवधान भी बढ़ता गया। मुगल काल मे यह व्यवधान अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया, और उसके अंतिम दिनो में जब वह व्यवस्था निष्प्राण हो गई, तो उस व्यवधान को जिला रखने के लिये एक बड़ा-सा ढाँचा ही खडा रह गया। रीतिकाल इसी बाहरी ढाँचे का प्रकाश है। इसका पोषण सामती व्यवस्था से हो रहा था। परतु इस व्यवस्था की रीढ भकड चुकी थी, और उससे जीवन का रस बहुत थोडा खिर पाता था।

इन दो वर्गों के मध्य में कवियो, चित्रकारों, संगीतज्ञों

आदि कलावनों का वर्ग था जो प्राय उत्पादक वर्ग से उत्पन्न होता था किन्तु भोक्ता वर्ग की स्तुति और मनोविनोदन करके जीविका निर्वाह करता था। जिस प्रकार के मालिकों का मनोरंजन इन कवियो और कलावतों को करना पड़ता था, उस वर्ग को सतुष्ट करने के लिये जिस प्रकार के जीवन से परिचित हाना आवश्यक है, वह इन कवियो को प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात नही था। उसके लिये उन्हें पुस्तकी विद्या की आवश्यकता थी। दो मूलो से यह ज्ञान प्राप्त हो सकता था--रति-रहस्य आदि कामशास्त्रीय ग्रथो से और दशरूपक, रसमंजरी आदि नायिका-भेद के वर्णन करनेवाले ग्रथो से। फिर उक्ति वैचित्र्य के लिये अलकार शास्त्र के अन्य अगो की भी उन्हे आवश्यकता थी। इस प्रकार इन कवियो ने अत्यन्त पुराने जमाने से प्रचलित तीन श्रेणी के ग्रथो का सहारा लिया--

कवियो के प्रेरणा-स्रोत

१. नाना प्रकार की प्रेम-क्रीडाओ को बतलानेवाले काम शास्त्र का।

२. उक्ति वैचित्र्य का विवेचन करनेवाले अलकार-शास्त्र का।

३. नायक नायिकाओ के विभिन्न भेदो और स्वभावों का विवेचन करनेवाले रस-शास्त्र का।

साहित्य के क्षेत्र में इन्ही तीन प्रकार के ग्रथो का प्रभाव इस काल मे मिलता है। उधर मधुर-भाव की कृष्ण-भक्ति ने भी अपने ढग से नायिका-भेद के साहित्य को प्रभावित किया था। यद्यपि इसका प्रत्यक्ष प्रभाव इस काल के साहित्य पर नही पडा, परतु परोक्ष रूप से उसने इसे प्रभावित अवश्य किया। यही कारण है कि इस सपूर्ण

शृंगारी साहित्य के भीतर गोपी और गोपाल का नाम अवश्य आ जाता है। रीतिकाल के शृगारी साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें शृंगार के आश्रय भी उस युग के धर्म और अध्यात्म के आश्रय की भांति श्रीकृष्ण ही है।

इस प्रकार की ऐहिकता और आमुष्मिकता को एक साथ जोड़ देने की प्रवृत्ति इम साहित्य मे पाई जाती है। परन्तु इन युग की रसिकता का मेरुदंड औदार्य

मूल स्वर मस्ती नही

और मस्ती उतनी नही थी, जितनी एक प्रकार की मानसिक थकान से पिंड छुड़ाने का बहाना। यहाँ नारी कोई व्यक्ति या समाज के सघटन की इकाई नही है, बल्कि सब प्रकार की विशेपताओं के बंधन से यथासंभव मुक्त विलास का एक उपकरण मात्र है। देव ने कहा है—

कौन गनै पुर वन नगर कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक को चित्त हरै करि प्रीति॥

इससे इतना स्पष्ट है कि नारी की विशेपता इनकी दृष्टि मे कुछ नही है, वह केवल पुरुष के आकर्षण का एक केन्द्र भर है। उसका सामाजिक

नारी का चित्रण

अस्तित्व मानो कुछ है ही नही। इतना होते हुए भी रीतिकाल के कवि ऐकातिक शृगारी नही है। उनकी रचना में गृहस्थी का भरपूर रस है। परतु गृहस्थी मे भी नारी केवल एक टाइप है, व्यक्ति नही। भारतीय साहित्य में टाइप की प्रधानता शुरू से ही रही है, पर रीतिकाल मे वह चरम-सीमा पर पहुँच गई है।

हिंदी में काव्य-रचना होने के पूर्व ही संस्कृत के

अलंकार शास्त्री लड़-झगड़ कर कुछ निश्चित सिद्धातो पर पहुँच चुके थे । मम्मट के काव्य-प्रकाश

अलंकार शास्त्र का हिन्दी में प्रवेश

ने रस-ध्वनि सप्रदाय को इस प्रकार से समन्वय के रूप मे उपस्थित किया कि अलकार, रीति, वक्रोक्ति आदि के पुराने सप्रदाय समाप्त हो गए । इसके बाद के प्रसिद्ध आचार्य विश्वनाथ और जगन्नाथ हुए । उन्होने इस समन्वयवादी स्थापना को पूर्णरूप से स्वीकार कर लिया । उन्होने मतभेद बहुत थोड़े स्थलो म दिखाया । मम्मट के बाद सस्कृत साहित्य मे भी विवेचन-विश्लषण के प्रयास उतने नही हुए जितने शिक्षण और प्रचार के । सस्कृत के परवर्ती अलकार ग्रंथो में भी विवेचन कम है, पूर्वाचार्यों के निर्णीत सिद्धातो का स्पष्टीकरण तथा शिक्षक और प्रचारण ही अधिक है । इन्ही ग्रथो का हिंदी के रीतिकालीन कवि अनुकरण कर रहे थे । पहले ही बतलाया गया है कि इनमे सबसे अधिक अनुकृत ग्रथ भानुदत्त की रसमजरी और जयदेव का चन्द्रालोक है । रीति-काव्य जो सुविवेचित रीति-शास्त्र नही बन सका, इसका एक मुख्य कारण आदर्श माने जानेवाले इन ग्रथो की यही विवेचनहीन प्रवृत्ति है । दूसरे कारण भी थे । इस साहित्य के लक्ष्योभूत श्रोता साहित्य के विवेचक विद्वान् नही थे, बल्कि ऐसे रसिक रईस थे जिनमें सूक्ष्म तर्क की कर्कश मीमासा सुनने की न तो रुचि थी, और न धैर्य ही था । फिर परिमार्जित तर्कभार सह सकने मे असमर्थ गद्य का अभाव तो था ही । ये कवि निर्भ्रान्ति लक्षण ग्रथ लिखने के उद्देश्य से पुस्तक नही लिखते थे, बल्कि सरस मनोविनोद योग्य काव्य-रचना से ही सतुष्ट रहते थे । उस युग की माँग भी बहुत गभीर नही थी आश्रयदाता

रईस लोग जिस श्रेणी की रचना से संतुष्ट होते थे, उस श्रेणी की रचना में जितनी गहराई आ सकती थी, उतनी इस साहित्य मे आई। इससे अधिक की न तो कभी किसी ने माँग की, न उसका प्रयत्न ही हुआ। अपने सीमित क्षेत्रो मे यह कविता बहुत ही प्रभावशालिनी है, इसमें कोई संदेह नही। पर क्षेत्र के बाहर जाने का न तो उसमे संकल्प है, न प्रयत्न।

रीतिकाल का काव्य यद्यपि शृंगार प्रधान है पर इस शृंगार रस की साधना मे जीवन की संतुलित दृष्टि का अभाव है;

रीत कवि की मनोवृत्ति

जैसे, सब ओर से चोट खाकर, किसी ओर रास्ता न पाकर, बुद्धि घर के भीतर सिमट गई हो जैसे जीवन के व्यापक क्षेत्रो में मनोनिवेश का अवसर न मिलने के कारण मनोरंजन का एकमात्र साधन नारी देह की शोभाओ और चेष्टाओ के अवलोकन-कीर्तन तक ही सीमाबद्ध हो गया हो। इस शृंगार में न तो प्रिया का व्यक्तित्व उभर पाया है—उसका साधारण नारीत्व ही आकर्षण का एकमात्र हेतु है—न प्रिया की प्रीति जीतने के लिये रूमानी ढग के किसी असीम साहसिक कार्य की योजना हो बन पाई है—केवल 'लला' का रूप ही (चाहे वह चित्र-दर्शन से प्राप्त हो, स्वप्न मे दर्शन से लब्ध हो, सखिमुख से सुनकर प्राप्त हुआ हो प्रत्यक्ष देखकर दृग्गोचर हुआ हो, या विवाह की भाँवरी के समय झलक गया हो) इस प्रीति को जीतने के लिये पर्याप्त है—और न प्रिया के रूप में सूफी कवियों की भाँति किसी अपूर्व पारस-रूप का ही कोई उल्लेख है। यह प्रेम शुरू से अंत तक महात्त्वाकांक्षा से शून्य, सामाजिक मंगल के मनोभाव से प्राय. अस्पृष्ट, पिण्ड नारी के आकर्षण से हततेजा और स्थूल प्रेम-व्यंजना से परिलक्षित है। फिर भी वह मोहन है, क्योकि उसमें चित्त

को विश्राम देने का महान् गुण है। वस्तुत. यह मोहनता उसे पूर्ववर्ती शृंगारी कविताओं से भिन्न और विशिष्ट बना देती है। यह सब ओर से रुद्ध-गति हो गए हुए मानस व्यापारों की विश्राम भूमि है, कर्मठ और बहुधा-विभक्त चित्त की गतिशील प्रक्रिया का सामयिक विराम-स्थल नहीं। इसीलिये यह ठीक-ठीक वह भौतिकवादी भी नहीं। वह वास्तविक जीवन की कठोरताओं पर आधारित नहीं। उसका आधार-फलक (कैनवास) सीमित, संकुचित और सँकरा है। जीवन के मूल प्रश्नों से उसका संबंध बहुत थोड़ा है। जीवन की वास्तविक जटिलताओं के साथ सामना करने के लिये जिस प्रकार का वैयक्तिक साहस और सामाजिक मंगल का मनोभाव आवश्यक है, वह इसमें नहीं है, और न शृंगार भावना को जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य घोषित करने का साहस ही। सब ओर से सिमटी मनोवृत्ति का वह विराम-स्थान मात्र है। यद्यपि प्राय. सभी कवियों ने शृंगार की रसराजता की घोषणा की थी, तथापि इसको तर्कसंगत परिणति तक घसीट ले जाने का साहस कम कवियों में रहा। इस शृंगार भावना को उन्होंने भक्ति का आवरण दिया। राधारानी और गोपाललाल घूम-फिर कर सभी प्रकार की शृंगार चेष्टाओं के विषय बन जाते हैं। यह भक्ति-भावना इन कवियों के लिये सामाजिक कवच का काम करती है, साथ ही यह उनके मन को प्रबोध भी देती है—

आगे के सुकवि रीझिहै तो कविताई—
न तो राधिका गोविन्द सुमिरन को बहानो है।

संस्कृत साहित्य में अलंकार शास्त्र की मार्मिक विवेचना करने वाले अनेक कवि हुए हैं, परन्तु १२वीं शताब्दी के बाद क्रमश. विवेचनावाले अंश कम होते गए,

संस्कृत के अलंकार शास्त्र का प्रभाव

और स्थिर सिद्धान्तों का प्रचार करने वाले अधिक। इन ग्रंथो में भानुदत्त की 'रस-मजरी' और 'रसतरगिणी' ने तथा जयदेव के 'चद्रालोक' ने रीतिग्रंथकारो को खूब प्रभावित किया था। इस काल मे चार प्रकार के रीतिग्रथ लिखे गए—(१) सपूर्ण काव्यागो के विवेचन करने वाले ग्रथ जो काव्य के लक्षण, शब्द और अर्थ की शक्तियो, काव्य के गुण-दोषो, रस, भाव आदि सभी अगों का विवेचन करते थे। भिखारी-दास का 'काव्य-निर्णय' ऐसा ही ग्रथ है। इन पुस्तको का आधार मम्मट का 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' जैसे ग्रथ होते थे। (२) रसो का विवेचन करने वाले ग्रथ जिनमे प्रधान रूप से शृगार रस की चर्चा रहती है, परतु अन्य रसो की भी थोड़ी-बहुत चर्चा आ जाती है। रसों का आलबन उद्दीपन विभाव, स्थायी भाव, सचारी भाव आदि के लक्षण और उदाहरण इन ग्रथो का प्रतिपाद्य होता है। केशवदास की 'रसिकप्रिया' (१५९१ ई०) तोष का 'सुधानिधि' (१६३४ ई०), कुलपति का 'रस रहस्य' (१६७० ई०), सुखदेव मिश्र का 'रसार्णव' (१६७३ ई०) आदि ग्रंथ रस की विवेचना करते है। प्राय: ही भानुदत्त की 'रस-तरंगिणी' से इस प्रकार की पुस्तको का मसाला जुटाया गया है। इनमे प्रधानता तो शृंगार की ही बनी रहती थी, पर अन्य रसो की भी चर्चा कर दी जाती थी। कभी-कभी कवियों ने अन्य रसो को छोड भी दिया है। यह उचित ही है क्योकि जब उस रस के सबध में ही मन में आकर्पण हो तो केवल प्रथापालन के लिये अन्य रसो का नाम ले लेना विशेष लाभप्रद नही होता। (३) नायक-नायिका-भेद के ग्रंथ जिनमें शृंगार रस के आलबनो का सूक्ष्म भेदोपभेद देकर उदाहरण लिखे जाते थे। यह विषय बहुत ही लोकप्रिय

था। चिंतामणि (१७वी शती) की 'शृगार मंजरी', देव का 'सुखसागर तरग' और 'जातिविलास' (१८वी शती), भिखारीदास का 'शृगार निर्णय' (१७५० ई०) इसी श्रेणी के ग्रथ है। भानुदत्त की 'रसमजरी' इस श्रेणी के ग्रथो को बराबर प्रेरणा देती रही है। (४) चौथी श्रेणी मे अलंकार ग्रंथ आते है। जयदेव के चद्रलोक और अप्पय दीक्षित के कुवलयानंद इस विषय के प्रिय ग्रथ रहे है। कभी-कभी इनसे भिन्न-अन्य सस्कृत ग्रथो का सहारा भी लिया गया है। करनेस का 'कर्णाभरण' और 'श्रुति भू ण' (१६वी शताब्दी का अत्य भाग), जसवतसिह का 'भाषा भूषण' (१७वी शती), मतिराम का 'ललित ललाम' आदि ग्रथ इसी श्रेणी के है।

शुरू-शुरू मे हिंदी समालोचको का विश्वास था कि रीति काल के कुछ कवियो मे मौलिक उद्भावनाएँ है किंतु रीति शास्त्र के नये पडितो ने बताया है कि—

मौलिकता का अभाव

(१) केशव की तथाकथित मौलिक उद्भावनाएँ वस्तुतः दडी के 'काव्यादर्श' से ली गई है, और कवि-समय की बाते केशव मिश्र के 'अलकार शेखर' और जैन आचार्य अमरसिंह की 'काव्य कल्पलता वृत्ति' से ली गई है। (२) भूषण ने भाविक छवि नामक एक नये-से लगने वाले अलकार की चर्चा अवश्य की है, पर वह भाविक का ही प्रवर्द्धित रूप है। (३) इसी प्रकार देव के काव्य-विवेचन मे जिन स्वतत्र चितन और मौलिक उद्भावना की कल्पना की गई थी, वह सब निराधार सिद्ध हुई है। वे भानुदत्त की रसजमरी के ऋणी है। कही पारिभाषिक शब्दो को थोडा बदल अवश्य दिया है, परतु इसे मौलिक उद्भावना नही कहा जा सकता। उन्होने सचारियो मे 'छल' को भी गिना है, जिसे कुछ लोग नई बात मानते है पर यह भी रसमजरी से ही लिया गया है। (४) इसी प्रकार भिखारीदास

के काव्य-विवेचन में भी जिन बातो को उनकी मौलिक देन बताया गया था, वह काव्य-प्रकाश और साहित्य दर्पण से ग्रहण किए गए है। इसी प्रकार और भी बहुत सी बाते जो किसी समय नई उद्भावना कहकर विज्ञापित की गई थी, अब नई नही मनी जाती।

कभी-कभी रीति गंथकारो ने स्वयं अपने ग्रथ के मूल उपजीव्य का नाम बताया है। इस प्रकार मुरलीधर मिश्र का 'सारसग्रह' रसमजरी के आधार पर, सेवक कवि का 'वाग्-विलास' काव्यप्रभाकर के आधार पर, प्रतापसाहि की 'व्यगार्थ कौमुदी' मम्मट के काव्यप्रकाश के आधार पर, चद्रशेखर वाजपेयी भरत के नाट्य शास्त्र पर, पजनेस का स्वेच्छार्थ मम्मट के और कुलपति मिश्र के ग्रथो के आधार पर लिखा गया था। परतु ये ठीक अनुवाद नही है। कभी-कभी शृगारी प्रसगो में इन कवियो ने अधिक व्यौरेवार प्रसगो का उत्थापन किया है। वस्तुत. इन ग्रथकारो के ग्रथ न तो पूर्ण रूप से अनूवादित है और न मौलिक। किसी ग्रंथ को वे प्रधान प्रेरणा के रूप मे स्वीकार कर लेते थे, फिर पुराने कवियों की रस-रीति मन में रखकर यथा प्रसंग कुछ नया कहने में सकोच नही करते थे।

शुरू-शुरू मे हिंदी के आलोचको को केशव की इस मान्यता से आश्चर्य हुआ था, कि सभी रस शृगार मे ही अतर्मुक्त हो जाते हैं। किंतु वाद में इस आश्चर्य की मात्रा में शैथिल्य आया। अग्निपुराण, शृगार-प्रकाश आदि ग्रंथो मे बड़ी गभीरता के साथ दिखाया गया है कि किस प्रकार मानसिक वेदनाओ की अप्रतिकूलता के कारण जो रति, हास इत्यादि अनूभूतियाँ होती हैं, और प्रतिकूलता के कारण जो विषाद, क्रोध आदि भाव उठते है, वे सभी वस्तुत. हमारे अहकार के ही रूपातर है। उसी के रमने

को रति कहते है। इसलिये जहाँ कही भी यह अहकार अनुकूल या प्रतिकूल रूप मे रत होता है, वही शृगार रस है। परन्तु केशवदास की विवेचना मे कोई गंभीरता नही है। केवल स्थिर सिद्धातो को अत्यत स्थूल रूप में किसी प्रकार ठेल-ठालकर सभी रसो को शृगारो मे अतर्भुक्त कर दिया गया है। यह भी बताया गया था कि शृगार के दो भेद, प्रच्छन्न और प्रकाश, केशव की मौलिक उद्भावना है। परतु यह बात भी अब निराधार सिद्ध हुई है। श्री चद्रबली पांडेय जी ने दिखाया है कि केशवदास के पूर्ववर्ती पद्मसुन्दर ने—'अवर साहि शृगार दर्पण' नामक पुस्तक मे प्रच्छन्न और प्रकाश नाम के शृगार के दो भेद किए है, और भोजराज ने 'शृगार प्रकाश' मे स्पष्ट रूप से बताया है कि प्रकाश शृगार की अपेक्षा प्रच्छन्न शृगार बलीयान होता है। इस प्रकार यह भी केशव की कोई नई सूझ नही है। इसी प्रकार डा० नगेन्द्र ने देव की नई उद्भावना समझी जाने वाली बातो को रसतरगिणी पर आधारित सिद्ध किया है। कहने का मतलब यह है कि काव्य-शास्त्र का सागोपाग विवेचन करने वाले इन कवियो ने कोई नई बात नही कही। शास्त्रीय गद्य के अभाव मे इनका काव्य-विवेचन शिथिल और अस्पष्ट रहा। कुलपति, दास, रसिकगोविंद आदि कवियो ने गद्य का प्रयोग किया अवश्य है, परतु यह गद्य तर्कभार सहने योग्य नही है, और इसीलिये उसमे शास्त्रीय विवेचना की गरिमा नही आ सकी।

इन ग्रंथो में भी शास्त्रीय विवेचना की प्रौढता नही रह गई है। इनमें भी शास्त्रीय विवेचना-योग्य गद्य का अभाव और लक्षणो के भेदोपभेद करनेवाले भेद-बीजों की विवेचना नही हो पाई है। ये भी सब ओर से बाधा पाकर सिमटे

हुए चित्त को भुलाने का प्रयास मात्र है जिसमे उक्ति-चमत्कार के साथ बहुत न्याय नही किया गया है। इन ग्रथो के पाठक के चित्त मे न तो मनुष्य जीवन के किसी बडे लक्ष्य को प्राप्त करने की स्फूर्ति सचारित होती है, और न काव्य के ही किसी व्यापक स्वरूप का परिचय मिलता है। यहाँ सब कुछ उक्ति चमत्कार मे ही सीमाबद्ध हो गया है। यहाँ प्रत्येक वक्तव्य किसी विशिष्ट वचन-भगिमा का आश्रय लेकर काव्य बन सकता है। इन ग्रथो से काव्य के जिस स्वरूप का आभास मिलता है, वह मानवीय आदर्शों से वचित और अस्पृष्ट है। इसमे कही-कही सरस कवित्त मिलते अवश्य है, परतु लक्ष्य बराबर उक्ति-चमत्कार का स्पष्टीकरण होता है, और गद्य के तर्कपूर्ण और व्यवस्थित शैली के अभाव में यह स्पष्टीकरण भी धुँधला हो गया है।

अलकार ग्रथो की सकुचित वृत्ति

यशवतसिह का भाषा-भूषण इन ग्रथो में सर्वाधिक मान्य और प्रभावशाली ग्रथ रहा है। इसके तीन तिलक (टीका) उपलब्ध हे (१) दलपतिराय और वशीधर का अलकार रत्नाकर, (२) प्रतापसाहि का, और (३) गुलाब की भूषण चद्रिका। इनमें दलपतिराय और वशीधर की टीका ही श्रेष्ठ और गभीर है। टीकाकारो ने अन्य कवियो की रचनाओ को भी उदाहरण रूप मे उद्धृत किया है। बाकी दो टीकाएँ न तो प्रचलित ही हुई है, और न उतनी अच्छी ही है।

एक चौथी श्रेणी के कवि और भी हे, जिन्होने चित्रकूट, दृष्टकूट और चित्र-काव्यो की रचना की है। वैसे तो केशवदास और दास आदि कवियो ने भी अपने विवेचना-परक ग्रंथों मे चित्र प्रहेलिका आदि की रचनाएँ की है, किंतु रहमान के यमक शतक मे केवल यमक का ही चमत्कार दिखाया गया है, और जगतसिह की चित्र-मीमांसा और

काशीराज की चित्र-चन्द्रिका मे चित्र-काव्यो का सौदर्य दिखाया गया है। संस्कृत कवियो में भी चित्र-काव्य के विनोद का अच्छा परिचय मिलता है, और सूरदास के नाम पर चलनेवाली साहित्यलहरी मे भी दृष्टकूटो की अच्छी योजना है। परतु रीतिकाल के साहित्य में रस-सिद्ध कवियों की रचना का ही प्राधान्य रहा है, और रस-विवेचना के सामने चित्र और प्रहेलिका की विवेचना दब गई है। बहुत थोड़े कवियो ने ही स्वतत्र रूप से इस विषय को अपनाया और उसका सम्मान भी बहुत थोडा ही हुआ, प्रधानता रसवादी कवियो की ही बनी रही।

वास्तव मे रीति-काव्य जितना तत्कालीन समाज के क्लात चित्त के विश्राम और विनोदन की व्यवस्था करता है, उतना परिष्करण और नियोजन की नही। भाषा के भी विश्रामदायक और विनोदन गुणो का इस काल में खूब मार्जन हुआ, परतु उसे इस योग्य बनाने का प्रयत्न किसी ने नही किया कि वह गभीर विचार-प्रणाली का उपयुक्त वाहन बन सके।

नायक-नायिका-भेद के बाद रीति-काल के शृंगारी कवियो के सबसे आकर्षक विषय रहे है, नख-शिख, षड्ऋतु वर्णन और अष्ट-याम। नख-शिख वर्णन की

अन्य आकर्षक विषय

प्रथा इस देश में नई नही है। कालिदास के कुमार सभव में पार्वती के नख-शिख सौदर्य का मनोरम वर्णन है। सभी काव्यो में नायिका और नायक के अंग-अंग की शोभा का वर्णन है, किंतु इसी को लेकर स्वतंत्र ग्रंथ लिखने की प्रथा बहुत परवर्ती है। सस्कृत मे भी एक-एक अग का इस प्रकार का वर्णन परवर्ती कवियो में ही मिलता है। रीति-कवियो ने नायिका के अंग की शोभा और काति का बड़ा ही हृदयहारी और कभी-

कभी फड़का देनेवाला वर्णन किया है। पजनेस, ग्वाल, चन्द्रशेखर वाजपेयी जैसे कवियों ने 'प्यारी' के मुख के तिल और मस्से को भी वर्णन करने से नहीं छोड़ा है, और तो और, चेचक के दाग का भी रस लेके वर्णन किया है। षड्ऋतु वर्णन भी पुराने जमाने से होता आ रहा है। कवियों में प्रायः शृंगार के उद्दीपन के रूप में ही इसकी चर्चा होती रही। रीति-कवियों ने भी षड्ऋतु का वर्णन इसी उद्देश्य से किया है। अतिरंजना, ममत्व का अभाव और भाषा का वैषम्य प्रायः मिल जाता है। 'अष्टयाम' राधा और कृष्ण के आठ पहर की लीलाओं का वर्णन है। यद्यपि राधा और कृष्ण का प्रेम भी मानवीय प्रेम के रूप में ही चित्रित है, तथापि इन कवियों की भक्ति इन पदों में सदा प्रच्छन्न-भाव से वर्तमान रही है। अन्य शृंगारी रचनाओं के बीच भी राधा-कृष्ण की लीला के प्रति श्रद्धा और भक्ति भाव का ध्यान अवश्य रखते हैं।

(२) प्रमुख रीति ग्रंथकार

भक्ति प्रेरणा का शैथिल्य

इस अध्याय के पूर्ववर्ती विवेचन से स्पष्ट हो जायगा कि हिंदी में रीति ग्रंथों का निर्माण १५वीं शताब्दी से होने लगा था। केशवदास, रहीम, नंददास और कृपाराम की रचनाएँ बताती हैं कि रीति ग्रंथों का प्रणयन बहुत पुराने काल से ही होने लगा था, परंतु 'रीति' साहित्य उन दिनों के साहित्य की प्रेरक शक्ति नहीं था। पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के हिंदी साहित्य को मूल प्रेरणा देनेवाली शक्ति भक्ति थी। सत्रहवीं शताब्दी में भक्ति का आंदोलन समाप्त तो नहीं हो-गया पर साहित्य निर्माण में वह प्रथम और प्रधान प्रेरणादायक शक्ति

नहीं रह गया । इस समय हिंदी साहित्यकार प्रधानरूप से रीतिबद्ध साहित्य की ओर आकृष्ट हुए।

इतिहास मे कानपुर जिले के तिकवाँ गाँव के निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के समान भाग्यशाली पिता बहुत कम होते होगे । इनके चार पुत्र थे, चारो कवि । सबसे बड़े चिंतामणि थे, जिनका जन्म सन् ईस्वी की सत्रहवी शताब्दी के आरभ मे ही (सन् १६०९ ई०) हुआ था । इनका 'कविकुल कल्पतरु' नाना दृष्टियो से बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रथ है। यद्यपि शिवसिंह सरोज मे इनकी कई और रचनाओ (छद विचार, काव्य विवेक, काव्य प्रकाश, रामायण) की चर्चा है और नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में रस मजरी नामक एक अन्य रचना भी इनकी लिखी बताई गई है (जो वस्तुत शृगार मजरी है और भानुदत्त की 'रस मंजरी' पर आधारित है), परंतु इनके यश का मुख्यहेतु तो 'कविकुल कल्पतरु' ही है । पुस्तक काव्यप्रकाश के आदर्श पर लिखी गई है। विचार काफी सुलझे हुए है । उदाहरणो से इनके अच्छे कवि होने का सबूत मिलता है । बाबू रुद्रशाह सोलंकी, शाहजहाँ बादशाह और जैनदी अहमद के यहाँ इन्हें बहुत सम्मान मिला था । इनके छोटे भाई भूषण, मतिराम और जटाशंकर भी कवि थे । इनमे भूषण और मतिराम तो बहुत उच्चकोटि के कवि गिने गए है और दोनो ही साहित्य रसिकों में लोकप्रिय भी हुए है ।

चिंतामणि

चिंतामणि के उदाहरणो मे सच्चे कवि-हृदय की झलक है । कभी-कभी तो वे सरसता मे अपने छोटे भाई मतिराम से होड करते है । कई रचनाओ में भाषा का अकृत्रिम प्रवाह और भावो का समजस विन्यास देखने योग्य होता है—

कोकिल कूक सुनै उमगै मन,
और सुभाउ भयो अबही को ।

फूली लता द्रुम कुंज सुहात,
लागे अलि गुंजन भावत जी को ।
कारन कौन भयो सजनी,
यहु खेल लगै गुडियान को फीको ।
काहे ते सांवरो अग छबीलो,
लगै दिन द्वैक तें नैननि नीको ।

परंतु मतिराम की भांति वे सर्वत्र इस सहज प्रभावमयी भाषा का निर्वाह नही कर पाए । वे अपनी काव्य-विवेचना के कारण ही साहित्य-मर्मज्ञो में समादृत हुए है ।

चिंतामणि को सबसे अधिक आश्रय और सम्मान देने वाले मुसलमान बादशाह और सरदार ही बताए गए है ।

भूषण

परंतु उनके छोटे भाई भूषण (जन्म सन् १६१३ ई०) शिवाजी के आश्रित थे और अपनी ोरदर्प-भरी उक्तियो से मुगल साम्राज्य की जड़ हिलाने में सहायक हुए । चित्रकूट के सोलकी राजा रुद्र ने इन्हें कविभूषण की उपाधि दी थी, तब से इनका नाम ही भूषण पड गया । मूल नाम का पता नहीं चलता । वैसे तो ये आश्रय की तलाश में काफी भटकते रहे पर मनमाफिक आश्रयदाता इन्हें शिवाजी ही मिले । महाराज छत्रसाल भी इनके प्रशसको मे से थे और भूषण भी दोनों की वीरना पर मुग्ध थे । शृगार के व्यापक प्रभाव को अतिक्रम कराके ये अपनी कविता को वीररस की गगा मे स्नान करा सके । यद्यपि उस वीर-काव्य मे परपरागत रूढियों का पालन किया गया है और चारण कवियो की उस प्रथा का प्रभाव-पूर्ण रूप से पालन है जिसमें ध्वनि को अर्थ से अधिक महत्त्व दिया जाता है और उसकी प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करने के लिये शब्दो को यथेच्छ तोडा-मरोडा जाता है, फिर भी भूषण

की कविता में प्राण है। वह सोए हुए समाज को उद्बुद्ध करने की शक्ति रखती है। उनका 'शिवराज भूषण' अलकार ग्रंथ है और 'शिवावावनी' वीररस की राजस्तुति-जातीय पुस्तक है। और कवियो की राजस्तुति से भूपण की राजस्तुति मे अतर है। और कवियो के काव्य-नायक सचमुच ही उस गौरव के अधिकारी नही होते जिसके अधिकारी शिवाजी जैसे सच्चे शूर थे। इसलिये भूषण की कविता मे सचाई और ईमानदारी की सुगधि आ गई है।

मतिराम सभवतः भूषण से उमर मे वड़े थे। दोनों भाइयो की भाषा, भाव, प्रकृति, सबमें अद्भुत अंतर है।

मतिराम

मतिराम भाषा की नाड़ी पहचानते है। इनके 'रसराज' और 'ललितललाम' ग्रथ तो रीति-काव्य है, 'सतसई' बिहारी-सतसई के समान सरस मुक्तको का संग्रह है। भाषा के सहज प्रवाह और भावो के अनाडबर प्रकाशन में मतिराम के साथ भाषा के बहुत थोड़े कवियो की तुलना की जा सकती है। यद्यपि रसराज और ललितललाम में लक्षण और उदाहरण के वहाने ही कविता लिखी गई है पर भावो का ऐसा सरस चित्रण दुर्लभ है। एकाध उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी——

मो जुग नैन चकोरन को यह
रावरो रूप सुधा ही को नैवो।
कीजै कहा कुलकानि ते आनि
परो अब आपुनो प्रेम छिपैबो॥
कुंजन मे मतिराम कहूँ निसि
द्यौसहु घात परे मिलि जैबो।
लाल सयानी अलीन के बीच
निवारिये ह्यां की गलीन को ऐबो॥१॥

आपने हाथ सो देत महावर
आप ही वार सिंगारत नीके।
आपन ही पहिरावत आनि कै
हार सँवारि कै मौलसिरी के ।।
हौ सखि लाजन जाति मरी
मतिराम सुभाउ कहा कहौ पी के।
लोग मिले घर घैरु करै
अब ही तं ये चेरे भये दुलही के ।।२।।
कुदन को रँगु फीको लगै
झलकै अति अगन चारु गोराई।
आँखिन मे अलसानि चितौनि मे
मजु विलासन की सरसाई ।।
को बिन मोल बिकात नही
मतिराम लहै मुसुकानि मिठाई।
ज्यो-ज्यो निहारिये नेरे ह्वै नैननि
त्यो-त्यो खरी निकरै सी निकाई ।।३।।

इस प्रकार समस्त उदाहरण सुन्दर भाषा और मोहक भावो के नमूने है। व्रजभाषा काव्य मे ऐसो अकृत्रिम सरसता बहुत कम कवि ले आ सके है। रीति ग्रंथ लिखने के बहाने मतिराम वस्तुत सरस काव्य रच रहे थे।

मारवाड़ के महाराज जसवतसिह (जन्म सन् १६२६) का 'भाषा भूषण' हिंदी का बहुत ही लोकप्रिय ग्रथ रहा है।

मतिराम अपने उदाहरणो के सरस कवित्व के कारण प्रसिद्ध है पर महाराज जसवतसिह अपने लक्षणो और उसके यथार्थ उदाहरणों के कारण प्रसिद्ध हुए है। इनके ग्रंय का प्रधान

जसवतसिह और भिखारीदास

आधार और आदर्श जयदेव का चंद्रलोक है। उन्नीसवी शताब्दी के अंत तक भाषाभूषण अलंकार जिज्ञासु हिंदी कवियों के पठनपाठन का ग्रंथ रहा है। इसके समान लोकप्रिय ग्रंथ केवल भिखारीदास का 'काव्यनिर्णय' ही हो सका है। ये भिखारीदास या दास प्रतापगढ जिले के कायस्थ थे और काव्य शास्त्र के व्युत्पन्न विद्वान् थे। इनकी रचनाएँ अट्ठारहवी शताब्दी के मध्यभाग का है। इनकी लिखी प्रसिद्ध पुस्तकें ये हैं—रस साराश (१७४२ ई०), छदोर्णव पिंगल (१७४२ ई०), काव्यनिर्णय (१७४६ ई०), शृंगारनिर्णय (१७५० ई०), नामप्रकाश कोश (१७३८ ई०), विष्णु पुराण भाषा इत्यादि। दास हिंदी के अच्छे आचार्यों मे गिने जाते है। बहुत से लेखको ने इन्हे अच्छा मौलिक चितक माना है। परन्तु यह भी अन्य रीतिकारो की भाँति पुरानी वस्तुओ का ही नवीन सग्रह कर रहे थे। भाषा इनकी निस्संदेह परिमार्जित है और उदाहरणो के रूप मे लिखे गए छदो मे कवित्व भी कही-कही अच्छा निखरा है। इनकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण इनका 'काव्यनिर्णय' ही है।

रीति ग्रथ कवियो का आवश्यक कर्त्तव्य-सा हो गया था

रीति ग्रंथ लिखना इन दिनो कवियो का आवश्यक कर्त्तव्य-सा हो गया था। महाकवि बिहारी के भानजे और आगरे के रहनेवाले कुलपति मिश्र (कविता काल १७७०-१७८६) ने द्रोणपर्व, युक्ति-तरगिणी, सग्रामसार जैसी रचनाओ के साथ-ही-साथ "नखशिख" और "रस रहस्य" भी लिखा; इनके समसामयिक सरस सूक्तियो के चिंतामणि-कर्पक रचयिता कालिदास त्रिवेदी ने "वर वधू विनोद" नाम से नखशिख और नायिका-भेद की पुस्तक लिखी। सुखदेव मिश्र ने, जो आधुनिक काल के महान् आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के गाँव दौलतपुर के निवासी थे और

जिनकी रचनाएँ १६६३ ई० से १७०३ ई० तक की पाई गई है, छद विचार, वृत्त विचार, फाजिल अली प्रकाश, रसार्णव, शृगारलता जैसी पुस्तके लिखी और अध्यात्मप्रकाश जैसी आध्यात्मिक पुस्तक भी लिखी। प्रयाग के श्रीधर कवि (जन्म १६८० ई०), आगरे के सूरति मिश्र (जन्म सन् १६८२ ई०), कालिदास के पुत्र कवीद्र उदयनाथ (जन्म १६८० ई० के आसपास), कालपी के श्रीपति कवि (जन्म १७०० ई०), आदि कवियो ने इस काल के रीति ग्रथो का प्रणयन किया परतु मतिराम और जसवतसिह के बाद यदि कोई सचमुच ही शक्तिशाली कवि और आलंकारिक हुआ तो वह देव कवि ही थे।

देव कवि

देव (जन्म सन् १६७३ ई०) बहुत प्रभावशाली कवि थे। ये इटावे के रहने वाले थे। कुछ लोगो ने इन्हे कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहा है, कुछ ने सनाढ्य। दूसरा मत अधिक मान्य जान पडता है। इनके लिखे ग्रथो की सख्या बहुत अधिक है। इतिहास-लेखकों ने कभी ७२ और कभी ८० ग्रथ इनके लिखे गिनाए है, पर सब मिलते नही। कई आश्रयदाताओ के दरबार में इन्हें भटकना पडा था। सबको खुश करने के लिये कई ग्रथो की रचना करनी पडी थी। कभी-कभी नया नाम देकर पुराना मसाला डाल देने का कौशल भी अगीकार करना पड़ा। इस लिये कितनी ही पुस्तको मे नाम मात्र का अन्तर है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी २५ पुस्तके बताई है—(१) भाव विलास, (२) अष्टयाम, (३) भवानी विलास, (४) सुजान विनोद, (५) प्रेम तरग, (६) राग रत्नाकर, (७) कुशल विलास, (८) देव चरित्र, (९) प्रेम चंद्रिका, (१०) जाति विलास, (११) रस विलास, (१२) काव्य रसायन या शब्द रसायन, (१३) सुख सागर तरग, (१४) वृक्ष विलास, (१५)

पावस विलास, (१६) ब्रह्म दर्शन पचीसी, (१७) तत्व दर्शन पचीसी, (१८) आत्मदर्शन पचीसी, (१६) जगदर्शन पचीसी, (२०) रसानंद लहरी, (२१) प्रेम दापिका, (२२) सुमिल विनोद, (२३) राधिका विलास, (२४) नीति शतक और (२५) नखशिख प्रेम दर्शन ।

इनमें 'रस विलास' (१७२६ ई०) जो भोगीलाल नामक किसी 'लाखन खरचि रचि आखर खरीदने' वाले उदार आश्रय-दाता के मनोविनोद के लिये लिखा हुआ नायिका-भेद का ग्रथ है, 'भवानी विलास' किसी भवानीदत्त नामक आश्रयदाता के नाम पर लिखा हुआ रस ग्रंथ है, जिसमे देव ने भोजराज की भाँति स्पष्ट रूप मे कहा है कि 'भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल शृंगार' !, 'भाव विलास' औरगजेब के पुत्र सरस हृदय आजमशाह के मनोविनोद के लिये लिखा हुआ नायिका-भेद का ग्रंथ है जिसे कवि ने जवानी के नवीन उन्मेष के समय—'चढत सोरहों वर्ष'—लिखा; और 'काव्य रसायन' बहुत महत्त्व-पूर्ण सांगोपांग अलकार ग्रथ है। यद्यपि लक्षण-लक्ष्य के रूप मे देव ने ये ही रीति ग्रथ लिखे हैं पर उनके अन्य ग्रथो मे भी रीति काव्य के सभी गुण प्राप्त होते हैं । प्रेमचद्रिका, रस-विलास, प्रेमपचीसी आदि पुस्तको मे देव बहुत उत्तम कवि के रूप में विराजमान हैं। यद्यपि मतिराम की भाँति भाषा का सहज प्रवाह और भावो की समजस योजना इनकी कविता मे नही है तथापि अर्थ-गांभीर्य और सरस वाग्विन्यास में देव बहुत ही ऊँचे कवि हैं । जब कभी ये सहज और अनाडंबर भाषा का प्रयोग करते हैं तभी इनकी रचना अत्यत उत्कृष्ट होकर प्रकट होती है पर जब वे सूक्ति-योजना और वाग्-वैदग्ध्य के आयोजन में जुट जाते हैं तब उसमें फीकापन आ जाता है ।

देव ने काव्यप्रकाश का अच्छा अध्ययन किया होगा ।

काव्य रसायन या शब्द रसायन प्रधान रूप से काव्यप्रकाश पर ही आधारित है। विकसित गद्य का आश्रय न पा सकने के कारण इनके सुलझे विचार भी उलझने को बाध्य हुए हैं। इनके पहले कुलपति मिश्र ने भी (जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है) अपने रसरहस्य में काव्यप्रकाश का ही आधार लिया था। उन्होंने पद्य को साहित्यिक विवेचना क लिये अशक्त समझ कर कुछ-कुछ गद्य का भी आश्रय लिया था। आगरे के कनौजिया ब्राह्मण सूरति मिश्र काव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। उन्होंने काव्य सिद्धात, रस रत्नमाला, अलकारमाला, रस ग्राहक चद्रिका, नखशिख रसालकार आदि पुस्तके तो लिखी ही बिहारी की सतसई और केशवदास की कविप्रिया और रसिकप्रिया पर टीकाएँ भी लिखी और इस कार्य के द्वारा अलंकार विवेचना में गद्य का उपयोग किया। परन्तु सब मिला-कर गद्यवाले प्रयत्न बहुत शक्तिशाली रूप नही धारण कर सके।

गद्य का प्रयोग

कुमार मणिलाल (भट्ठ) का रसिक रसाल (१७४६ ई०) अच्छा काव्य-विवेचन-परक ग्रथ है। किंतु कविवर भिखारीदास के पूर्व सब से प्रौढ आलोचक कालपी के श्रीपति ही कहे जा सकते है। ये एक प्रकार से भिखारीदास के पथप्रदर्शक रहे। इनका लिखा हुआ काव्यसरोज और काव्यकल्पद्रुम प्रसिद्ध ग्रथ हे। काशीनिवासी गजन कवि का कमरुद्दीनहुलास अच्छा ग्रथ है माथुर ब्राह्मण और भरतपुर के महाराज बदनसिह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के आश्रित सोमनाथ[1] का रसपीयूषनिधि जिसमे पिंगल

कुछ प्रसिद्ध आलकारिक कवि

[1] सोमनाथ के अन्य ग्रंथ—कृष्ण लीलावती (स० १८००), सुजान विलास (स० १८०७) और माधव विनोद (स० १८०६)।

का भी समावेश है और काव्य शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से बहुत पूर्णांग ग्रंथ माना जाता है (सन् १७३७ ई०)।

ऊपर हमने देखा है कि इस काल का अत्यत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है भिखारीदास या दास कवि का 'काव्य निर्णय' जिसे हिंदी साहित्य मे सर्वाधिक लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण काव्य शास्त्र होने का गौरव प्राप्त हुआ है। ये प्रतापगढ के सोमवंशी राजा पृथ्वीपति सिंह के भाई बाबू हिंदूपति सिह के आश्रित थे और काव्य-शास्त्र के निष्णात पडित थे। काव्य निर्णय मे छद, रस, अलकार, रीति, गुण, दोष, शब्द शक्ति आदि का विस्तृत विवेचन है। श्रीपति के ग्रंथ काव्यकल्पद्रुम से इसमें बहुत सहायता ली गई है। भिखारीदास की शैली आलोचना के उपयुक्त है। फिर रूपसाहि (पन्ना के कायस्थ १७६६ ई०) का रूपविलास जिसमे पिंगल भी है; श्रीनगर के राजा फतेहसाहि के आश्रित रतन कवि का फतेह भूषण (१७७३ ई० के आस पास), जनराज का कविता-रस-विनोद (१७७६ ई०); थान कवि का दलेल प्रकाश (१८०१ ई०); गुरुदीन पांडे का वाग मनोहर (१८०३ ई०) जो कविप्रिया की शैली पर लिखा गया है और पिंगल का भी विवेचन करता है; करन का साहित्यरस (१८०३ ई०); रतनेस वंदीजन के सुपुत्र और बुंदेलखड के चरखारी राज के महाराजा विक्रम साहि के आश्रित, वक्तव्य विषय के सफाई में मतिराम के और सुलझी हुई विचार-पद्धति मे श्रीपति और भिखारीदास के समकक्ष माने जानेवाले प्रतापसाहि[1] की व्यंग्यार्थ कौमुदी (१८२५ ई०), काव्य विलास (१८२९ ई०)

---

१. प्रतापसाहि के अन्य ग्रंथ—जयसिंहप्रकाश (सं० १८५१); शृंगारमंजरी (सं० १८५७); शृंगार शिरोमणि (सं० १८९४), अलंकार चिंतामणि (सं० १८९४), रस चंद्रिका सतसई की टीका (सं० १८९६), जुगल नखशिख (सीताराम की नख-शिख शोभा) और बलभद्र कवि के नखशिख की टीका।

और काव्य विनोद (१८३९ ई०) प्रसिद्ध ग्रथ हैं ।

अट्ठारहवी शताब्दी के अन्त तक रीति ग्रथो की बाढ़ आ गई थी । हर कवि कोई-न-कोई पिगल, अलंकार या रस ग्रथ लिख ही देता था । कुछ अच्छे कवित्व के कारण यश पा जाते थे और कुछ उतने प्रसिद्ध नही हो पाते थे । अट्ठारहवीं शताब्दी मे सैयद गुलामअली 'रसलीन' हुए जो विलग्राम (हरदोई) के रहने वाले थे । इनके

सब समय प्रसिद्धि का कारण रीतिग्रथ ही नही थे

अग दर्पण (१७३७ ई०) और रस प्रबोध (१७४१ ई०), ये दो ग्रथ बहुत प्रसिद्ध हुए । किंतु इनका यश रस-विवेचन के कारण नही बल्कि मनोहर सूक्तियो और चित्ताकर्षक भाव-योजनाओ के कारण है । इसी प्रकार कालिदास के पौत्र और कवीद्र (उदयनाथ) के पुत्र दूलह कवि ने (१८वी शती उत्तराधी भी यद्यपि कविकुलकठाभरण नामक छोटा-सा अलकार ग्रथ लिखा परतु उनकी प्रसिद्धि सरस और मधुर उक्तियो के कारण ही है । फिर बैती (जिला रायबरेली) के अदीजन बेनी ने यद्यपि अपने आश्रयदाता किसी टिकैतराय के नाम पर 'टिकैतरायप्रकाश' (१८३० ई०) नाम का एक अलकार ग्रथ लिखा था और 'रसविलास' नाम का रस-विवेचन का ग्रथ भी लिखा था, पर प्रसिद्धि इनकी इस अलकार और रस की विवेचना करनेवाली पोथियो के कारण नही है बल्कि भँडौवो के कारण है । अट्ठारहवी शताब्दी के अन्त तक अच्छे खासे भँडौवो की रचना हुई होगी क्योकि उस काल में रईसो के मनोरंजन का यह एक खास विषय था । इनमे हास्योद्रेचक सूक्तियो की बहार होती है पर मुख्य लक्ष्य सूम होता है । बेनी के भँडौवो की टक्कर का दूसरा भँड़ौवा नही लिखा गया । एक बार जो इनकी लपेट मे आ गया वह कही का नही रहा । किसी बिचारे दयाराम ने गलती की कि

उसने बेनी को कुछ आम खाने को दे दिए। आम कुछ अच्छे नही थे। बेनी ने विचारे दयाराम की ऐसी खबर ली कि वे हमेशा के लिए साहित्य जगत् के बदनाम जीवो मे दाखिल हो गए—

चीटी को चलावै को मसा के मुख आपु जाय
स्वास की पवन लागे कोसन भगतु है।
ऐनक लगाए मरु मरु कै निहारे जात
अनु परमानु की समानता लगतु है।
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौ बखान करौ
मेरी जान ब्रह्म को बिचारिबो सुगतु है।
ऐसे आम दीन्हे दयाराम दया करि मोहिं
जाके आगे सरसो सुमेरु सो लगतु है।

इसी प्रकार बेनी प्रवीन (लखनऊ वाले) ने यद्यपि ,नव-रस तरग (१८१७ ई०), शृगार भूषण और नानाराव प्रकाश जैसे रीतिग्रथ लिखे थे पर उनकी प्रसिद्धि का कारण उनकी अत्यन्त सरस और सुगठित भाव योजनाएँ है। उनकी अत्यंत मार्मिक रचनाएँ—'सबसों बदली-बदली कहै माला' और 'एते बडे व्रजमडल मे न मिली कहूँ रंचक माँगेहु रोरी' इस काल के सहृदयो को मुग्ध करती रही। इन उक्तियो मे अद्भुत मिठास है। यद्यपि इनकी उत्ताम रचनाएँ थोडी ही है पर सरसता में ये कभी-कभी मतिराम की रचनाओ तक पहुँच जाती है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

कालिह ही गूँथी बवा की सौ मैं
गज मोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ ते यहाँ पुखराज की,
सग एई जमुना तट वाला।

न्हात उतारी हौं बेनी प्रबीन,
हँसै सुनि नैनन नैन रसालां।
जानति ना अग की बदली,
सब सों बदली बदली कहै मालां।

किन्तु इस काल के श्रेष्ठ कवि पद्माकर ही हैं (१७५३ ई०–१८३३ ई०)। ये सुपंडित तो थे ही, विस्तृत लोकज्ञान के धनी भी थे। अन्तिम वयस में इन्होंने भक्ति संबधी पद लिखे है जो बहुत ही ...। है। इनका जन्म बाँदे में हुआ था। इनका कुल पंडितो का कुल था। ये स्वय भी 'गुरु' रूप में सम्मान प्राप्त कर चुके थे। कई दरबारो में इनका सम्मान हुआ था। इनके लिखे कई ग्रंथ उपलब्ध हुए है—हिम्मतबहादुर विरुदावली, जगद्विनोद, पद्माभरण, प्रबोध पचासा और रामरसायन इनके प्रसिद्ध ग्रंथ है। इनका जगद्विनोद उन्नीसवीं शताब्दी के काव्यरसिको को बहुत प्रिय रहा है। भाषा पर तो इनका बहुत ही व्यापक अधिकार है। यद्यपि कभी-कभी अपने समय की प्रवृत्ति के शिकार होकर ये अर्थ गांभीर्यहीन रचनाओ के लिखने में प्रवृत्त हो जाते है पर बहुत थोड़े अवसरों पर ऐसा होता है। इनकी रचना में अनाडंबर भाव-योजना और सहज भाषा प्रवाह के गुण मतिराम के समान प्राप्त होते ... यह तो नहीं कहा जा सकता कि सूक्ति योजना में ये ... के समकक्ष है, पर शृंगार रस के प्रसंग में इनके अनु... हावों और अन्य अंगज अलकारो की योजना निस्संदेह बहुत उत्तम कोटि की हुई है। पद्माकर का आधार-फलक काफी विस्तृत है। सरस चित्रों की योजना में व्रजभाषा के कम कवि इनकी समानता कर सकते हैं। एक उदाहरण यह है—

आरस सों आरत सम्हारत न सीसपट,
गजब गुजारत गरीबनि की धार पर।

कहै पद्माकर सुरा सो सरसार तैसे,
 बिथुरि बिराजै हार हीरन के हार पर।
छाजत छबीले छिति छहर छरा के छोर,
 भोर उठि आई केलि मदिर के द्वार पर।
एक पग भीतर और एक देहरी पै धरे,
 एक कर कंज एक कर है किवार पर।

पद्माकर रीति कविता के अतिम श्रेष्ठ रचयिता है। इनके बाद उल्लेख योग्य कवि केवल ग्वाल हुए जो यद्यपि

ग्वाल कवि और प्रतापसाहि

चार रीतिग्रंथो—रसिकानद, रसरग, नखशिख दूषण दर्पण—के लेखक है पर अधिक प्रसिद्ध अपनी मौज और मस्ती के पद्यो के कारण है। रीतिकाल के अतिम कवियो मे प्रताप-साहि (कविताकाल १८००–१८४९) उल्लेख योग्य है, क्योकि इनकी रचनाओ म सफाई और सरसता दोनो का योग है। पर उन्नीसवी शताब्दी में रीति-काव्य का तेज समाप्त हो आया था। प्रतापसाहि के जीवनकाल मे ही नवीन युग सिर उठा चुका था। साहित्य मे क्रान्ति परिवर्तन के साधन देश मे आ गए थे और नवीन उन्मेष के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। रीतिग्रथ लिखन को परिपाटी थोड़ी-बहुत बाद मे भी जीती रही पर वह साहित्य की मुख्य प्रेरक शक्ति नही रह गई और इसीलिये प्रतिभाशाली कवियों को आकृष्ट नही कर सकी।

(३) रीतिकाल के लोकप्रिय कवियों की विशषता

रीति-कवियो के प्रसग में बिहारीलाल (१६००?-१६६३ ई०) का नाम भी लिया जाता है, पर पिछले अध्याय मे हमने इनकी चर्चा नही की । ये ... चौबे थे । कुछ लोग इन्हे केशवदास का पुत्र कहते है पर यह बात बहुत पुष्ट प्रमाणो से समर्थित नही है । जयपुर के मिर्जा जयसाहि के दरबार में इनका बड़ा मान था ।

बिहारीलाल

रीतिकाल के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि ... थे । इनकी सतसई पर कई टीकाएँ लिखी गई है[1] । आधुनिक काल में भी, जब कि रीति-परपरा अतिम सांस ले रही थी, बिहारी के दोहो ने हिंदी के साहित्यिक आलोचकों के चित्त में हलचल पैदा कर दी थी । साधारणतः विश्वास किया जाता है कि इस कवि ने अपनी सतसई की रचना रीति-काव्य की दृष्टि से ही की थी क्योकि उनके दोहों को देखकर यही अनुमान होता है कि किसी-न-किसी नायिका का लक्षण उनके मन में अवश्य उपस्थित था । पुराने सहृदयों को भी यह बात लगी थी (क्योकि कभी-कभी इन दोहों को ... भेद के अनुक्रम से सजाया गया है) और नये सहृदयों को ... अनुभूत हुई है । परंतु इस बात से केवल यही सिद्ध हो...

---

१ बिहारी सतसई की निम्नलिखित पुरानी टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी है—(१) ... कवि की टीका, (२) हरिप्रकाश टीका, (३) लालचद्रिका, (४) शृंगार सप्तशती और (५) रस कौमुदी । आधुनिक काल की टीकाओं में निम्नलिखित उल्लेख... है—(१) पं० अम्बिकाप्रसाद व्यास का बिहारी-बिहार, (२) प० पद्मसिंह शर्मा ... संजीवन भाष्य (अपूर्ण), (३) लाला भगवानदीन की बिहारी बोधिनी, (४) रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी की टीका और (५) रत्नाकर जी का बिहारी रत्नाकर

है कि बिहारी के प्रशंसक रीति मनोवृत्ति के सहृदय थे। स्वयं बिहारी भी रीतिग्रथो के अच्छे जानकार रहे होगे, इसमे सन्देह नही, किंतु उनके प्रत्येक दोहे में किसी-न-किसी नायिका को खोज लेना यह नही सिद्ध करता कि वे रीतिग्रथ लिख रहे थे। अमरुकशतक के श्लोक नायिका-भेद की चर्चा करने वालो के बहुत प्रिय रहे है परतु इसीलिये यह नही कहा जाता कि अमरुकशतक नायिका-भेद का ग्रथ है। हाल को प्राकृत भाषा मे लिखी हुई गाथा सप्तशती और गोवर्धन की सस्कृत भाषा में लिखी हुई आर्या सप्तशती के प्रत्येक पद्य में किसी-न-किसी नायक या नायिका का उदाहरण खोजा जा सकता है, और खोजा गया है, परतु इन पुस्तको को कोई रीतिग्रथ नही कहता।

शतक और सतसई-परंपरा

वस्तुन सात सौ या तीन सौ, या सौ फुटकर पद्यो के सग्रह के रूप मे काव्य-रचना की प्रथा इस देश मे बहुत पुराने काल से होती आ रही है। गीता में सात सौ श्लोक है, जोड बटोर कर चंडी पाठ के श्लोको की सख्या को भी सात सौ बनाने की कोशिश की गई है। तुलसीदास और रहीम के नाम के साथ भी सतसई का सबध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। प्राचीन भारत में कवि लोग प्राय ही अपनी फुटकल पद्यों की रचनाओ को सख्या-परक नाम दे दिया करते थे। सौ पद्यो के सग्रह को शतक कहते थे। अमरुक का शतक तो प्रसिद्ध ही है, भर्तृहरि के भी तीन शतक प्रसिद्ध है, मयूर कवि का सूर्य स्तुति परक सूर्यशतक और बाण का चडी की स्तुति करने वाला चडीशतक पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके है। हिंदी रीतिकाल के आरभ होने के पहले भी और बाद मे भी सस्कृत में शृगारी शतको की परंपरा चलती रही है। चौदहवी शताब्दी से पहले तो उत्प्रेक्षावल्लभ ने

सुन्दरीशतक लिखा था और अट्ठारहवी शताब्दी में अलमोड़े के विश्वेश्वर कवि ने रोमावलीशतक लिखा था। मुबारक आदि कवियो के अलकशतक और तिलकशतक इसी परपरा मे पडते है। १२वी शताब्दी में बगाल के राजा लक्ष्मणसेन के सभाकवि गोवर्धन पडित ने अपनी प्रसिद्ध आर्या-सप्तशती लिखी थी, जिसका बढाव अट्ठारहवी शताब्दी के कवि विश्वेश्वर की आर्यासप्तशती तक चलता रहा। सख्यापरक नाम देकर सस्कृत में दर्जनो काव्य लिखे गए है। विह्लण या चौर कवि की चौर पंचाशिका पचास पद्यो का धारावाहिक सग्रह है। परतु साधारणतः ये संख्यापरक नामवाली पुस्तके धारावाहिक संग्रह नही होती थी। इनमें परस्पर-निरपेक्ष और अपने आप मे परिपूर्ण पद्यो का ही सग्रह होता था। हाल की गाथा सप्तशती ऐसी रचनाओं का प्रथम सग्रह है और बिहारीलाल की सतसई इस परपरा मे ही पडती है। इसके बाद भी सतसइयो की रचना होती अवश्य रही पर कीर्ति में कोई इसके निकट नही पहुँच सकी। सरसता मे इसके समक्ष पहुँच सकने वाली एकमात्र रचना मतिराम की सतसई है पर यह पुस्तक कभी भी बहुत लोकप्रिय नही हुई। प्राकृत और सस्कृत के समान ही अपभ्रंग में भी सतसई और शतको की परपरा बनी रही पर दुर्भाग्यवश अब वह साहित्य उपलब्ध नहीं है। हेमचद्र के व्याकरण मे आए हुए दोहो को देखकर अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि उस समय वह परंपरा जीती अवश्य होगी। इस प्रकार विहारी की सतसई किसी रीति-मनोवृत्ति की उपज नही है। यह एक विशाल परंपरा के लगभग अन्तिम छोर पर पडती है और अपनी परंपरा को संभवतः अंतिम विंदु तक ले जाती है।

परंतु इसका अर्थ यह नही है कि गाथा सप्तशती औ

बिहारी सतसई में कोई अंतर ही नही है। बिहारी में निश्चित रूप से वह ताजगी और दीप्ति नही है जो गाथा सप्तशती में है। तीन ग्रन्थ बिहारी के बहुत प्रिय जान पड़ते हैं—हाल की गाथा सप्तशती, अमरुक का शतक और गोवर्धन की आर्यासप्तशती। सिर्फ बिहारी ही नही, उनके वाद के संस्कृत पढ़े-लिखे हिंदी शृगारी कवियो ने भी इन तीन ग्रन्थो से बहुत प्रेरणा प्राप्त की है। कई कवियो ने इन ग्रन्थो के श्लोको का अक्षरशः अनुवाद कर दिया है और कई दूसरे लेखको ने स्थान-स्थान पर इनके भावो का छायानुवाद किया है। साहित्य के मर्मज्ञ आलोचको ने बताया है कि गोवर्धन की आर्यासप्तशती में भी हाल की भाँति सरसता, उल्लास और ताजगी नही है। बिहारी इस विषय में शायद गोवर्धन से अधिक सौभाग्यशाली हैं। प्रधान कारण यह है कि बिहारी को लोकभाषा में लिखना था जो हार्दिक उल्लास और सरस वाग्वैदग्ध्य का स्वाभाविक और उपयुक्त वाहन हो सकती है। परतु बिहारी को गोवर्धन की अपेक्षा कही अधिक परपरा का बोझ ढोना पडा है। इस परंपरा के भार ने उनकी भाषा को उनके द्वारा कल्पित उस नायिका की भाँति ही 'सूधो पाँय' धर सकने के अयोग्य बना दिया है जो अपनी शोभा के भार से ही लड़खड़ा उठी थी।

गाथा सप्तशती और बिहारी सतसई में अतर

जिस कवि की परपरा की इतनी बड़ी विरासत मिली हो उसमे यदि पूर्ववर्ती साहित्य के सभी चिह्न मिल जाते हो तो कुछ आश्चर्य की वात नही है। सस्कृत और प्राकृत के पुराने शृगारी कवि किसी भी स्वभाव और शीलवाली स्त्री की शारीर चेष्टाओ और कर्म-व्यापृतियो को सुन्दर रूप

परपरा की विरासत

मे उपस्थित करने मे रस ले सकते है । केवल एक ही शर्त व लगाना चाहते है । उद्दिष्ट नारी सुन्दरी हो, युवती हो, अनुरागवती हो । फिर वे और कुछ नही सोचते । वे प्रेम के सहज रूप को कम और उसके मनोहर रूप को अधिक पसद करते हैं । वे उसके कल्पना-कोमल रूप को उभारने का अधिक प्रयत्न करते है और उसकी अनायास मोहन-शोभा को कम; वे चित्र को कलापूर्ण बनाने में अधिक श्रम करते है, वैयक्तिक संबधो की अनुभूतियो से रँगने मे कम । उत्तरकालीन सस्कृत साहित्य में ही नायिकाओ के सूक्ष्म वर्गीकरण के आधार पर शृंगार चेष्टाओ को अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति प्रकट होने लगी थी और काव्य मे स्त्री-सौदर्य को परिमार्जित किंतु कृत्रिम रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न होने लगा था । बिहारी तथा अन्य रीतिकालीन कवियो को यह मनोवृत्ति विरासत में मिली थी ।

बिहारी के साथ अन्य कवियो की तुलना का साहित्य

आधुनिक हिंदी के आरभिक आलोचको मे बिहारी की श्रेष्ठता को लेकर एक मनोरंजक विवाद उठ खड़ा हुआ था । बिहारी की प्रतिद्वद्विता में देव को रखा गया था । बिहारी को श्रेष्ठ समझने वाले आलोचको के अगुआ पडित पद्मसिंह शर्मा थे और देव को बिहारी से ऊँचा स्थान देने वालो के अग्रणी मिश्रबधु थे । कई सहृदयो ने इस मनोरजक वाद में योग दिया । इस वाद का एक परिणाम तो हिंदी के आलोचको में बहुत दिनो तक जमी रहने वाली दाद देने वाली पद्धति हुई जो आलोचना-क्षेत्र में वास्तविक विचार-स्पष्टता की बाधक बनी रही, क्योकि किसी कवि को सब प्रकार से न देखकर केवल उक्ति-चमत्कार की दृष्टि से देखना आशिक रूप से देखना है । पं० पद्मसिह शर्मा ने इस सिलसिले में बडे महत्त्व-

का काम किया था। उन्होंने गाथा सप्तशती, आर्यासप्तशती अमरुकशतक आदि के पद्यो से तुलना करके यह बताने का प्रयत्न किया था कि किस प्रकार विहारी ने अपने पूर्ववर्ती कवियो के 'मज़मून' छीन लिए है। उन्होंने इस मुहावरे का इतना अधिक प्रयोग किया कि कुछ दिनो तक 'मजमून का छीन लेना' ही कवियो का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुण माना जाता रहा। अपनी-अपनी रुचि के कवियो में यह गुण ढूँढने का पूरा प्रयत्न किया जाता रहा। यह बात जहाँ उस काल के समालोचको के मानसिक झुकाव का पता देती है, वही विहारी के एक अत्यत उज्ज्वल गुण की ओर ध्यान भी आकर्षित करती है। विहारी ने अपने पूर्ववर्ती सभी बडे कवियो की रचनाओं का निपुण अध्ययन किया था और इस बात का पूरा प्रयत्न किया था कि उनके दोहे अधिक व्यजक, अधिक मर्मस्पर्शी, अधिक भाववाहक और अधिक सुथरे हो। उन्होंने पुराने कवियो के भाव को ग्रहण किया था, उसे सँवारा था, उसे निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया था और उसे 'अपना' बना दिया था। इतनी दीर्घ परपरा के अनुयायी कवि में पुरानापन रह ही जाता है। फिर विहारी सूक्ति संग्राहक कवि थे। उन्होंने पुरानी बातो को पालिश करके, खराद के, सँवार के, सजा के, नया रूप दिया है। इसी कला का चलता नाम 'मजमून छीन लेना' है।

विहारी सजग कलाकार थे

विहारी उन कवियो में से थे जिन्हे आजकल 'सजग कलाकार' या 'कन्शस आर्टिस्ट' कहते हैं। एक प्रकार के कवि होते हैं जो भावानुभूति के बाद आविष्ट की-सी अवस्था मे काव्य लिख जाते है। उनका चेतन मन उस समय निष्क्रिय बना रहता है किंतु कवि के अवचेतन चित्त में जो सस्कार जमे होते हैं, जो अनुभूतियाँ सचित रहती है वे वॉध

तोड़ कर निकल पड़ती है। अनुभूत भाव का वेग इन विविध अनुभूतियों में एकसूत्रता स्थापित करता है। ऐसे कवि सचेत कलाकार नही होते। वे अपने अवचेतन चित्त से चालित होते हैं। बाह्य वस्तु उनके चित्त में केवल ऐसे आवेगों की सृष्टि करती है जो अनुभूतियो मे शृंखला स्थापित करते हैं। किंतु एक दूसरे प्रकार के कवि होते है जिनका चेतन चित्त आविष्ट नही होता। वे शब्दो और उनके अर्थों पर विचार करते रहते है, उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द बाह्य जगत् में जिस रूप को अभिव्यक्त करते है उसको वे मन-ही-मन समझते रहते है और तौलते रहते है। शृंगार रस की अभिव्यजना के समय ऐसे कवि रसोद्दीपन-परक चेष्टाओ की पूरी मूर्ति ध्यान में रखते है। वे प्रिया की शोभा, दीप्ति, काति के साथ-साथ माधुर्य, औदार्य आदि मानस गुणो को भी जब व्यक्त करना चाहते है तो उन आंगिक और वाचिक चेष्टाओ का चित्र खीचते है जो तत्तद्गुणो के मानसिक अवस्था की व्यजना करते है। अनेक प्रकार के हावो, हेलाओ, कुट्टमित-मोट्टायितो और अनुभावो की योजना में उनकी काव्य-लक्ष्मी प्रकट होती है। विहारी इस कला में बड़े पटु है।

शब्दालकारो की योजना

अलंकारो का प्रयोग हमेशा ही इस देश में सम्मानित रहा है। काव्य के आलोचक ध्वनि, रस, औचित्य, रीति आदि को प्रधानता देकर शब्द-चित्र अर्थ चित्रो के प्रति अपनी अनास्था बराबर प्रकट करते रहे है परतु शब्दालंकारो और अर्था-लंकारो के प्रयोग को व्यावहारिक जगत् से कम नहीं कर सके है। वस्तुत· शब्दालकार और अर्थालंकार दोनो ही रस के उपयुक्त साधक भी बन सकते है और बाधक भी हो सकते है। परंतु जिस काव्य में केवल शब्दालंकार ही झंकार

उत्पन्न करता है, अर्थ का भार कम होता है, वह एक प्रकार की असान्द्र-अनुभूतिजनक आवेग का कम्पन उत्पन्न करता है। न तो वह सगीत की अवाध गति उत्पन्न कर पाता है, न अर्थ जगत् से सपूर्ण रूप से विच्छेद ही कर पाता है। उसके शब्द बराबर बाह्य सत्ता से श्रोता का संबंध स्थापित करते रहते हैं और स्वर के स्वच्छंद प्रवाह में वाधा उत्पन्न करते रहते हैं। अर्थ-भारहीन शब्दालकार न तो काव्य की गाढ़ अनुभूति ही पैदा करते हैं और न सगीत का प्रवाह ही। वे दोनों के केवल घटिया प्रभाव ही उत्पन्न कर सकते हैं। परंतु जहाँ शब्दालकार मे अर्थ-भार वना रहता है वहाँ वे काव्यगत प्रभाव को सगीत की सहज गति देकर वहुत अधिक वढ़ा देते हैं। ऐसे स्थलो पर शब्दालंकार काव्य प्रभाव की सहायता करते हैं। रीतिकाल के कवियो में शब्दालंकार के प्रयोग बहुत हैं पर अधिकतर वे काव्य के घटिया प्रभाव को उत्पन्न करके रह जाते हैं, अर्थ की वाह्य सत्ता से उनका जितना संबंध होता है उतना रमणीयता उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त नही होता। विहारी ने अर्थ की रमणीयता का ध्यान वरावर रखा है। इसीलिये उनके शब्दालंकार रसोद्रेक के सहायक होकर आते हैं। परवर्ती काल के कम कवियो में यह गुण पाया जाता है।

अर्थालकारो की योजना

परंतु अर्थालकारो की कहानी दूसरी है। वे यदि ठीक से प्रयुक्त हुए तो शब्द के प्राणप्रद और विशेषाधानहेतुक दोनो ही धर्मो मे गाढ़ अनुभूति का रस ले आ देते हैं। अर्थात् हम उनकी सहायता से वक्तव्य वस्तु के व्यक्तित्व को, गुणों को और त्रियाओं को गाढ़ भाव से अनुभव करते हैं। पदार्थ के विशेषाधानहेतुक धर्म—चाहे वे सिद्ध हो या साध्य—सादृश्यमूलक अलंकारो से इस प्रकार संमूर्तित होते

है कि पाठक के चित्त में उनकी अनुभूति सहज हो जाती है। वस्तुत अर्थालकार जब आवेग-सहचर होकर आते है तो काव्य मे अधिक ऊर्जस्वल तेज भर देते हैं, पर जब वे आवेग से विच्युत होकर उपस्थित होते है तो चमत्कारी उक्ति भर रह जाते है। वे उस अवस्था मे बिजली की कौंध के समान एक क्षणिक ज्योति विकीर्ण करके समाप्त हो जाते है। यह क्षणिक ज्योति हमारे किसी काम की नही होती, केवल अंतर की चेतना पर एक हल्की-सी हलचल पैदा करके विरत हो जाती है। बिहारी की अज्ञातयौवना नायिका ने अपनी दासी को जब ईख की दतुअन ले आने के अपराध पर झिड़का था[१] तो उसकी सरलता (जो वास्तव मे कवि-कल्पित और कृत्रिम सरलता है) ने एक ऐसी ही क्षणिक ज्योति उत्पन्न की थी। अधर के माधुर्य से बाह्य जगत् में कही भी और कभी भी नीम की दतुअन ईख की-सी मीठी नही लगने लगती। इस कविता का सपूर्ण सौदर्य 'माधुर्य' शब्द के प्रयोग में है जो मूलतः मिठास के अर्थ में सकेतित है और बाद में अच्छी-भली लगनेवाली बातो के लिये भी प्रयुक्त होने लगा है। अधर का मिठास यदि बाह्य जगत् में सचमुच ही चीनी के समकक्ष होता तो यह दोहा स्थायी आवेग-कपन उत्पन्न करने मे असमर्थ होता, क्योकि उस अवस्था में वह पाठक को चौंका नहीं सकता। बाह्य सत्ता से असपृक्त होने के कारण इस कंपन में स्थायिता नही आ पाई है और न किसी अनुभूति की साद्रता ही इससे उत्पन्न हुई है। बिहारी इस प्रकार अर्थ की बाह्य

१. अधर परसि मीठी भई दई हाथ तै डारि।
लावति दतुअनि ऊखि की नोखी खिजमतगारि॥

यह कुछ सतोष की बात है कि बिहारी के कई सस्करणों में यह दोहा नहीं पाया जाता।

सत्ता से असंपृक्त क्षणिक आलोक विकीर्ण करनेवाली उक्तियो के चक्कर में पड़ते हैं। विरह की उक्तियों में भी जब वे ऐसा प्रयत्न करने लगते हैं तो उक्ति हास्यास्पदता की सीमा तक पहुँच जाती है। असल मे विहारी की प्रतिभा प्रेम के उसी पहलू को अधिक अनुभूतिगम्य बना सकी है जो अनेक प्रकार की कृत्रिम (यत्नज)[1] और सहज अगचेष्टाओ से अभिव्यक्त होती है। ऐसे स्थलो पर विहारी बड़ा ही सजीव चित्र खीचते हैं।

विहारी की असफलता कहाँ है?

जब भी विहारी बाह्य-सत्ता से असपृक्त अर्थ की चातुरी प्रकट करते हैं तभी असफल हो जाते हैं पर जहाँ इस प्रकार की कृत्रिम चेष्टा नही होती वहाँ बहुत सफल होते हैं। एक नायिका के अधर पर नाक के बेसर के मोती की छाया पड़ी है, उसे चूना समझकर वह पोछ रही है। उसकी सखी उपहास करती हुई वास्तविकता को समझा देती है—

बेसरि मोती दुति झलक परी अधर पर आय।
चूनो होय न चतुर तिय क्यो पट पोछो जाय॥

यहाँ बेसर की छाया का चूना समझा जाना असगत नही है। इसमें नायिका की सरलता सचमुच स्पष्ट हुई है और सखी का उपहास अच्छा मालूम हो रहा है क्योंकि इसमें अर्थ वाह्य सत्ता से एकदम असपृक्त नही है। ऐसी उक्तियो में विहारी बहुत असफल नही हैं। यद्यपि ऐसे स्थलो पर

१. नासा मोरि नचाइ दृग, करी कका की सौंह।
काँटेलौं कसकति हिए, गडी कटीली भौंह॥
ललन चलन सुनि पलन में, अँसुवा झलकै आइ।
भई लखाइन सखिन हूँ, झूठै ही जमुहाइ॥

वे समर्थ हुए हैं, उसके अंतःस्थित प्रेम-मूर्ति का दर्शन नहीं करा सके हैं।

विहारी के परिवर्ती कवियों ने जमकर उनका अनुकरण किया है। कभी-कभी अनुकरण करनेवालों ने निश्चित रूप से मजमून को विगाड दिया है और कभी-कभी वे 'मजमून छीन लेने में' सफल भी हुए हैं। जहाँ कहीं भी परवर्ती कवि सफल हुआ है वहाँ विषय का उसकी प्रकृति के अनुकूल होना ही वास्तविक कारण है। विहारी के ईषत् परवर्ती कवि मतिराम ने भी उपर्युक्त दोहे के भाव से मिलते-जुलते भाव का एक दोहा अपनी सतसई में लिखा है—

विहारी के अनुकर्ता

प्रभा तर्‌योना लाल की परी कपोलनि आनि।
कहा छपावति चतुर तिय कत दंन छत जानि॥

स्पष्ट मालूम होता है कि यह दोहा विहारी के दोहे को देखकर और उससे प्रेरणा पाकर ही लिखा गया है। यह भी सभव है कि किसी मिलते-जुलते भाव के पुराने पद्य को देखकर दोनो कवियो ने अलग-अलग प्रेरणा ग्रहण की हो, परंतु मतिराम के दोहे में इतनी विशेषता अवश्य आ गई है कि यह अधिक स्वाभाविक और अधिक मर्मस्पर्शी हो गया है। यह चतुर तिय के छिपाने का कारण बहुत स्पष्ट है और नायिका के अनुराग की व्यंजना करता है। एक ही विषय को व्यक्त करते समय यह जरा-सा का अतर कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

वस्तुतः मतिराम विहारी के समान उक्ति-वैचित्र्य के उतने अच्छे कवि नहीं है परंतु जहाँ तक सरल और सहजभाव से हृदयानुराग को व्यक्त करने का प्रश्न

नायिका के हृदय तक किसी प्रकार पाठक को पहुँचा देने मे विहारी और है, मतिराम वहुत ही मर्मस्पर्शी कवि हैं।

मतिराम

इनकी उक्तियो में परपरा का वैसा बोझ नही है और इसीलिये उनमे 'शोभा के भार से' 'सूधो पाँय' धर न सकने की आशका वहुत अधिक नही है। रीतिकाल से वहुत थोड़े कवियो के साथ इस विषय मे मतिराम का नाम लिया जा सकता है। भाषा का ऐसा सहज प्रसन्न प्रवाह दुर्लभ है। प्रथा के अनुसार मतिराम ने विभिन्न श्रेणी की नायिकाओ का लेखा प्रस्तुत किया अवश्य है पर मूलतः वे गृहस्थी के कवि हैं। मध्यकाल की अनुरागवती गृह-वधू का जैसा मार्मिक और वास्तविक चित्रण मतिराम ने किया है वैसा अन्य कवियो ने नही किया। वे हेला-विव्वोक के मादक चित्रो को प्रस्तुत करने में उतने नही उलझे जितना स्निग्ध प्रीति की जीवित मूर्तियों के निर्माण में। भाषा की सहज प्रसन्न और बिना तोड़-मरोड के अर्थ स्पष्ट करनेवाली धारा में वे सहृदय के चित्त को वहाँ ले जाते हैं। एक उदाहरण से वात स्पष्ट हो जाएगी।

केलि कै राति अघाने नही
दिन ही मै लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोउ पानी दै जाइयौ,
भीतर बैठि कै बात सुनाई।
जेठी पठाई गई दुलही हँसि
हेरि हरे मतिराम बुलाई।
कान्ह के बोल में कान न दीनो सो,
गेह की देहरी पै धरि आई।

इस में न कही भी कोई ठूँस-ठाँस है, न दूर की कौड़ी लाने का कोई प्रयास है। सहज-प्रसन्न भाषा में

मध्यकाल की नव-वधू की अत्यन्त सच्ची और मार्मिक मूर्ति उभर आई है ।

मतिराम का आधारफलक (कैनवास) बहुत बड़ा नही है, पर अपने सीमित क्षेत्र में उन्होंने कमाल की चित्रण-पटुता दिखाई है । इन चित्रो में रंगो की चकाचौंध नही है, निपुण कलाकार द्वारा आयोजित कौशलों के आधार पर भिन्न-भिन्न अवयवो के उभार दिखाने का प्रयास भी नही है वल्कि चित्र के उस वास्तविक प्राणवायु को जीवंत रूप में प्रकट कर देने का सहज गुण प्राप्त है जिसके चित्रित हो जाने पर वाकी सव कुछ स्वय सुधर जाते है । उनके भाई भूषण भी हिंदी के वहुत ख्यात कवि हैं । परतु न तो भूषण को मतिराम की भाँति सहज प्रसन्न भाषा का वरदान प्राप्त था, न प्राणवस्तु को जीवत रूप दे देने की क्षमता । 'ऐल फैल खैल भैल' जैसे गढे शब्दो में चित्र को प्राणवंत वनाने की क्षमता ही नही है । भूषण को प्रसिद्धि का मुख्य कारण उनके रस का चुनाव है । प्रेम और विलासिता के साहित्य का ही उन दिनो प्राधान्य था । उसमे उन्होंने वीररस की रचना की । यही उनकी विशेषता है । मतिराम की चित्रणक्षमता और भाषाप्रवाह के साथ उनकी रचनाओ की कोई तुलना नही हो सकती ।

देव का आधारफलक (कैनवास) अवश्य ही वहुत विस्तृत है । रीतिकाल के कम कवियो में इतना वैविध्य होगा । उनके चित्र भी सव प्रकार से परिपूर्ण है । परंतु विहारी और देव मजमून सँभालने में देव प्राय· चूक जाते है । निस्सदेह रेखाओ के सन्निवेश और रंगो की योजना की दृष्टि से देव की तुलना वहुत कम कवियो से की जा सकती है, उनके सादृश्य-विधान में भी सरसता और ताजगी रहती है, परतु भाषा के सहज प्रवाह और भावों के

अनाविल उपस्थापन में देव भी मतिराम से तुलनीय नही हो सकते। देव का विस्तृत ज्ञान, मौजी स्वभाव और अनासवन शृंगार-चित्रण सहृदय को आकृष्ट करते है। विहारी की भाँति वे भी उक्ति-वैचित्र्य का मोह नही छोड़ पाते और अर्थभारहीन शब्दालंकारो के फेर मे पड़ जाते है, परपरा से प्राप्त काव्यानुभूति (जो वास्तविक अनुभूति का कभी-कभी अन्तराय वन जाती है) की माया उन्हे भरमा देती है, परंतु जब वे इन चक्करों से मुक्ति पा जाते है तो उनकी भाषा में गति आ जाती है और उनका विस्तृत ज्ञान वक्तव्य को अत्यत आकर्षक वना देता है। वे विहारी की भाँति केवल अयत्नज अलंकारो और अनुभाव-योजनाओ के ही सफल कवि नही है, गार्हस्थ्य प्रेम के अत्यत मर्मस्पर्शी और मादक चित्रो के चित्रण में भी वे उस्ताद है। जव देव अपने प्रिय और मनोवाछित विपय की व्यंजना का संकल्प करते है तो वे विहारी और मतिराम दोनो के गुणों का सुदर परिचय देते है। वे यत्नज अलंकारों, प्रेमाभिव्यजक शरीर-चेष्टाओ और तिरछी-टेढी वचनवक्रिमा से उत्तेजित होनेवाले मादक चित्रो की वैसी ही सुदर व्यंजना करते हैं जैसी अयत्नज अलकारो, अनुरागजन्य मनोविकारो और परिस्थितिजन्य उक्ति-वैदग्ध्य की। इन स्थानो पर देव की सवसे वडी कमजोरी वडे-वडे छदो मे साधारण और सहज अनुराग चित्रो के फैलाने की चेष्टा में व्यक्त होती है। छंदो के चुनाव में विहारी और मतिराम देव से अधिक चतुर है।

—और पद्माकर

मतिराम के प्रवाह और सजीवता की परपरा को ठीक-ठीक निवाहनेवाले कवि पद्माकर है। यद्यपि छदों के चुनाव मे ये भी कभी-कभी देव की भाँति गलती कर गए है पर सव मिलाकर भाषा की ऐसी वहार और भावो का ऐसा अकृत्रिम उपस्थापन अन्य कवियो में नही मिल सकता। पद्माकर में देव की भाँति

मोजीरान, मतिराम की भाँति मधुरता और बिहारी की भाँति वाग्वैदग्ध्य पाया जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में रीति कविता में एक प्रकार की स्वच्छंद प्रेमधारा का विकास हुआ था। घनआनंद, बोधा, ठाकुर, तोष, द्विजदेव और पद्माकर की कविता में इस मनःप्रसादमय प्रेमधारा का निखरा हुआ रूप मिलता है। घनआनंद के संबंध में उनके समकालीन एक मौजी कवि के कुछ भँड़ौवे प्राप्त हुए हैं। इनमें एक मजेदार सूचना यह दी हुई है कि घनानंद फारसी के कवियों से ढंग चुराया करते थे। यह बात बहुत हास्य के ढंग में कही गई है परंतु इससे इतना अनुमान तो किया ही जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में हिंदी कविता पर फारसी के ऐकान्तिक प्रेमवादी कवियों की रचनाओं का असर पड़ने लगा था। फारसी कविता में जिस एकतरफा प्रेम या अनुभयनिष्ठ रति को बड़े मोहक रूप में वर्णन किया गया है उसका थोड़ा-सा आभास ठाकुर और घनआनंद जैसे स्वच्छंद प्रेमवादी कवियों की रचनाओं में मिल जाता है। पर यह परंपरागत रीतिकाव्य के बाहर की बात है।

स्वच्छंद प्रेमधारा

यद्यपि रीतिकाल के शृंगारी कवि का प्रधान आकर्षण नारी का मादक रूप ही है तथापि इस साहित्य में चित्रित नारी अपनी महिमा से महीयसी नहीं बन पाई है। वस्तुतः उसके चित्र में रईसी की धाक है। नायिकाओं के चित्र को मादक बनाने के लिये उसने आडंबरपूर्ण वातावरण और महार्घ वेषभूषा का सहारा लिया है। उनकी नायिकाएं विशाल प्रासादों में रहती हैं, उनके सेज की चादरें

रीतिकाव्य मादक कविता का साहित्य है

चाँदनी और दूध की उज्ज्वलता को लज्जित करती है, उनके पायदान में बहुमूल्य मखमल का उपयोग होता है, उनकी सेवा मे नियुक्त दासियाँ जिन पानदानों, इत्रदानों और फूलदानों का व्यवहार करती है उनमें सोने-चाँदी की बहार रहती है। नायिकाओ के परिधान में कीमखाव, साटन, मलमल और अतलस के वस्त्र प्रयुक्त होते है। उनकी साड़ियो की किनारी सुवर्णखचित होती है और चारु चूनरी चटकीले रंगो से लहरदार बनी होती है। पुरुषों के वस्त्रों का उतना उल्लेख नही है। कभी भी भूले-भटके पाग और पटुका, चादर और अंबर, जामा और पजामे की चर्चा आ जाती है पर स्त्रियो के वस्त्राभूषण की घटा के सामने इनका कोई मूल्य नही है। रीतिकाल की रचनाएँ अलंकारो के अध्ययन का उत्तम साधन है। अनेक प्रकार के अगराग, उबटन, पान, मिस्सी, मेंहदी, आँजन, काजल, सिंदूर, रोरी, कुकुम, जावक (महावर) के साथ ही साथ सीसफूल, कर्णफूल, तरौना, झुमका, बेसर, नथ, कई-कई लरो के हार, हंसली, कठुला, हमेल, दर्पन, बाजूबद, कंगन, पहुँचो, चूड़ो, अगूठो, मुदरो, आरसी, करधनी, पायल, बिछुआ नायिका की शोभा को सौगुनी बनाते रहते है। गुलाब और बेला के गजरे, जूही और चमेली की भीनी-भीनी महक, चपा और मौलसिरी के कोमल और लुभावने हार, कस्तूरी और केसर के अगराग और गैदा, गुलदाऊदी, गुलाब, गुलबास, गुलशब्दो, गुललायचो, गुलाला की गमक से यह शोभा सदा मूर्तिमान 'मद' बनकर प्रकट होती है। रीतिकाल का कवि अपनी नायिकाओ को गरीबी के वातावरण मे नही देख सकता। बिहारी से लेकर ग्वाल और पजनेस तक सभी कवियो के चित्त में नायिका की ऐसी ही ऐश्वर्यदीप्त शोभा का मान था। जिनमें कटाक्ष-विक्षेप की क्षमता न हो ऐसी गोबर पाथती हुई, खेत निराती हुई, गृहकर्म में उलझी हुई स्त्रियाँ

उनके काव्य का विषय नही हो सकती थीं क्योंकि उनमें वक्तव्य को मादक बनाने की क्षमता नहीं थी। रीतिकाल का कवि सौंदर्य को तव तक वहुत कीमती वस्तु नहीं समझता जव तक वह मादक बनकर न प्रकट हुआ हो—सहज वस्तु को मादक बनाकर उपभोग्य समझना रीतिकालीन मनोवृत्ति की सबसे बड़ी विशेषता है।

(४) रीतिमुक्त काव्यधारा

यद्यपि सत्रहवी शताब्दी के बाद के साहित्य में रीतिवद्ध काव्य लिखने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई तथापि यह नही समझना चाहिए कि इस काल में रीतिमुक्त काव्य लिखे ही नहीं गए। रीतिमुक्त साहित्य की भी कई धाराएँ हैं। कुछ तो रीतिमुक्त शृंगारी कविताएँ हैं, कुछ पौराणिक और लौकिक प्रबध-काव्य हैं, कुछ नीति और उपदेश-विषयक कविताएँ हैं और कुछ भक्ति और ज्ञान-विषयक उपदेश के काव्य हैं। इस प्रकार सत्रहवी शताब्दी के बाद के साहित्य का एक अत्यत महत्त्वपूर्ण भाग रीतिमुक्त साहित्य का है। प्रेम-कथानकों, सत और भक्त कवियों की रचनाओं और अन्य प्रसगो में हमने इस काल के कुछ रीतिमुक्त साहित्य का परिचय पाया है।

रीतिमुक्त साहित्य

शृंगार कवियो की प्रधानता इस काल में बराबर बनी रही। सत्रहवीं शताब्दी से ही ऐसे कवियो का पता लगने लगता है जो ठीक रीति-काव्य के लेखक नहीं कहे जा सकते। मुक्त भावधारा के प्रेमी कवियों में से कुछ ने तो अंतिम वयस में भक्ति मार्ग का अवलंबन किया। उनके हृदय का

रीतिमुक्त शृंगारी कवि

लौकिक प्रेम अंत तक उदात्त भाव में परिणत होकर भगवद्भक्ति के रूप मे प्रकट हुआ। मध्यकाल के सभी बड़े भक्त कवियो के नाम के साथ इस प्रकार की कहानियाँ जुड़ी हुई है जो बताती है कि आरंभ में ये भक्तगण लौकिक प्रेमासक्ति के अत्यंत निकृष्ट आवेग के शिकार थे। परंतु कुछ थोड़े-से कवि ऐसे भी है जिनके संबंध में ऐसी कोई कहानी नही है। वे स्वच्छद प्रेम के मार्ग में विचरण करने वाले कवि रहे और अंत तक वैसे ही बने रहे। रीतिकालीन काव्य पर श्रीकृष्ण लीला का प्रभाव बराबर बना रहा। स्वच्छंद प्रेमी कवियो मे भी गोपी और गुपाल के नाम आ ही जाते है। कभी-कभी यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इस कवि को शृंगारी कवि कहा जाय या भक्ति कवि। साधारणतः जो कवि अंतिम वयस मे विरक्त हो गए है, या जिनके भजनो को भक्त संप्रदायों ने प्रेरणा का स्रोत समझा है उनकी गणना हमने भक्त कवियो में की है। रसखान और घनआनद प्रथम श्रेणी मे पड़ते है, विद्यापति दूसरी श्रेणी मे। बाकी कवियो को शृंगारी ही मानना उचित है।

असनीवाले बंदीजन बेनी की कविताएँ ऐसी है जिन्हे देख कर विद्वानों ने अनुमान किया है कि इन्होने कोई रीतिग्रथ जरूर लिखा होगा। इनका जन्म गोसाईं जी की मृत्यु के कुछ उपरांत हुआ होगा अर्थात् १७वी शती के अत्य भाग मे इनका कविता काल रहा होगा।

बेनी

अभी तक इनका लिखा कोई रीतिग्रथ मिला नही है। जव तक कोई पुष्ट प्रमाण ऐसा न मिल जाय कि उनके नाम पर चलने वाले पद्य किसी नायिकाभेद ग्रंथ के ही है तव तक मानना चाहिए कि उन्होने रीतिवद्ध कविता नही लिखी। उनकी कविताओं में घनआनद और बोधा के समान स्वच्छंद प्रेमधारा का आभास मिलता है--

कवि बेनी नई उनई है घटा
मोरवा बन बोलत कूकन री।
छहरै बिजुली छितिमंडल छ्वै
लहरै मन मैन भभूकन री।
पहिरी चुनरी चुनि कै दुलही
सग लाल के झूलिए झूकन री।
रितु पावस यो ही बितावती हो
मरिहो फिरि बावरी हूकन री।

फिर भी बेनी कवि मे वही स्वच्छंदता नहीं है जो अट्ठारहवी शताब्दी के प्रेमी कवियो में पाई जाती है। इनके काव्य मे भारतीय परंपरा की झलक स्पष्ट ही झलकती है। अट्ठारहवी शताब्दी के कवियों में कुछ ऐसे है जिन्हें फारसी साहित्य के अध्ययन करने का अवसर मिला था। उनकी रचनाओ मे फारसी साहित्य के ऐकांतिक और, कभी-कभी, अनुभयनिष्ठा प्रीति के और भावावेगजन्य वैयक्तिक उल्लास के भाव मिलते है। कुछ कवि, जो जन्मतः मुसलमान थे, इस प्रकार के प्रेम का साहित्य आरंभ से ही पढते रहे और सस्कार से ही ऐसे प्रेमोल्लास के कवि थे, और कुछ दूसरे ऐसे कवि थे जिन्होने फारसी साहित्य के अध्ययन से अपने संस्कारो का मार्जन किया था।

फारसी साहित्य के परिचय का फल

प्रथम श्रेणी के कवियो की परंपरा बहुत पुरानी है। ऐसे अनेक कवि हुए है जिनकी रचनाओ को देखकर अनुमान होता है कि उन्होने किसी प्रकार का नायिका-भेद या नख-शिख या ऋतुवर्णन संबधी ग्रंथ अवश्य लिखा होगा, पर ऐसा कोई ग्रंथ प्राप्त नही होता। ये कवि विशुद्ध भारतीय परंपरा

सेनापति, घनवारी

के कवि हैं। सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ मे ही ऐसे कवियों का परिचय मिलने लगता है। अनूपशहर के प्रसिद्ध कवि सेनापति की रचनाएँ सत्रहवी शताब्दी के आरंभ की ही हैं। इनकी कविताएँ 'कवित्त रत्नाकर' में संगृहीत है। ऐसा जान पड़ता है कि कोई ऋतुवर्णन संबन्धी काव्य इन्होंने लिखा था। इनकी भाषा बहुत ही परिमार्जित और प्रौढ़ है। सेनापति हिन्दी के चोटी के कवियो में गिने जाते हैं। फिर बनवारी (१६३३ ई०?) की नीति और शृंगार संबंधी कविताएँ प्राप्त हुई हैं। मिर्जापुर के कृष्णदास (१८०० ई०?) ने 'माधुर्य लहरी' नामक एक पुस्तक लिखी थी जिसे भक्ति-काव्य भी कह सकते हैं।

द्विजदेव

इस श्रेणी के सबसे अंतिम और प्रसिद्ध कवि द्विजदेव (१८२३-१८७२ ई०) हैं। ये अयोध्या के राजा थे। इनका वास्तविक नाम मानसिंह था। इनकी दो पुस्तकें प्राप्त हुई हैं—शृंगार बत्तीसी और शृंगार लतिका। इनकी रचनाएँ बहुत लोकप्रिय हुईं। भाषा का सहज प्रवाह और भावों का आकर्षक विन्यास इनकी कविता के प्रधान गुण हैं। इनकी रचनाओं में मतिराम के समान सहज भाषा और पद्माकर के समान परिचित वातावरण का संनिवेश है। इनके ऋतुवर्णन मे इस काल के कवियों के समान उद्दीपन सामग्री की सूची कम प्रस्तुत की गई है और उद्दीप्त भाव की व्यंजना अधिक उत्तरकालीन ब्रजभाषा कविता में किसी प्रकार रूपक बाँध कर ऋतु विशेष को अप्रस्तुत वस्तु के प्रतिरूप बनाकर दिखाने की जो भद्दी प्रथा चल पड़ी थी, उसका कोई आभास इनकी रचना में नहीं मिलती। जहाँ सामग्रियों की सूची है वहाँ भी भावोद्दीपन की ओर लक्ष्य है—

चहकि चकोर उठे सोर करि मोर उठे
  बोलि ठौर ठौर उठे कोकिल सुहावने।
खिलि उठी एकै बार कलिका अपार हिलि-
  हिलि उठे मारुत सुगध सरसावने।
पलक न लागी अनुरागी इन नैननि पै,
  लपटि गए धौं कबै तरु मन भावने।
उमगि अनद अँसुवान लौं चहूँघा लागे
  फूलि फूलि सुमन मरद बरसावने॥

और जहाँ सहज स्वच्छ भाषा में ऋतु-सौंदर्य की उद्दीपना का प्रसग है वहाँ तो उद्दीप्त भाव ही पाठक को आकृष्ट करते हैं—

न भयो कछु रोग को जोग दिखात
  न भूत लगो न बलाय लगी।
न कहूँ कोऊ टोनो डिठोनो कियो
  नहिं काहू की कीनी उपाय लगी।
द्विजदेव जू नाहक ही सबके
  हिये औषधि मूल की चाय लगी।
सखि बीस बिसे निसि याही कहूँ
  बन बौरे बसंत की बाय लगी।

फारसी प्रभावापन्न कवि : मुबारक

दूसरी श्रेणी के कवियों की परंपरा भी बहुत पुरानी है। सैयद मुबारिक अली बिलग्रामी 'मुबारक' (जन्म १५८३ ई०) फारसी और संस्कृत के बहुत अच्छे जानकार थे। इनकी रचनाएँ सत्रहवी शताब्दी के आरभ की है। इनकी अलक शतक और तिलशतक नाम की दो रचनाएँ है जिनमें सुदरी स्त्री के अलक और तिल का वर्णन मिलता है। इनकी कई

रचनाएँ स्वच्छंद प्रेम-धारा की ओर इंगित करती हैं। यद्यपि ये रचनाएँ संस्कृत के अलक-शतक, रोमावली-शतक आदि की भाँति की हैं और हमने अन्यत्र इनकी गणना इसी श्रेणी में की परंतु इनकी फुटकल कविताओ मे ऐसे भाव हैं जो थोडे नवीन से लगते हैं। उदाहरणार्थ—

हमको तुम एक अनेक तुम्हें उनही के विवेक बनाए बहो।
इत आस तिहारी बिहारी उतै सरसाय कै नेह सदा निबहो।
करनी है 'मुबारक' सोई करो अनुराग लता जिन बोए दहो।
घनस्याम सुखी रहो आनंद सो तुम नीके रहो उनही के रहो।

इसी प्रकार शेख आलम की कविता मे स्वच्छद प्रेमधारा के भाव प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं। आलम नाम के दो कवि हुए है। एक तो १६वी शताब्दी के अंतिम भाग मे उत्पन्न हुए थे और 'माधवानद कामकदला' नामक पुस्तक लिखी थी और दूसरे औरंगजेब के दूसरे पुत्र मुअज्ज्म शाह के आश्रित थे अतएव १८वी शताब्दी के अत में वर्तमान थे। यहाँ दूसरे आलम की चर्चा की जा रही है। इनके बारे में प्रसिद्ध है कि ये जाति के ब्राह्मण थे और किसी शेख नामक रँगरेजिन के प्रेम में पडकर मुसलमान हो गए। प्रेम की कहानी भी विचित्र है। आलम ने अपनी पगडी रँगने को दी थी जिसमें दोहे की एक पक्ति कागज पर लिखी बँधी रह गई थी—'कनक छरी सी कामनी काहे को कटि छीन।' रँगरेजिन शेख ने कागज खोलकर पढ़ा और दूसरी पंक्ति लिख दी—'कटि को कचन काटि विधि कुचन मध्य भरि दीन।' यह पंक्ति ही प्रेम का और अत में धर्मान्तर-ग्रहण का कारण बनी। कहा जाता है कि जौनपुर जिले मे आलम का जो पुराना गाँव है उसमे अब भी वह ब्राह्मण कुल और वह मुसलमान कुल

आलम

वर्तमान है। दोनों को अपने पूर्वपुरुष पर गर्व है। पता नहीं यह किंवदंती कहाँ तक सच है। कहा जाता है कि 'शेख' भणिति के साथ जो कविताएँ मिलती हैं वे पत्नी की हैं और 'आलम' नाम से जो कविताएँ मिलती हैं वे पति की। जितनी भी पुरानी पुस्तक मिलती हैं उनमें 'शेखआलम' के कवित्त लिखा मिलता है। इसलिए कुछ विद्वान् शेख और आलम दो व्यक्तियों के नाम नहीं मानते और पूरी कहानी को किंवदंती और कल्पित मानते हैं। उनके मत से शेख विशेषण है, आलम विशेष्य। यह एक ही मुसलमान कवि का नाम है जो कभी शेख नाम से कविता लिखते थे और कभी आलम नाम से। यद्यपि ये फारसी के ज्ञाता थे तथापि इनकी रचनाएँ रीतिकालीन कवियों की परंपरा में पड़ती हैं। फिर भी इनमें प्रेमोल्लास का कुछ नवीन स्वर मिलता है। किंतु आलम की रचनाओं में भारतीय परंपरा का अच्छा पालन देखकर दूसरे विद्वान् कहानी की सचाई विश्वसनीय समझते हैं। प्रेमोल्लास की व्यंजना इनमें निस्संदेह बहुत उच्चकोटि की है।

रसनिधि

दतिया के राजा पृथ्वीसिंह (मृत्यु १६६० ई०) रसनिधि नाम से कविता लिखा करते थे। ये फारसी के अच्छे जानकार थे। इनकी रचनाओं में फारसी प्रेम-व्यंजना का परिचय मिलता है। इनका 'रतन हजारा' नामक दोहा-ग्रंथ 'बिहारी सतसई' के अनुकरण पर बना है। बिहारी के भावों को तो कहीं-कहीं ज्यों-का-त्यों उठा लिया गया है; जैसे—

> कुहू निसा तिथिपत्र में बाचन को रहि जाय।
> तुव मुख ससि की चाँदनी उदय करत है आइ।

यह बिहारी के इस दोहे की विशुद्ध छाया है—

पन्ना ही तिथि पाइयत, वा घर के चहुँ पास ।
निसि दिन पूनो ही रहत, आनन ओप उजास ।

इसी प्रकार पन्ना दरबार के कवि बोधा (बुद्धसेन) भी (जो तुलसीदास जी के स्थान राजापुर के निवासी बताए जाते हैं) फारसी के बहुत अच्छे जानकार थे ।

बोधा

घनआनद की भाँति इनके सबंध मे भी कहानी है कि ये दरबार की किसी वेश्या 'सुभान' पर आसक्त थे । किसी समय राजा के सामने ही अभिनयपूर्ण आचरण दिखाने के अपराध मे इन्हें छ. महीने के देशनिकाले की सजा भुगतनी पडी । उसी समय इन्होने 'विरहवारीश' लिखा और छ. महीने बाद लौटकर आए और कविता सुना कर महाराज को प्रसन्न किया तो महाराज ने पूछा कि क्या माँगते हो । उत्तर मिला 'सुभान अल्लाह' । प्रसन्न होकर राजा ने सुभान को दे दिया । इनकी एक और रचना 'इश्कनामा' है । इनकी रचनाओ मे रीति कवियो से भिन्न एक प्रकार के स्वच्छंद प्रेमभाव का उल्लास मिलता है ।

कहिबे को बिथा सुनिबे को हँसी,
को दया सुनि कै उर आनतु है ।
अरु पीर घटै तजि धीर सखी,
दुख को नहि का पै बखानतु है ।
कवि बोधा कहे मे सवाद कहा,
को हमारी कही पुनि मानतु है ।
हमे पूरी लगी कै अधूरी लगी,
यह जीव हमारोइ जानतु है ।

इनकी राधिका जी के चरणो की प्रीति भी देखिए—

अनतें नित काहू के होन न पाय
समान के लोग अजोगिया रे।
दुख तेरो कहा सुनिहैं दुखिया
ह्वै रहे सब आप ही सोगिया रे।
करो वारनैं तो पै वृथा वरही
पुरहूत के पूरन भोगिया रे।
वसु रे वसु राधे के पांयन में
मन जोगिया प्रेम वियोगिया रे।

ओरछा (बुन्देलखंड) के ठाकुर कवि (जन्म सन् १७६६ ई०) स्वछद प्रेम-भावना के श्रेष्ठ कवि थे। जोधपुर और विजावर के राज्यो में इनका बड़ा मान था। पद्माकर के आश्रयदाता गोसाईं हिम्मत बहादुर के यहाँ भी इनका बड़ा मान था।

ठाकुर

किंवदंतियो में पद्मावत के साथ इनके वाग्वैदग्ध्य की कहानियाँ प्रचलित है। इनकी रचनाओ का संग्रह लाला भगवानदीन ने "ठाकुर ठसक" नाम से प्रकाशित कराया था। इन रचनाओ में ऐकांतिक प्रेम का प्रवाह है। भाषा की स्वच्छता और भावो का अनोखापन इनकी रचना के मुख्य आकर्षक गुण हैं। फारसी काव्यधारा से परिचय होने के कारण इनकी रचना मे कभी-कभी अनुभयनिष्ठ ऐकांतिक प्रेम की व्यंजना भी मिलती है—

वा निरमोहिनी रूप की रासि
जऊ उर हेत न ठानति ह्वै है।
वारहि वार विलोकि घरी घरी
सूरति तो पहिचानति ह्वै है।

ठाकुर या मन को परतीति है
जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत है नित मेरे लिये
इतनो तो विसेषि कै जानति ह्वै है।

इनकी रचना में भाषा का स्वच्छ-सहज प्रभाव देखते ही बनता है। ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ आकर व्रजभाषा अपने पूरे चढ़ाव पर आ गई है। पद्माकर तो कभी-कभी ताल-तुक के टोटके के चक्कर में पड जाते है पर ठाकुर ने जो मजमून शुरू किया तो बस अन्त तक स्वच्छ-सहज प्रवाह की प्रसन्न धारा वह जाती है--

अब का समुझावती को समुझै
बदनामी को वीज तो बो चुकी री।
तब तो इतनो न विचार कर्यो
यहि जाल परे कहो को चुकी री।
कवि ठाकुर जो रस रीति रँगी
सब भाँति पतिव्रत खो चुकी री।
अरी नेकी वदी जो लिखी हती भाल में
होनी हती सो तो हो चुकी री।

× × ×

बरुनीन मे नेक झुकै उझकै मनो
खजन मीन के जाले परे।
दिन औधि के कैसे गनौ सजनी
अँगुरीन के पोरन छाले परे।
कवि ठाकुर काहू सो का कहिये
निज प्रीति किये के कसाले परे।

जिन लालन चाह करी इतनी
तिन्हैं देखिवे के अब लाले परे।

× × ×

अपने अपने सुठि गेहन में
चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री।
अँगनान में भीजत प्रेम भरे
समयौ लखि मै वलि जाँव पै री।
कहै ठकुर दोउन की रुचि सो
रँग ह्वै उमडे दोउ ठाँव पै री।
सखी कारी घटा बरसै बरसाने पै
गोरी घटा नदगाँव पै री।

इस प्रकार भाषा की निर्बाध धारा वहती रहती है। परन्तु ठाकुर नाम के दो और कवि हो गए है। दोनो असनी के ब्रह्मभट्ट बताए जाते हे। सयोग से इन दोनो की कविता की भाषा में भी वडा सहज और सुन्दर प्रवाह है। तीनो की रचनाएँ एक-दूसरे से ऐसी मिली है कि यह कह सकना कठिन ही है कि कौन-सी रचना किस कवि की है। 'ठाकुर ठसक' नामक संग्रह में भी यह मिश्रण हुआ है, ऐसा माना जा सकता है। परन्तु प्रसिद्धि बुन्देलखडी ठाकुर की ही अधिक है।

इस प्रकार शृंगारी कवियो में रीतिमुक्त भावधारा के अनेक कवि हुए है। संग्रहो में और भी अनेक सुकवियो की रचनाएँ प्राप्त होती है। अट्ठारहवी शताब्दी में ब्रजभाषा की शृंगारी रचनाएँ अपनें चरम विंदु पर आ गई। आगे चलकर यह सरसता ह्रास की ओर जाने लगी। १९वी शताब्दी के आरंभ में साहित्य की मूल प्रेरक शक्ति ही बदल गई। यद्यपि

उन्नीसवी शताब्दी तक काव्य मे इस भाषा का ही एकच्छत्र राज्य था पर उस समय उसकी शक्ति क्रमशः क्षीण ही होती गई।

शृंगारी रचनाओ के समान ही इस काल मे नीति विषयक रचनाओ की अधिकता है। नीति सबधी रचनाओ की परपरा भी काफी पुरानी है। भर्तृहरि ने एक ही साथ शृगार, नीति और वैराग्य के तीन शतक लिखे थे। सस्कृत के सुभाषितो मे अन्योक्तिच्छल से बहुत अधिक नीति साहित्य का पता चलता है। नीति भारतीय कवियो का बहुत ही प्रिय विषय रहा है। हिंदी में भी आरभ से ही नीति सबधी कविताएँ प्राप्त होती है। हेमचद्र के व्याकरण मे सगृहीत अपभ्रंश के दोहों मे से कितने ही नीति-विषयक है। तुलसीदास और रहीम के नीति-विषयक दोहो का परिचय हमे मिल चुका है। अकबर दरबार के राजा बीरबल और नरहरि महापात्र के नीति-विषयक पद प्रसिद्ध हीं है। इस प्रकार नीति का साहित्य हिंदी मे कभी अपरिचित नही रहा। सोलहवी शताब्दी के अन्त्य भाग मे जमाल नाम के एक मुसलमान कवि हुए है। जिनके नीति-विषयक दोहे राजपूताने मे बहुत लोकप्रिय है। इनकी भाषा में भी राजस्थानी का प्रभाव है। इनकी रचनाओ में नैतिक और व्यावहारिक उपदेश के साथ शृगार की रसमय सूक्तियाँ भी मिल जातीं है।

नीति काव्य

अट्ठारहवी शताब्दी के आरम्भ मे सुप्रसिद्ध नीतिकार कवि वृंद हुए जो कृष्णगढ के महाराज राजसिह के गुरु थे। इनकी 'वृन्द सतसई' के दोहे उत्तर मध्यकाल मे बहुत सम्मान के साथ पढे-पढाए जाते रहे है। वृंद सतसई संभवत. सन् १७०४ ई० में लिखी गई थी। खोज मे इनकी दो और पुस्तकों का पता

वृन्द और वैताल

चला है--शृंगार-शिक्षा और भाव-पचाशिका । किंतु इनकी प्रसिद्धि इनकी नीति-विषयक पुस्तक से ही है । इनके सम-सामयिक एक और नीति कवि का उत्तर मध्यकालीन में बड़ा सम्मान रहा है । यह बैताल । वैताल की रचनाओ में विक्रम को सवोधन किया गया है । कुछ लोगो का अनुमान है कि यह संवोधन पुराने विक्रमादित्य नामक राजा और उस बैताल की निजंधरी कथा को मन में रख कर किसी कवि ने लिखा है । वैताल उसका सचमुच का नाम नही था । दूसरे लोगो का कहना है कि ये वैताल नामक कवि ही है जो चरखारी के प्रसिद्ध रसिक विक्रमसाहि के दरवार मे थे । जो हो, "वैताल कहै विक्रम सुनो" वाली नीति-विषयक कविताएँ मध्य युग मे वहुत लोकप्रिय रही है, यह सत्य है ।

वृंद और वैताल से भी अधिक लोकप्रिय नीतिकार गिरिधर कविराय है, जिनकी कुडलिया छद में लिखी कविता वहुत लोकप्रिय रही है । कुछ कुडलिये गिरिधर कविराय 'साईं' शब्द से आरम्भ होते है । कहते है ये गिरिधर कविराय की पत्नी के लिखे है । जो हो, गिरिधर कविराय उत्तर मध्यकाल के सद्गृहस्थो के सलाहकार रहे है और आज भी जनता उसी चाव से उनके उपदेशो को मानती है जैसा अट्ठारहवी शताब्दी मे मानती रही । वस्तुतः साधारण हिंदी भाषी जनता के सलाहकार प्रधानत. तीन ही रहे है--तुलसीदास, गिरिधर कविराय और घाघ--तुलसीदास धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में, गिरिधर कविराय के व्यवहार और नीति के क्षेत्र में, घाघ खेतीबारी के मामले में । दुर्भाग्यवश घाघ के वारे मे कुछ भी ज्ञात नहीं है । गिरिधर कविराय के वारे में भी नाम मात्र की ही जानकारी है । साधारणतः अनुमान किया जाता है कि गिरिधर कविराय भी अट्ठारहवी शताब्दी के आरम्भ के ही कवि होगे ।

नीति-विषयक साहित्य हिंदी मे प्रचुर लिखा गया है। सबके रचयिताओ का ठीक-ठीक पता नही चलता। यह परपरा उन्नीसवी शताब्दी तक निर्बाध चलती रही है। उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ मे ही सम्मन, दीनदयाल गिरि आदि नीति कवि प्रसिद्ध है। दीनदयाल गिरि तो बहुत मेधावी कवि थे। उनकी प्रसिद्धि अन्योक्ति-कल्पद्रुम के कारण है लेकिन उनकी अन्य रचनाएँ भी कम नही है। अनुराग बाग, वैराग्य दिनेश, विश्वनाथ नवरत्न और दृष्टान्त तरगिणी उनकी पुस्तको के नाम है।

प्रबध-काव्यो की परपरा भी इस काल मे यथापूर्व चलती रही। पौराणिक कथाएँ तो बराबर ही लिखी जाती रही, कल्पित प्रेम-कथानको का सिलसिला भी जारी रहा। सत्रहवी शताब्दी के आरभ मे ही परतापपुर (मैनपुरी) के पुहकर कवि ने रसरतन (१६१६ ई०) नामक प्रेम-कथानक काव्य लिखा था जिसमे रभावती और सूरसेन की प्रेम-कथा दी हुई है फिर मेवाड़ के लालचद या लक्षोदय नामक कवि ने पद्मिनी चरित्र लिखा था। यह हम पहले ही लक्ष्य कर चुके है। काशीराम की कनक मजरी भी इसी काल की प्रेम-कथा है। इस प्रकार सत्रहवी शताब्दी मे प्रेम-कथानको की परंपरा चलती रही। बाद मे भी प्रबध-काव्य की धारा जारी रही।

प्रबध काव्य—
पुहकर

समसामयिक राजा की कीर्तिकथा को आश्रय करके लिखे जानेवाले काव्यो मे लाल कवि (गोरेलाल) के नाम का 'छत्र प्रकाश' विशेष रूप से उल्लेख योग्य है। पुराने ऐतिहासिक काव्यो की भाँति यह तथ्य और कल्पना का बेमेल गड्डमड्ड नही है। लाल कवि ने महाराज छत्रसाल का पूरा जीवन दिया है।

लाल कवि

इनमें ऐतिहासिक घटनाओं का ब्यौरा ठीक है और प्रबंध-काव्य के सुकुमार स्थलो को पहचानने की क्षमता भी है।

जोधराज

इनका एक और ग्रथ विष्णुविलास बताया जाता है जो बरवै छद में नायिकाभेद पर है। इसी प्रकार अलवर के नीवगढ़ के जोधराज ने भी महाराणा हम्मीर के चरित को आश्रय करके एक वीर-काव्य लिखा था। इसका रचनाकाल सन् १८१८ ई० है। इस काव्य में भी ऐतिहासिकता का निर्वाह किया गया है। भाषा चारणो की वीर रस की शैली की है, जिसमें प्राचीनता ले आने का बराबर प्रयास किया जाता है। मथुरा के माथुर

सूदन

चौबे सूदन कवि ने भी भरतपुर के प्रसिद्ध वीर सुजानसिंह (सूरजमल) के चरित को आश्रय करके 'सुजान चरित' नामक काव्य लिखा। सुजानसिंह सचमुच ही वीर कवि थे और उनके चरित को आश्रय करके काव्य लिखनेवाले सूदन में भी वीर चरित का सम्मान करने की शक्ति थी। अनुमानतः इनका कविता काल अट्ठारहवी शताब्दी का अंत्य भाग है। चद के पृथ्वीराजरासो में जिस प्रकार घोड़ो और अस्त्रों आदि की उबा देने वाली सूची मिलती है उसी प्रकार सूदन के 'सुजान-चरित' मे भी है। काव्य-रूढियो का इसमें जमके सहारा लिया गया है यद्यपि कथानक-रूढियो की वैसी भरमार नहीं है जैसी रासो में है। शब्दो को तोड-मरोड कर युद्ध के अनुकूल ध्वनिप्रसू वातावरण उत्पन्न करने में सूदन बहुत दक्ष हैं पर उससे भाषा के प्रति न्याय नही हो सका है।

अट्ठारहवी शताब्दी के अत्य भाग में काशी के महाराज उदित नारायणसिंह की आज्ञा से तीन कवियो (गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव) ने समग्र महाभारत (हरिवंश सहित) का भाषांतर बडी ललित भाषा में किया। ग्रथ की

समाप्ति में प्राय: पचास वर्ष लग गए । यह काव्य साहित्यिक दृष्टि से वहुत महत्त्वपूर्ण है । इसके पूर्व ही सवलसिंह चौहान (१७४० ई०?) ने एक महाभारत कथा लिखी थी जो लोकप्रिय रचना हुई परतु उसमें न तो महाभारत की कथा का पूरा आकलन है, न वह क्रमवद्ध ही है, और साहित्यिकता तो उसमें नाममात्र को ही है । भाषा की सरलता और उपस्थापन की सहज भंगिमा के कारण वह पुस्तक अधिक लोकप्रिय वन गई पर काशी के तीन कवियों का महाभारत लोकप्रिय न होने पर भी उत्तम रचना है ।

गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव

इस काल में कई प्रतिभासपन्न कवियो ने साहित्य के विभिन्न अंगों पर ग्रंथ लिखे । रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह जू (राज्यकाल सन् १८१३–१८५४ ई०) की चर्चा कवीरपथी साहित्य के प्रसग में हो चुकी है । परंतु यद्यपि वीजक की टीका में इनके प्रगाढ़ पांडित्य और विद्याव्यसन का वड़ा उत्तम परिचय मिलता है तथापि वह ग्रंथ इनकी प्रतिभा के केवल एक ही अंश का परिचायक है । इनकी लिखी पुस्तके अनेक है । कुछ के नाम इस प्रकार है—अप्टयाम आह्निक, आनंद रघुनदन (नाटक), उत्तम काव्य प्रकाश, गीता रघुनंदन शतिका, वीजक की टीका, विनयपत्रिका की टीका, वेदांत पंचक शतिका, उत्तम नीति चद्रिका, परमतत्त्व, सगीत रघुनंदन, भजन शांतिशतक आदि । ये सगुण राम के उपासक थे परंतु कुल-परंपरा से कवीर के शिष्य धर्मदास की गद्दी का भी सम्मान करते थे । वीजक की टीका मे इन्होने सिद्ध किया है कि कवीरदास के प्रतिपाद्य राम वस्तुत' साकेतवासी द्विभुज राम है जो निर्गुण-सगुण से अतीत है । कवीरपथी लोग इस

महाराज विश्वनाथसिंह

टीका को कबीर-सम्मत नही मानते परंतु इसमें इनका पांडित्य तो प्रकट हुआ ही है। इनका आनंद रघुनदन बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। भारतेदु हरिश्चद्र ने इसे हिंदी का प्रथम नाटक माना है। इनके पुत्र रघुराजसिह भी बहुत उच्चकोटि के कवि और साहित्यप्रेमी थे। इन दोनो पिता-पुत्र ने अनेक कवियों को आश्रय और मान दिया था।

भक्तवर नागरीदास की चर्चा हम अन्यत्र (पृ० २०९ पर) कर चुके है। ये वडे ही विद्याव्यसनी राजा थे। एक और गुणग्राही रईस असोधर (फतहपुर) के राजा भगवतराय खीची थे (अट्ठारहवी शती का मध्यभाग) जो स्वय कवि तो थे ही, अनेक कवियो के आश्रयदाता भी थे। इनकी एक पुस्तक 'हनुमत पचीसी' प्राप्त हुई है।

अन्य कवि

चरखारी के राजा विक्रमसाहि भी अच्छे विद्यानुरागी और आश्रयदाता थे। बैताल के आश्रयदाता यही बताए जाते है। इनके यहाँ मान कवि नामक बदीजन थे जो बहुत अच्छे कवि थे। इनकी लिखी कई पुस्तके प्राप्त हुई है जिनमें कोश नीति, ज्योतिष आदि अनेक विषयों की रचनाएँ है। मान कवि की लिखी पुस्तको के नाम है—अमरप्रकाश, अष्टजाम, लक्ष्मण शतक, हनुमान नखशिख, हनुमान पचक, हनुमान अष्टक, हनुमान पचीसी, नीति विधान, समरसार नृसिह पचीसी।

झाँसी के नवलसिह भी अच्छे कवि थे। ये उन्नीसवं शताब्दी के मध्यभाग में वर्तमान थे, समथर के राज हिंदूपति के आश्रित थे। खोज मे इनकी छोटी-मोटी अने रचनाएँ प्राप्त हुई है।

खोज में अट्ठारहवी-उन्नीसवी शताब्दी के अनेक कवि

की कविता पुस्तके उपलब्ध हुई हैं। सबका उल्लेख आवश्यक नही है। इस काल तक आते-आते हिंदी कविता का वह तेज क्षीण हो आया था जो पद्रहवी शताब्दी के भक्त कवियो मे दिखाई पड़ा था। जीवन के सामने कोई और नया आदर्श नही रह गया था। कविता प्राय. पिटे-पिटाए रास्ते से चल रही थी। सब ओर से अपने को समेट कर बँधे मार्ग पर चलते रहने की प्रवृत्ति ने ब्रजभाषा कविता को माधुर्य और सौकुमार्य तो दिया परंतु तेज और तारुण्यदीप्ति उसमे नही रह गई। अट्ठारहवी शताब्दी के बाद की कविता में माधुर्य और सौकुमार्य भी क्रमश. क्षीण होने लगा।

क्षीयमाण दीप्ति की कविता

[इस काल के अध्ययन में सहायक पुस्तकें—(१) प० रामचद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास, (२) मिश्रबधु हिंदी नवरत्न, मिश्रबधु विनोद; (३) डा० भागीरथ मिश्र हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास; (४) डा० नगेन्द्र रीतिकालीन हिंदी साहित्य और देव, (५) प० पद्म सिंह शर्मा : बिहारी सतसई का सजीवन भाष्य, (६) प० रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी (प्रथम भाग), बिहारी सतसई; मतिराम ग्रथावली काव्य रसायन आदि की प्रस्तावनाएँ।]

६

आधुनिक काल

(१८००—१९५२ ई०)

प्रेस के प्रचार होने के वाद ही लिखी जाने लगी। अब साहित्य के केंद्र मे कोई राजा या रईस नही रहा वल्कि अपने घरो में बैठी हुई असख्य अज्ञात जनता आ गई। इस प्रकार प्रेस ने साहित्य के प्रचार मे, उसकी अभिवृद्धि मे, और उसकी नई-नई शाखाओ के उत्पन्न करने मे ही सहायता नहीं दी बल्कि उसकी दृष्टि के समूल परिवर्तन मे भी योग दिया।

किंतु साहित्य मे आधुनिकता के प्रवेश के लिये केवल प्रेस ही एकमात्र साधन नही है, यातायात के साधन तथा शांतिपूर्ण व्यवस्था की भी आवश्यकता होती है। सन् १७५७ ई० की प्लासी की लड़ाई के बाद अग्रेजो का प्रभाव वढता ही गया। मुगल साम्राज्य क्रमश. क्षीण होता गया और विभिन्न प्रांतो के शासक स्वतंत्र होते गए। बाद के कुछ वर्षो मे मराठों की शक्ति भी क्षीण होती गई और अंतिम तौर पर सन् १७६४ की बक्सर की लड़ाई मे मुगलो का अंतिम बादशाह शाहआलम अग्रेजो के हाथ पराजित हुआ। इस प्रकार १८वी शताब्दी के अंतिम चरण मे हिंदी प्रदेशो का पूर्वी द्वार अग्रेजो के लिये खुल गया। इसके पूर्व के पचास वर्ष मराठो, जाटो और सिखों के सघर्ष और पतन का काल है। यह काल अशांति और उलझन का काल है और इसी अशांति और उलझन के बीच भावी अग्रेजी साम्राज्य की नीव पडी। वस्तुत सन् १७६४ की बक्सर की लडाई के बाद लगभग समूचा हिंदी-भाषी प्रदेश अग्रेजो के प्रभाव मे आ गया। १८२६ मे भरतपुर भी अग्रेजो के अधीन हो गया। सन् १८४९ में द्वितीय सिख युद्ध हुआ और फिर अग्रेजो के हाथ में समूचे भारतवर्ष के आने मे कोई बाधा नही रह गई। १८५६ में अवध भी अग्रेजी राज्य मे मिला लिया गया। १८५७ में प्रसिद्ध भारतीय विद्रोह हुआ जिसने ईस्ट इंडिया कंपनी के भाग्य का

ऐतिहासिक स्थिति

निपटारा कर दिया और लगभग समूचा भारतवर्ष अंग्रेजी साम्राज्य की छत्रछाया मे आ गया। सन् १८६० के बाद देश में पूर्णरूप से शाति और व्यवस्था कायम हो गई। यातायात के साधन सुलभ हो गए और क्रमश उनमे सुधार होता गया। यही से वास्तविक आधुनिक साहित्य का आरभ होता है लेकिन जिन हिस्सो मे पहले ही से अग्रेजी शासन सुदृढ हो गया था वहाँ प्रेस का आगमन बहुत पहले ही हो चुका था और थोडा-बहुत आधुनिक साहित्य का प्रकाशन भी होने लगा था।

अग्रेजो की अप्रत्यक्ष सहायता

इस समय तक देश मे साहित्य को राजा और रईसो की पृष्ठपोषकता प्राप्त हो रही थी। रीति-काल मे हिंदू और मुसलमान राजे और रईस बराबर कवियो को आश्रय, सम्मान और प्रोत्साहन देते रहे। परंतु अग्रेज इस देश मे संपूर्ण नये और अपरिचित थे। इस देश की अधिकाश जनता हिंदू थी जो उन दिनो छूतछात के वर्जनशील धर्म को मान रही थी। यह धार्मिक मनोभाव अग्रेजो-जैसी कुछ न माननेवाली जाति के साथ सपर्क-स्थापन में सहायक नही था। वस्तुत: हिंदुओ के साथ अग्रेजो का सबध कभी भी बहुत घनिष्ठ नही हो सका। अग्रेजो ने तत्कालीन साहित्य को कोई प्रोत्साहन भी नही दिया। जिस प्रकार उन दिनो के हिंदू और मुसलमान रईस, नवाब, राजे और बादशाह हिंदू कवियों को प्रोत्साहन दे रहे थे उस प्रकार किसी बडे अग्रेज पदाधिकारी ने नही दिया। सन् १८३५ मे कवि घासीराम ने बड़े दु ख के साथ कहा था—'छाँड कै फिरगन को राज, लै सुधर्म काज, जहाँ होत पुन्य आज चलो वहि देस को।' परतु कपनी सरकार की शासन-व्यवस्था ने इस ओर से तो नही किंतु दूसरी ओर से हिंदू सभ्यता और संस्कृति के उद्धार और उन्नयन

का कार्य बडी ईमानदारी और मुस्तैदी के साथ किया। इतिहास और पुरातत्व के शोध मे, प्राचीन भारतीय साहित्य और धर्म के वैज्ञानिक अध्ययन मे, और नई-पुरानी भारतीय भाषाओ के वैज्ञानिक विवेचन मे यूरोपियन पडितो ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस उद्धार और शोध कार्य की कहानी अद्‌भुत है। इसने आगे चलकर प्रत्यक्ष रूप से हिंदी साहित्य का उपकार किया। इन शोध कार्यों के ही परिणाम-स्वरूप आगे चलकर मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद और रामचंद्र शुक्ल का प्रेरणादायक साहित्य रचित हुआ।

आज के साहित्य में गद्य की प्रधानता है। किंतु पुराने साहित्य में गद्य का ऐसा प्रचलन नही था। ब्रजभाषा और राजस्थानी मे गद्य का साहित्य मिल जाता है।

प्राचीनतर साहित्य में गद्य

परतु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, कि वह साहित्य का उतना प्रभावशाली वाहन कभी नही रहा जितना आज है।

हिंदी पुस्तको की खोज मे चौदहवी शताब्दी का कहा जानेवाला एक गोरखपथी गद्य ग्रंथ मिला है जिसे विद्वानो ने चौदहवी शताब्दी के ब्रजभाषा गद्य का नमूना माना है। परतु उसकी भाषा को देखकर इधर सदेह प्रकट किया जाने लगा है कि वह सचमुच ही इतना पुराना है या नही। अधिक सभव यही जान पडता है, कि वह बहुत बाद का लिखा हुआ है। इस पुस्तक की भाषा मे 'पूछिबा', 'कहिबा' जैसे प्रयोगो को देखकर स्वर्गीय आचार्य रामचद्र जी शुक्ल ने अनुमान किया था, कि इसका लेखक राजस्थान का निवासी रहा होगा, और इन्ही प्रयोगो को देखकर कुछ बगाली विद्वानो ने अनुमान किया है कि इसकी भाषा पर पूर्वी बगाल की भाषा का प्रभाव पडा है। यह अद्‌भुत विरोध है। परतु इस बात मे

हिंदी गद्य—गोरखपथी ग्रथ

संदेह करने की गुंजायश नही कि नाथपंथी साधको की भाषा मे अनेक स्थानो की भाषा के चिह्न है ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ की ब्रजभापा की एक पुस्तक प्राप्त हुई है जिसका नाम है शृङ्गार-रस-मडन । इसकी भाषा बहुत व्यवस्थित नही कही जा सकती । फिर इसी सप्रदाय के भक्तो ने कई वार्ताएँ ब्रजभापा गद्य मे लिखी है, जो ब्रजभाषा गद्य के बहुत उत्तम नमूने है । इनमें "चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता" और "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता" है । दोनो के ही लेखक गोकुलदास बताए जाते है । परन्तु यह बात सदेहास्पद लगती है क्योकि 'दो सौ वावन वैष्णवन की वार्त्ता' में गोकुलदास का नाम आदर और भक्ति के साथ लिया गया है । जो हो, इन पुस्तको की भापा काफ़ी व्यवस्थित है, और यद्यपि उसम लबे और जटिल वाक्य-गठन का प्रयत्न नही है, तथापि उनसे प्रतिपाद्य विपय का अच्छा स्पष्टीकरण हुआ है । छोटे-छोटे वाक्यो से चरित-नायकों का चरित्र ऐसा स्पष्टता से चित्रित हुआ है मानो किसी निपुण कलाकार ने हल्की तूलिका से और वहुत मामूली रगो के सहारे चित्रो को सजीव वना दिया हो ।

वैष्णव गद्य साहित्य

परवर्ती काल मे ब्रजभाषा के गद्य मे साधारणत. दो प्रकार की पुस्तके लिखी गई—कुछ साहित्यिक ग्रथ की टीकाएँ और कुछ स्वतत्र ग्रथ । टीकाओ मे हरिचरनदास की लिखी हुई विहारी सतसई की टीका (१७७७ ई०) तथा कविप्रिया की टीका (१७७८ ई०), टाकोर के प्रियादास की लिखी हुई गोस्वामी हितहरिवंश के चौरासी पदो पर स्फुट-पद टीका (१८वी शती का अत) रामसनेही पंथ के सस्थापक स्वामी रामचरण के शिष्य राम-

परवर्ती काल के ब्रजभापा-गद्य के रूप—टीकाएँ

जन की लिखी हुई दृष्टांत-सागर की टीका और 'टीका-सयुगतिवचनिका' (१७८२ ई०), अयोध्या के महत बावा रामचरन की रामचरितमानस की टीका (१७८४-१७८७ ई०), रतनदास की नागरीदास के अष्टक पर लिखी हुई अष्टक की टीका, असनी के दूसरे ठाकुर की लिखी हुई बिहारी-सतसई की 'देवकीनदन' नाम की टीका (सन् १८०४ ई०), जानकी-प्रसाद की रामचद्रिका की टीका (१८१५ ई०), लछिमन राव की लिखी हुई केशवदास की कविप्रिया पर 'लछमन चंद्रिका' नामक टीका (१८१६ ई०), लल्लूलाल की बिहारी-सतसई पर लिखी 'लाल-चद्रिका' नामक टीका (१८१८ ई०), देवातिरथ या काष्ठजिह्वा स्वामी की 'मानस-परिचय' नाम की टीका (१८३८ ई०), काशी नरेश ईश्वरी नारायणसिंह की मानस-परिचय-परिशिष्ट (१८५५ ई०), प्रतापसाहि की मतिराम के रसराज की टीका (१८३९ ई०), तथा बिहारी-सतसई की रत्न-चद्रिका टीका (१८३९ ई०) और बलभद्र के नखशिख पर लिखी हुई टीका, सरदार कवि की रसिकप्रिया की टीका (१८४६ ई०), सूरदास के दृष्टकूट की टीका (१८४७ ई०) इत्यादि प्रमुख है।

स्वतंत्र गद्य-ग्रथ

स्वतत्र ग्रथो मे डाकौर के प्रियादास की सेवक-चद्रिका (१७७९ ई०), हित-रूप किशोरीलाल के एक शिष्य की लिखी हुई श्री नवनीत जी की सेवा-विधि (१७९५ ई०), हीरालाल की लिखी आईने अकबरी की भाषा वचनिका (१७९५ ई०), लल्लूलाल जी की राजनीति (हितोपदेश) का अनुवाद (१८०९ ई०) और मडलावाले मणिलाल ओझा की सोम-वंशन की वशावली (१८२८ ई०) इत्यादि है। रीवाँ के महाराज श्री विश्वनाथ जी की कबीर पर लिखी हुई टीका ब्रज-भाषा की अपेक्षा बघेलखडी गद्य का नमूना कही जा

सकती है। पहले ही बताया गया है कि प्रतापसाहि रसिक गोविंद आदि रीति-ग्रंथकारो ने कभी-कभी रस और अलंकार आदि के स्पष्टीकरण के लिये ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग किया है तथापि सब मिला कर ब्रजभाषा का गद्य पद्य का अनुवर्ती ही बना रहा, और संस्कृत के उन खण्डान्वय प्रणाली पर ही चलता रहा, जिसे आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल ने "कथभूती टीका" कहकर उपहास किया है। उन्नीसवी शताब्दी में यद्यपि खड़ी बोली के गद्य का सूत्रपात हो चुका था, तथापि उस शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों मे ब्रजभाषा गद्य ने साहित्य मे अपना अधिकार बनाए रक्खा। ब्रजभाषा की भाँति ही राजस्थानी में ख्याल, बात और वार्ताओ का साहित्य थोड़ा-बहुत बनता रहा। मुगल दरबार में किस्सा-गोई नाम की एक विशेष प्रकार की कला का जन्म हो चुका था। मुगल काल के अंतिम दिनो मे तो किस्सा-गोई या दास्तान-गोई एक पेशे का रूप धारण कर चुकी थी। किस्सा-गोई लोग अवकाश के क्षणों मे बादशाहों, नवाबों और अन्य रईसों का मनोरंजन किया करते थे। इन कहानियो का प्रधान विषय प्रेम हुआ करता था, और अतिरंजित एवं आकस्मिक् घटनाओ से वर्ण्य-विषय को आकर्षक बनाने की चेष्टा भी होती थी। राजपूत दरबारो मे भी इनका थोड़ा-बहुत अनुकरण होने लगा, इसी कारण राजस्थानी भाषा में भी किस्सा-गोई का साहित्य बनता रहा। परंतु जिस प्रकार राजपूत कला मुगल कला से प्रभावित होकर भी भीतर से संपूर्ण रूप से भारतीय बनी रही, उसी प्रकार यह आख्यान-साहित्य भी संपूर्ण रूप से भारतीय ही बना रहा।

राजस्थानी गद्य साहित्य

इनके अतिरिक्त संयोगवश कुछ सनदे और कुछ पत्र आदि मिल गए है, जो गद्य के नमूने प्रस्तुत करते हैं।

चौदहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में ज्योतिरीश्वर नामक मैथिल कवि ने वर्ण रत्नाकर नामक एक कवि-शिक्षा विषयक ग्रंथ लिखा था, जिसमें मैथिली गद्य का कुछ नमूना मिल जाता है। विद्यापति की कीर्तिलता की चर्चा पहले की जा चुकी है। यह एक चम्पू-कथा श्रेणी का काव्य है जिसके बीच-बीच में मैथिली भाषा के गद्य का प्रयोग है। इस गद्य की एक विशेषता यह है कि इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का बहुत अधिक प्रयोग है और जिस प्रकार फारसी में वाक्यांत में तुक मिलाने की प्रथा है, उस प्रकार का प्रयत्न इसमें भी मिलता है। रासो में भी बीच-बीच में वचनिका के रूप में नाम मात्र के गद्य मिलते हैं।

मैथिली भाषा के गद्य ग्रंथ

आधुनिक काल में गद्य का प्रचार बहुत तेजी से हुआ है। किंतु इसके पहले के गद्य साहित्य की यही कहानी है। आजकल हम लोग जिस भाषा में लिखा और बोला करते हैं उसे खड़ी बोली कहते हैं। कुछ विदेशी विद्वानों का ऐसा विश्वास था कि अंग्रेजों के बाद उन्हीं की प्रेरणा से हिंदुओं ने इस भाषा में साहित्य लिखना शुरू किया, पर यह बात गलत है। अपभ्रंश के ग्रंथों में, उत्तर मध्यकाल के संतों की बानियों में और विनोदपूर्ण ढंग से लिखी गई संस्कृत कविताओं में इस भाषा के नमूने मिल जाया करते हैं। मुगल दरबार की प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ दिल्ली के आसपास की भाषा शिष्ट-भाषा हो गई। अकबर के समकालीन गंग कवि का लिखा बताया जानेवाला 'चंद-छंद-बरनन की महिमा' नाम की एक रचना प्राप्त हुई है। इसकी भाषा आधुनिक खड़ी बोली के आस-पास है, इसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में है। शुरू-शुरू में मुसलमान औलियाओं ने इस भाषा में गद्य

खड़ी बोली

लिखे थे, ये लोग इसे 'हिन्दवी' भापा कहते थे। शाह मीरान जी बीजापुरी (मृत्यु सन् १३४३ ई०), शाह बुरहान खान (मृत्यु सन् १३८२ ई०) और सैयद मुहम्मद गैसूदराज (१३९८ ई०) के लिखे पुराने गद्य भी प्राप्त हुए है।

मुगल दरबार की समृद्धि जब ह्रास होने लगी, और लखनऊ, पटना तथा मुर्शिदाबाद आदि मे नई नवाबी राजधानियाँ श्रीसम्पन्न होने लगी, तो दिल्ली के गुणियो और व्यवसायियो ने पूरब ओर मुँह किया। उनके साथ की दिल्ली की शिष्ट भाषा सर्वत्र फैलने लगी। अट्ठारहवी शताब्दी मे निश्चित रूप से दिल्ली की शिष्ट भाषा चारो ओर फैल चुकी थी। कथा और धार्मिक प्रवचनो के लिये इस नई शिष्ट भाषा का ही सर्वत्र व्यवहार किया जाने लगा था। कहा जाता है कि सन् १७४१ ई० मे पटियाला दरबार के कथावाचक श्री रामप्रसाद निरजनी ने 'भाषा योग वाशिष्ठ' नामक ग्रथ बहुत ही सुन्दर और परिमार्जित भाषा में लिखा था, और उसके कुछ ही दिन बाद सन् १७६१ ई० मे मध्यप्रदेश के निवासी पडित दौलतराम ने रविषेणाचार्य के जैन पद्मपुराण का हिंदी मे अनुवाद किया था। इनकी भाषा रामप्रसाद निरजनी की लिखी बताई जाने वाली भाषा के समान व्यवस्थित और परिमार्जित नही है। वह ब्रजभाषा गद्य से एकदम मुक्त नही हो पाई है, परतु उससे इतना तो निश्चित हो ही जाता है कि उन दिनो खड़ी बोली में हिंदी के बहुत सुन्दर गद्य-ग्रथ लिखे जाते थे।

खडी बोली का प्रचार

उन्नीसवी शताब्दी के प्रारभिक वर्षो मे वास्तविक रूप मे हिंदी गद्य का सूत्रपात हुआ। इस समय तक साहित्य में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य था और उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक, और कुछ और बाद तक भी, कई पुस्तको की टीकाएँ ब्रजभाषा के गद्य में लिखी गईं। परंतु खड़ी बोली

में लिखा जानेवाला गद्य ही अंत तक साहित्य का महत्वपूर्ण और प्रभावशाली वाहन बना। इन्ही दिनो

हिंदी गद्य का सूत्रपात

अंग्रेजो के प्रयत्न से कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई, और अंग्रेज अफसरो ने गंभीरता पूर्वक इस देश की भाषाओं का अध्ययन का प्रयत्न किया। इस कालेज के हिंदी-उर्दू अध्यापक सर जान गिलक्राइस्ट ने हिंदी और उर्दू में पुस्तकें लिखाने का प्रयत्न किया। इन्होने कई मुंशियो की नियुक्ति की। सर जान गिलक्राइस्ट प्रधान रूप से हिंदुस्तानी या उर्दू के पक्षपाती थे, परंतु वे जानते थे कि उस भाषा की आधारभूत भाषा हिंदवी या हिंदुई थी[1]। इसी 'आधारभूत भाषा' की जानकारी के लिये उन्होने कुछ 'भाषा-मुंशियो' की

१. सर जान गिलक्राइस्ट के मत से हिंदी और हिंदवी में भेद था। उनकी दृष्टि में हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू एक ही अर्थ के द्योतक शब्द है। ब्रजभाखा या हिंदवी हिंदुओं की भाषा है। हिंदुस्तानी का निर्माण हिंदवी या हिंदुओं को बोली के आधार पर ही हुआ था। उसमें फारसी-अरबी के शब्द जोड दिए गए थे। गिलक्राइस्ट हिंदुओं में प्रचलित इस 'हिंदवी' को 'गँवारू' भाषा कहते थे। उन्हें अरबी-फारसी के शब्दों से भरी भाषा को हिंदी कहने में आपत्ति नहीं थी पर उन्हें डर था कि कहीं लोग हिंदी और हिंदवी या हिंदुई को एक ही भाषा न समझ लें, इसलिये उन्होंने यथासभव 'हिंदुस्तानी' शब्द का ही प्रयोग किया। इस भाषा के लेखकों में उन्होंने मीर, दर्द, सौदा आदि के नाम गिनाए थे। यद्यपि वे मानते थे कि हिंदुस्तानी भाषा के पुराने कवियों और लेखकों ने फारसी लिपि का प्रयोग किया है अतएव फारसी लिपि ही हिंदुस्तानी की वास्तविक लिपि है तथापि उन्होंने 'हिंदुस्तानी एनेकडोटस एण्ड टेल्स,' 'दि आर्टिकल्स आफ वार', 'दि ओरिएण्टल लिंग्विस्ट' (१७९८ ई०) आदि पुस्तकें रोमन लिपि में ही प्रकाशित कराई। सन् १८०२ में रोमन लिपि में प्रकाशित 'ओरिएण्टल लिंग्विस्ट' की भाषा इस प्रकार की थी—

"बाद अजान काजी मुफ्ती से पूछा, कहो अब इसकी क्या सजा है। उन्होंने अर्ज की कि अगर ईश्वरत के वास्ते ऐसा सख्श कत्ल किया जावे तो दुरुस्त है। तब

सहायता प्राप्त की । कुछ हिंदी इतिहासकार विद्वानों का विश्वास है कि सर जान गिलक्राइस्ट हिंदी को उर्दू से भिन्न स्वतंत्र और शिष्ट भाषा मानते थे। परंतु यह भ्रम ही है। वे उर्दू को ही शिष्ट भाषा समझते थे। हिंदुई या हिंदवी को इस शिष्ट भाषा की आधारभूत भाषा मानने के कारण ही वे इस 'गँवारू' भाषा की पढ़ाई की व्यवस्था के लिये चिंतित हुए थे, इसे शिष्ट भाषा समझ कर नही। 'भाषा-मुंशियों' में श्री लल्लूलालजी और सदल मिश्र नामक दो पंडितो ने हिंदी गद्य मे पुस्तके लिखी। एक और भाषा-मुंशी श्री गंगाप्रसाद शुक्ल थे, जिनकी किसी रचना का पता नही चलता। कालेज की कार्यवाहियो में इनकी सहायता से बने एक कोश 'हिंदी-इंगलिश डिक्शनरी' का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार लल्लूलालजी और सदल मिश्र ने हिंदी गद्य मे पुस्तकें लिखी। परंतु यह नही समझना चाहिए कि फोर्ट विलियम कालेज मे ही हिंदी गद्य का सूत्रपात हुआ।

"उसे क़त्ल किया और उसकी जगह उसके बेटे को सर्फ़राज़ फरमाया।" इत्यादि। विलियम बटरवर्थ बेली जो दो-तीन महीने के लिये सन् १८२८ में स्थानापन्न गवर्नर के पद पर थे, सर जान गिलक्राइस्ट के विद्यार्थी थे। फोर्ट विलियम कालेज के विद्यार्थियों के लिखे निबंध-संग्रह ('एसेज एण्ड थीसिस कम्पोज्ड, १८०४ ई०) में उनका एक थीसिस है। इसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"जो यिह बात साहिब फ़िक्र पर अयां है कि किसी मुल्क वलों में अगर्चे बहुत देसी भाखा बल्कि शाज़ी ज़बानें मुतालक़ भी बोलने में आती हैं तो भी दरबारी और दारुस्सल्तनत की ज़बान लाक़लाम फ़ाइदे में औरों पर तर्जीह रखती है।" इत्यादि।

स्पष्ट है कि फोर्ट विलियम कालेज के भाषा विभाग के संचालक और निरीक्षक सर जान गिलक्राइस्ट नागरी लिपि और शुद्ध हिंदी के पक्षपाती नहीं थे। फिर भी उन्होंने भाषा-मुंशियों की नियुक्ति की जो यह सिद्ध करता है कि देश में शुद्ध हिंदी का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में था और गिलक्राइस्ट के लिये उसकी उपेक्षा संभव नहीं थी।

हमने ऊपर देखा है कि इस कालेज की स्थापना के बहुत पूर्व सुंदर और व्यवस्थित गद्य लिखा जाने लगा था।

फोर्ट विलियम कालेज का हाथ कितना था

जिन दिनो सर जान गिलक्राइस्ट लल्लूलालजी और सदल मिश्र से पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था कर रहे थे, उसके थोड़ा पूर्व दिल्लीनिवासी मुंशी सदासुखलाल जी ने बहुत ही सुंदर भाषा में भागवत की कथा का 'सुखसागर' नाम से भाषातर किया और लखनऊ के मुशी इंशाअल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' नाम से एक ऐंसी कथा लिखी थी, जिसमे अरबी फारसी के शब्दों को हटाकर शुद्ध हिंदी लिखने का प्रयास था। कालेज जिन दिनो नये साहित्य के निर्माण की ओर दत्तचित्त था, उन दिनो निश्चित रूप से खड़ी बोली शिष्ट जन के व्यवहार की भाषा हो चली थी। सुप्रसिद्ध राजा राममोहन राय के लिखे एक पैम्फलेट से पता चलता है कि यह भाषा उन दिनों शास्त्रार्थ-विचार के लिये भी व्यवहृत होने लगी थी। यह पैम्फलेट सन् १८१६ ई० मे छपकर प्रकाशित हुआ था। इसलिये यह समझना ठीक नही है कि फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियो की प्रेरणा से ही आधुनिक हिंदी गद्य का निर्माण हुआ। डा० लक्ष्मीसागर जी वार्ष्णेय फोर्ट विलियम कालेज की कार्यवाहियो के विवरण के अध्ययन से इस नतीजे पर पहुँचे है कि कालेज की नीति हिंदी के बहुत अनुकूल नही थी। सर गिलक्राइस्ट के बाद इस विभाग में प्राइस की नियुक्ति हुई थी। वे हिंदी के अधिक अनुकूल थे; पर उनके कार्य-काल में भी हिंदी गद्य के निर्माण मे विशेष उन्नति नही हुई। वस्तुत हिंदी गद्य उन दिनो अपनी भीतरी प्राण-शक्ति के बल पर ही आगे बढ़ा।

मुशी सदासुखलाल जी नियाज (१७४६-१८२४) दिल्ली-

मुंशी सदासुखलाल

निवासी थे। ईस्ट इंडिया कपनी की अधीनता मे चुनार में एक अच्छे पद पर कार्य करते थे। ये उर्दू और फारसी के अच्छे लेखक और सुकवि थे। ६५ वर्ष की अवस्था में सन् १८११ ई० मे नौकरी छोड़कर प्रयाग चले आए, और भगवान् का भजन करने लगे। सन् १८२४ ई० मे इनका स्वर्गवास हुआ। इनकी भाषा कुछ निखरी हुई और सुव्यवस्थित है। तत्काल प्रचलित पंडिताऊ प्रयोग इनमें मिल जाते है। परतु यह सस्कृत-मिश्रित भाषा ही उन दिनो हिंदुओ की शिष्ट-जन-व्यवहृत भाषा थी, इसमे सदेह नही। सुखसागर के अतिरिक्त एक और भी पुस्तक मुंशी जी ने लिखी थी परतु उसका अधूरा रूप ही उपलब्ध है। सदा-सुखलाल जी की भाषा मे सहज प्रवाह है, वह किसी के निर्देश पर और किसी खास प्रकार की भाषा के निर्माण के उद्देश्य से नही लिखी गई है, इसीलिये उसमें स्वाभाविकता और स्पष्टता है।[1]

मुंशी इशाअल्ला खा

परंतु मुंशी इशाअल्ला खाँ (मृत्यु १८१८) की लिखी पुस्तक 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' में यह सहज भाव नही है। मुंशी इशाअल्ला खाँ का उद्देश्य ऐसी भाषा लिखने का था, जिसमे "हिंदी छुट और किसी बोली का पुट" न हो। वे "भाखापन" अर्थात् सस्कृत-मिश्रित हिंदी से भी बचना चाहते थे। फिर भी उनकी इच्छा थी कि—

१—मुंशी जी की भाषा का नमूना—"विद्या इस हेतु पढते है कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढते है कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइए फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए।

"जैसे भले लोग—अच्छो से अच्छे—आपस में बोलते-चालते हैं, ज्यो-का-त्यो उसी का डौल रहे, और छाँव किसी की न हो।" इस प्रकार उनके प्रयत्न में एक आयास था, उन्होने भरसक सस्कृत से और अरबी-फारसी के शब्दो से भी बचने का प्रयत्न किया है। उनकी वाक्य-रचना शैली में उर्दू-फारसी शैली का प्रभाव है। एक प्रकार का यत्न-साधित प्रभाव सर्वत्र है, जिसके कारण भाषा मे सहज प्रवाह नही आ पाया है। आगे चलकर यह भाषागत आदर्श मान्य नही हुआ। इस प्रकार फोर्ट विलियम कालेज की सीमा के बाहर दो सुलेखको ने स्वेच्छा से जिन गद्य-शैलियो की नीव डाली उनमे मुंशी सदासुखलाल जी की शैली भविष्य में अधिक ग्रहण योग्य सिद्ध हुई।

लल्लूलाल जी

फोर्ट विलियम कालेज से सबद्ध लल्लूलालजी ने भागवत की कथा के आधार पर लिखे गए एक ब्रजभाषा काव्य के आधार पर 'प्रेमसागर' नामक ग्रथ लिखा, जिसकी भाषा मे ब्रजभाषा का प्रभाव है। विदेशी भाषा के शब्द इसमे आ गए है, पर प्रयत्न उनसे बचने का ही है। इस ब्रजरजित खड़ी बोली में भी वह सहज प्रवाह नही है, जो सदासुखलाल की भाषा मे है। एक अग्रेज अफसर ने, जिसे प्रेमसागर पढकर हिंदी पढने का अवसर मिला था, इस पुस्तक के बारे मे लिखा था कि ऐसी 'थका देनेवाली भाषा' उसने कही नही देखी।

प० सदल मिश्र

परंतु पं० सदल मिश्र की भाषा अधिक व्यवहारिक और सुथरी है। पडित जी आरा (बिहार) के निवासी थे, इसलिये स्वभावत: उनकी भाषा मे पूरबी प्रयोग मिलते है। फिर भी उनकी भाषा में अधिक प्रवाह है; और वह परवर्ती साहित्य भाषा का अच्छा मार्गदर्शक कही जा सकती है। कालेज की कार्यवाहियो से

पता लगता है कि सदल मिश्र ने एक और संस्कृत ग्रंथ का हिंदी भाषा में अनुवाद किया था, पर उस पुस्तक का कही पता नही चलता ।

यद्यपि पं० सदल मिश्र की भाषा अधिक व्यवस्थित, अधिक साफ और अधिक चुस्त है तथापि फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियो को वह बहुत पसंद नही थी । उनकी लिखी भाषा का कालेज में विशेष सम्मान नही हुआ । आगे चलकर भी लल्लूलाल जी के प्रेमसागर को जितना गौरव दिया गया, उतना सदल मिश्र की किसी रचना को नही दिया गया । परंतु सदल मिश्र की भाषा मे भावी खड़ी हिंदी का मार्जित रूप स्पष्ट हुआ है । आगे चलकर साहित्य मे जो भाषा गृहीत हुई उसका गठन बहुत-कुछ सदल मिश्र की भाषा के आदर्श पर हुआ । धीरे-धीरे हिंदी गद्य ने ब्रजरंजित प्रयोगो को छोड़ दिया और लल्लूलाल जी की शैली साहित्य मे गृहीत नही हो सकी । मुंशी सदासुखलाल की भाषा में भी ब्रजरंजित प्रयोग हैं परतु उसमे भी यथासंभव ब्रजभाषा के प्रयोगो से बचने का ही प्रयत्न है । मुंशी जी और सदल मिश्र जी की भाषा का रूप ही कट-छँट कर और साफ-सुथरा होकर हिंदी साहित्य का वाहन बना ।

(२) परिमार्जित भाषा और साहित्य का आरम्भ

परिमार्जित भाषा का सूत्रपात

सन् १८१५ ई० में एन० बी० एडमास्टन ने तथा कुछ उच्च पदस्थ अन्य अंग्रेज कर्मचारियो ने फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों का ध्यान भाषा संबंधी गडबड़ी की ओर आकृष्ट किया था । इन सबके परिणामस्वरूप सन् १८२४ ई० मे कालेज के पाठ्यक्रम में हिंदी को विशेष स्थान दिया गया, और तुलसी-रामायण पाठ्-पुस्तको मे शामिल कर

ली गई। परंतु फिर भी कालेज की ओर से हिंदी को विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला। सन् १८५४ मे तो कालेज ही तोड दिया गया। सन् १८२३ मे आगरा कालेज की स्थापना हुई और उसमें हिंदी-शिक्षा की व्यवस्था की गई। इससे पूर्व सन् १८१७ ई० में 'कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी' की स्थापना हो चुकी थी और सन् १८३३ ई० में आगरा बुक स्कूल सोसायटी की स्थापना हुई। इन संस्थाओं ने अच्छे-अच्छे पाठ्य-ग्रथ प्रस्तुत कराए। इन पाठ्य-ग्रथो में भाषा अधिक परिमार्जित और व्यवस्थित हुई, और उसमें अनेक नये विषयो के अभिव्यक्त करने की क्षमता आई। ग्रह-मंडल का संक्षेप वर्णन, पदार्थ-विद्यासार, रेखागणित आदि पाठ्य-पुस्तकें विपय और भाषा दोनो ही दृष्टि से नवीन थी। यद्यपि इन पुस्तको मे जो भाषा प्रयुक्त हुई थी, वह परवर्ती काल में प्रयोग होनेवाली भाषा की अपेक्षा शिथिल थी, तथापि वह भाव प्रकाशन के उपयुक्त थी।

हिंदी भाषा को आधुनिक रूप देने में ईसाई मिशनरियो का महत्त्वपूर्ण हाथ है। सन् १७९९ ई० में कलकत्ते के

ईसाई मिशनरियो की सहायता

निकटस्थ श्रीरामपुर मे विलियम कैरे, मार्शमैन और वार्ड ने डैनिश मिशन की स्थापना की थी, और उसी समय से ईसाई धर्म-पुस्तको का अनुवाद भिन्न-भिन्न भारतीय भषाओ में होने लगा। बाइबिल का प्रथम अनुवाद कैरे का किया ही कहा जाता है। वार्ड तीक्ष्ण दृष्टि सपन्न विद्वान् थे। उन्होंने समूचे भारतवर्ष को घूम-घूम कर देखा था, और तत्कालीन हिंदू समाज को अच्छी तरह समझने का प्रयत्न किया था। उनकी 'हिंदूज' नाम की पुस्तक उन दिनो के हिंदू समाज के सभी पहलुओ पर बहुत अच्छा प्रकाश डालती है। मार्शमैन भी अत्यंत सुयोग्य विद्वान् थे। इन्होने केवल ईसाई मत के

धर्मग्रथो का ही हिंदी रूपातर नही प्रकाशित कराया, बल्कि वे ज्ञान-विज्ञान की अन्य शाखाओं पर भी पुस्तक लिखते-लिखाते रहे। पं० रतनलाल नामक एक लेखक ने इनकी इतिहास की एक पुस्तक का 'कथासार' नाम से अनुवाद किया था। इन ईसाई मिशनरियो का प्रधान उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना था। यह कार्य उन्होने बडी लगन, तत्परता और सूझ-बूझ के साथ किया। उन्होने सबसे पहले देश की जनता को समझने का प्रयत्न किया। इनके कई प्रचारक सचमुच ही महाप्राण व्यक्ति थे। उन्होने देश की विभिन्न भाषाओ का अध्ययन किया, उनकी लिपियो के लिये टाइप ढलवाए, देश के विभिन्न भागो मे स्कूल, कालेज, चिकित्सालय आदि लोकोपकारी सस्थाओ की स्थापना की, और इस प्रकार देश की जनता को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। परतु फिर भी साधारण जनता उन्हे शका की दृष्टि से देखती रही। इसका कारण था, कि वे विदेशी शासक को जाति के थे, और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय समाज-व्यवस्था के विरोधी रूप मे जनता के सामने उपस्थित हुए। दूसरे, इस देश की जनता में धार्मिक स्वाभिमान की मात्रा बहुत अधिक थी, और ईसाई मिशनरियो की चेष्टाएँ साधारण जनता की दृष्टि मे भारतीय सस्कृति की विरोधी ही सिद्ध हुई, इसीलिये ईसाई पादरियो ने जो कुछ किया वह शका की दृष्टि से देखा गया।

परंतु देश मे नवीन युग का आरंभ हो गया था, यह यूरोपियन संपर्क का फल था। इग्लैंड और यूरोप के अन्यान्य देशो में एक नवीन वैज्ञानिक युग का आरंभ हो गया था, और वहाँ की जनता के विचारो में जबरदस्त परिवर्तन होने लगे थे। जो अग्रेज इस देश में शासन करने के उद्देश्य से आए थे,

नवीन सपर्क का परिणाम

उनमें कई बहुत बड़े मनस्वी और उदात्त विचारों के मनुष्य थे। उन्होंने इस देश में भी सामाजिक सुधार का कार्य करना चाहा, लेकिन ईस्ट इंडिया कंपनी के नीतिनिर्धारक लोग बहुत फूँक-फूँक कर कदम रखना चाहते थे, वे ऐसा कोई कार्य नही करना चाहते थे, जिससे इस देश की जनता बिगड़ उठे। उन्होने अपने कर्मचारियो को ऐसे सब कार्यों से अलग रखने की नीति स्वीकार की थी, जिनसे देश की जनता में किसी प्रकार का संदेह का भाव उत्पन्न हो। वे ईसाई धर्म के प्रचार के विरुद्ध थे। बहुत दबाव में पड़कर ही उन्हें ईसाई धर्म-प्रचारको को स्वाधीनतापूर्वक कार्य करने की आज्ञा देनी पड़ी। सन् १८१३ ई० मे विल्बरफोर्स एक्ट पास हुआ और फलस्वरूप ईसाई मिशनरियो में अधिक उत्साह के साथ कार्य करना आरंभ किया। सन् १८३२ ई० तक श्रीरामपुर के मिशनरियों ने इस देश की चालीस भाषाओ में अपने धर्मग्रथ प्रकाशित किए। इन भाषाओं में बघेली, छत्तीसगढ़ी, कनौजी, भोजपुरी जैसी उपभाषाएँ भी थी।

हिंदी पत्रकारिता का जन्म

१६ फरवरी सन् १८२६ ई० को पंडित युगलकिशोर शुक्ल ने 'उदन्त मार्तण्ड' नामक पत्र निकालने की अनुमति के लिये प्रार्थना की, और ३० मई सन् १८२६ ई० को 'उदन्त-मार्तण्ड' की पहली संख्या कलकत्ते से प्रकाशित हुई। इसी को हिंदी का पहला पत्र माना जाता है। यह पत्र साप्ताहिक था। 'उदन्त-मार्तण्ड' नवयुग के आगमन की सूचना लेकर आया, उस समय हिंदी पाठको की संख्या बहुत कम थी। लगभग डेढ़ वर्ष निकल कर ४ दिसम्बर सन् १८२७ ई० को यह पत्र बंद हो गया। हिंदी का दूसरा पत्र 'बंग-दूत' माना जाता है, जो ९ मई १८२९ ई० को कलकत्ते से ही निकला। यह चार भाषाओ में निकला था—अंग्रेजी, बंगला, हिंदी और फ़ारसी।

इसके स्वत्वाधिकारियों मे राजा राममोहन राय, प्रिंस द्वारिकानाथ ठाकुर और प्रसन्नकुमार ठाकुर इत्यादि थे। इसके बाद कलकत्ते से सन् १८३४ ई० मे संभवत: एक तीसरा हिंदी पत्र भी निकला जिसका नाम 'प्रजा-मित्र' था। ये सभी हिंदी पत्र कलकत्ते से ही निकलते थे, जो मूल हिंदी-भाषी क्षेत्र से बाहर था। हिंदी-भाषी प्रदेश में सबसे पहले १८४४ ई० में राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद का 'बनारस' पत्र निकला, जिसके संपादक तारामोहन मित्र नाम के बंगाली विद्वान् थे। इसके बाद १४४६ ई० मे मौलवी नासिरुद्दीन के संपादकत्व मे 'मार्तण्ड' नामक एक और पत्र प्रकाशित हुआ। इसमें भी हिंदी, उर्दू, बंगला, अंग्रेजी और फारसी, इन पाँच भाषाओं का प्रयोग होता था। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे हिंदी पत्रकार-कला का जन्म हुआ, और यद्यपि वह विशेष बल प्राप्त नही कर सकी तथापि उसमे नवीन युग के विचारों की शक्ति आ गई थी।

यद्यपि शुरू-शुरू में कंपनी सरकार की इच्छा अंग्रेजी भाषा के प्रचार की नही थी, तथापि आगे चलकर उसे इसी भाषा का प्रचार करना पड़ा। सन् १८१३ ई० मे एक एक्ट मंजूर किया गया था, जिसके अनुसार फारसी और संस्कृत शिक्षा-प्रणाली को प्रोत्साहन दिया गया था। राजा राममोहन राय इस एक्ट के विरुद्ध थे, वे देश मे नये ढंग की शिक्षा-प्रणाली प्रचलित करना चाहते थे। उनका विश्वास था कि पुराने ढर्रे की पढ़ाई यदि जारी रही तो देश में किसी प्रकार का सामाजिक सुधार नही हो सकेगा। नये ढंग की शिक्षा के प्रवर्तन के उद्देश्य से डेविड हेयर नामक प्रसिद्ध शिक्षा-विशारद के सहयोग से राजा राममोहन राय ने एक स्कूल की स्थापना की थी, और सन् १८३० में अलेक्जेंडर डफ ने उच्च शिक्षा देने के

नई शिक्षा का सूत्रपात

अभिप्राय से एक अंग्रेजी कालेज की स्थापना की। उस समय तक कंपनी सरकार इस नवीन शिक्षा-प्रणाली के पक्ष मे नही थी। सन् १८१३ ई० मे इगलेंड की पार्लियामेंट ने ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के लिये प्रथम बार एक लाख रुपये की मजूरी दी थी। वह रुपया सस्कृत और फारसी की पढाई पर ही खर्च किया गया। भारत सरकार के कानून सदस्य लार्ड मेकाले से सन् १८३४ ई० मे इन रुपयो के बारे मे राय माँगी गई थी। लार्ड मेकाले ने पार्लियामेंट को लिखा कि जो रुपया ज्ञान-विज्ञान के लिये दिया गया था, वह संस्कृत और फारसी की पिछडी हुई शिक्षा-प्रणाली पर व्यय करके नष्ट कर दिया गया। उनके इस पत्र का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा, और तत्कालीन भारत सरकार की शिक्षा-विषयक नीति में आमूल परिवर्तन हो गया। इस परिवर्तन के मूल मे मेकाले की यह इच्छा थी कि भारतीय शिक्षित समाज भी अग्रेजो की भाँति ही सोचने समझने लगे। उनकी इच्छा फलवती हुई। आज तक भारतवर्ष का शिक्षित समाज उसी महिमामयी इच्छा का शिकार बना हुआ है। भारतवर्ष के पिछले सौ-सवा-सौ वर्षों का साहित्य इस नवीन परिवर्तित नीति से प्रभावित रहा है। सन् १८३५ ई० मे सरकार ने अग्रेजी भाषा के माध्यम से नये ढग की शिक्षा देने का आयोजन किया, और सन् १८४४ ई० में लार्ड हार्डिज की वह महत्त्वपूर्ण घोषणा प्रकाशित हुई, जिसके अनुसार सरकारी नौकरियो के योग्य वही समझे जाने लगे जिन्हे अग्रेजी शिक्षा मिली हो।

इस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे नवीन शिक्षा-प्रणाली का जन्म हुआ, और उसकी जड़े मजबूत हुई। यही से अग्रेजी भाषा ने इस देश की अपनी भाषाओ का स्थान दखल किया, और धीरे-धीरे शिक्षित जनता के चित्त में इस प्रकार जड़ जमाकर बैठी, कि उससे आज तक देशी भाषाओं

का पिंड नही छूट सका है। सन् १८५३ मे ईस्ट इंडिया कंपनी को एक नया चार्टर मिला, और नई शिक्षा-पद्धति के गुण-दोषो को परखने का अवसर मिला। सन् १८५४ में सर चार्ल्स वुड ने शिक्षा-प्रसार की एक नई योजना बनाई जिसके अनुसार हर जिले में कम-से-कम एक हाई स्कूल और गाँव-गाँव में पाठशाला खोलने की नीति अपनाई गई थी। सर चार्ल्स वुड देशी भाषाओ के विरोधी नही थे। वे देशी भाषाओ को प्रोत्साहन देने के पक्ष में थे, लेकिन उनकी नीति चली नही, और सन् १८५७ ई० मे सारी भारतीय जनता विदेशी शासन नीति से ऊवकर विद्रोह कर बैठी।

नवीन शिक्षा का प्रचार और विद्रोह

उन्नीसवी शताव्दी के प्रारभ मे ईसाई प्रचारको ने वड़े उत्साह से अपना धर्म-प्रचार शुरू किया था। आधुनिक शिक्षा प्राप्त युवक धीरे-धीरे ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट होने लगे। वगाल मे इसकी वड़ी जवरदस्त प्रतिक्रिया हुई, और सन् १८२८ ई० मे इन्ही प्रतिक्रियाओ के फलस्वरूप कलकत्ते मे व्राह्मसमाज की स्थापना हुई। इन दिनो देश के विभिन्न भागो में ईसाई धर्म की प्रतिनिधि सस्थाएँ अलग-अलग काम कर रही थी। परंतु बाद में इन्होने सामूहिक रूप से ईसाई धर्म का प्रचार आरभ किया। इन मिशनरी सस्थाओ ने नये ढंग के अनेक विद्यालय स्थापित किए, और देशी भाषाओ मे नाना विषयो के पाठ्य-ग्रंथ भी प्रस्तुत किए। इनके विद्यालयो में वाइविल का पठन अनिवार्य था। एक तरफ तो अग्रेजो का देशी राज्यो पर अनुचित अधिकार और दूसरी तरफ ईसाई धर्म का इस प्रकार सोत्साह प्रचार, इन दोनो बातो ने भारतीय जनता को सशंक कर दिया, और शुभ बुद्धि से किए जाने वाले सुधारो के प्रति भी उनके चित्त में सदेह उत्पन्न कर दिया। इसका विस्फोट सन् १८५७ ई० के विद्रोह

के रूप में हुआ था। इस विद्रोह की प्रेरणा किसी बड़े लक्ष्य से नहीं प्राप्त हुई थी, इसीलिये इसका परिणाम भी किसी बड़े फल के रूप मे नही प्रकट हुआ। वह केवल भारतीय जनता के विक्षोभ को प्रकट करके समाप्त हो गया।

नवीन युग का जन्म काल

यह केवल राजनैतिक सघर्ष का काल नही था, केवल सामाजिक शक्तियो के एक दूसरे से टकराने का भी समय नही था, बल्कि एक नवीन युग के जन्म लेने का समय था। यहाँ से हमारा देश नई मोड़ पर आकर खड़ा हो गया, और उसके साथ ही साथ देश की साहित्यिक चेतना भी नवीन दिशा की ओर मुड़ी। प्राचीन भारतीय संस्कार तब भी प्रबल रूप से वर्तमान थे, परंतु वे भी बिल्कुल नई दिशा में मुँह करके खडे हो गए। यहाँ से शिक्षित समुदाय में एक नये दृष्टिकोण की सभावना उत्पन्न हुई। मनुष्य के सामाजिक संबंधों और अंतरवैयक्तिक सबधो के मान में परिवर्तन होने लगा, और क्रमश. पुराने सस्कारो से मुक्त नवीन दृष्टि उत्पन्न हुई जिसने राजनैतिक, साहित्यिक, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रो में नई हलचल पैदा कर दी। वैज्ञानिक मनोभाव इंगलैंड मे जड़ जमाता जा रहा था, और उसकी लहरें भारतवर्ष के वायुमंडल को भी तरंगित कर रही थी। सन् १८६९ ई० में स्वेज नहर के खुल जाने से इंगलेंड और भारत की भौगोलिक दूरी कम हो गई। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार से दोनों देशों की मानसिक दूरी भी कम होने लगी। कपनी की सरकार ने सन् १८४४ ई० से १८५६ ई० तक देश के दूर-दूर भाग रेल और तार से संबद्ध कर दिए। रेल तो सन् सत्तावन के विद्रोह का प्रमुख कारण थी और तार उस विद्रोह के दबाने का सफल अस्त्र साबित हुआ। अंग्रेज जैसी जीवित जाति के

संपर्क में आने से जनता के चित्त में आलोड़न शुरू हुआ, और जब विद्रोह के बाद शासन का भार ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से निकलकर इंगलैंड की रानी के हाथ में आ गया, तो देश के शांत वातावरण में विचारशील लोगो को अंग्रेज जाति के गुण समझने का अवसर मिला। प्रधान रूप से इसी समय उनका अपनी सामाजिक कुरीतियो, धार्मिक कुसंगतियों और साहित्यिक त्रुटियो की ओर ध्यान गया। ईसाई धर्म के प्रचारक हिंदू धर्म की तीव्र और कटु आलोचना कर रहे थे। इससे जहाँ एक ओर लोगो के चित्त में क्षोभ हो रहा था, वहाँ दूसरी ओर अपनी कमजोरियो का ज्ञान भी हो रहा था। ईसाई धर्म-प्रचारको ने सती-दाह, कन्या-वध आदि अनेक कुप्रथाओं का विरोध किया था, और कानून बनाकर उनका उच्छेद करा दिया था। इस तरह वे हिंदू समाज का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से हित कर रहे थे। उनके खंडनो और कटाक्षों से शिक्षित हिंदू अपने समाज और धर्म के विषय में सोचने को बाध्य हुए।

सन् १८३६ ई० तक सरकारी दफ्तरो की भाषा फारसी थी, सन् १८३७ ई० से वह फारसी, बहुल उर्दू हो गई। धीरे-

हिंदी की उपेक्षा और उसकी भीतरी शक्ति

धीरे अदालतो से नागरी अक्षरो का बहिष्कार हो गया। हिंदुओ के लिये भी जीवकोपार्जन की दृष्टि से उर्दू लिपि का ज्ञान आवश्यक हो गया। हिंदी के लिये और नागरी अक्षरों के लिये यह बड़े संकट का काल था। यह केवल हिंदी प्रचार का बाधक ही नही हुआ, बल्कि हिंदी लिखने और बोलने वालों के मन में हीनता ग्रंथि पैदा करने का कारण भी हुआ। सरकारी अफसर उत्तरोत्तर हिंदी से अनभिज्ञ और उर्दू से परिचित होते गए। केवल हिंदी जाननेवालों की दशा शोचनीय होती गई। परिणाम यह हुआ कि

आगे चलकर जब कभी हिंदी की पढाई की बात उठी तब उसको अविकसित भाषा कहकर उसकी उपेक्षा की गई। शिक्षित हिंदुओ तक ने उसका विरोध किया। देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा को कही से कोई उल्लेख योग्य प्रोत्साहन नही मिला। परन्तु समस्त विरोधो और उपेक्षाओं को पददलित करके केवल अपनी भीतरी प्राण-शक्ति के बल पर यह भाषा दिनो-दिन बढती गई।

ऊपर के सक्षिप्त इतिहास से स्पष्ट है कि उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आधुनिक हिंदी गद्य का जन्म हुआ और जन्म के साथ-ही-साथ सरकार की ओर से उसकी उपेक्षा शुरू हुई। सरकारी उपेक्षा ने बीच-बीच मे विरोध का भी रूप ग्रहण किया। किन्तु हिंदी जनता की भाषा थी, उसके बिना सरकार का काम नही चल सकता था। उसे बराबर जनता का सहारा मिलता रहा। हिंदी मे समाचार पत्र जनता के प्रतिनिधियो ने निकाले। पाठ्य-पुस्तके भी सरकार की ओर से प्रकाशित नही हुई। अदालतो में हिंदी को स्थान नही मिला। शिक्षा का माध्यम भी हिंदी नही बनी। सरकार की ओर से कभी-कभी यह अनुभव तो अवश्य किया गया कि हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि को उचित स्थान मिलना चाहिए[1] परन्तु साहस और सौमनस्य के साथ वह कभी हिंदी के उचित दावे को मानने को प्रस्तुत नही हुई। हिंदी का विकास उसकी अपनी भीतरी शक्ति के बल पर ही हुआ है।

१. सन् १८५० ई० में प्रकाशित एक इश्तिहार की भाषा इसका सबूत मिल जाता है। "यह इश्तिहार सब लोग को प्रसिद्ध हूजियो। नकशे जिलों के जिनके नाम किनारे पर लिखे जाते है सितम्बर महीने में नागरी और फारसी अक्षरों में कागज श्रीरामपुर में छपकर हरेक जिले में मदरसे के जिले वजीटर के पास छपने को भेजे जायेंगे। ये नकशे रंगीन होंगे और इनमें शहर और कसबे और गाव की आबादी राह नदिया थाने चौकिया सब लिखी जायेंगी। अभी कुछ मोल निश्चय नहीं हुआ ...।" इत्यादि।

यद्यपि सरकार की नीति हिंदी के अनुकूल नही थी, तथापि वह उसकी एकदम उपेक्षा भी नही कर सकती थी। उसे स्कूल के पाठ्यक्रम मे हिंदी को स्थान देना पड़ा। परंतु उसे न तो अदालतों मे स्थान प्राप्त हुआ, न शासन के अन्यान्य क्षेत्रों मे। रामायण, प्रेमसागर आदि कुछ पुस्तकें पाठ्यक्रम में रख अवश्य दी गई, परंतु इस बात का कोई प्रयत्न नही किया गया, कि इस विषय मे ज्ञान-विज्ञान की अनेक पुस्तके छापी जाएँ। ऐसे ही समय में राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद (१८२३ से १८९५ ई० तक) शिक्षा विभाग मे आए। वे देवनागरी लिपि के पक्षपाती थे, परंतु खुलकर फारसी लिपि का विरोध नही कर सकते थे। सरकारी नौकर होने के कारण वे सरकार की भाषा-विषयक नीति का खुल्लमखुल्ला विरोध नही कर सकते थे। वे शुद्ध सस्कृत-मिश्रित हिंदी लिख सकते थे। उनकी कई पुस्तकें 'मानव धर्म सार', 'योगवाशिष्ठ के चुने हुए श्लोक', 'उपनिषद् सार', 'भूगोल हस्तामलक', 'वामा मन रंजन', 'आलसियों का कोड़ा', 'विद्यांकुर', 'राजा भोज का सपना' और 'वर्णमाला' आदि बहुत शुद्ध और संस्कृत-मिश्रित हिंदी में लिखी गई है। वे लल्लूलालजी की भाषा को पिछड़ी भाषा मानते थे, परतु उनकी शुरू-शुरू की लिखी हुई भाषा में 'सेवते', 'आवते', 'बिताय' जैसे प्रयोग मिल जाते है। किन्तु फिर भी उनकी भाषा अधिक साफ और सुलझी हुई है। वे क्रमश. अरबी-फारसी से मिश्रित उर्दू भाषा की ओर झुकते गए, और उनकी कई पुस्तको की भाषा विशुद्ध उर्दू हो गई। उर्दू को वे 'हमारे मुल्क की मुख्य भाषा' मानते थे, और उसका महत्त्व उनकी दृष्टि से इसलिये बढ गया था, कि 'कचहरियो के सारे कागज पत्र इसी के दरम्यान लिखे जाते हैं।' सन्

राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद

१८६४ में उन्होंने 'इतिहास तिमिर नाशक' नामक इतिहास-ग्रंथ लिखा था। इसका नाम तो विशुद्ध संस्कृत का है, परतु भाषा अरबी-फारसी मिश्रित उर्दू है। स्थान-स्थान पर उसमें संस्कृत के शब्द भी आए हैं, लेकिन फिर भी यह भाषा प्रधान रूप से अरबी-फारसी-बहुल उर्दू भाषा के पास ही पहुँचती है। 'इतिहास तिमिर नाशक' की भाषा में हिंदी और उर्दू को निकट लाने का प्रयत्न भी है; कभी-कभी उसकी भाषा विशुद्ध हिंदी के निकट पहुँच जाती है। एक जगह लिखते हैं. "बहुतेरे गोबर गणेश समझते हैं, कि जिस तरह हिंदू और मुसलमान चढकर गिरे, उसी तरह किसी दिन अंग्रेज भी गिर जायेंगे। पर यह उनकी बडी भूल है। अंग्रेज तभी गिर सकते हैं. उनमें फूट पैदा हो। सो यह उनकी विद्या और उनके मत दोनो के विरुद्ध है। फूट और बैर इसी देश की मेवा है। ईसाइयो के ठंडे मुल्क मे इसका अकुर नही जमता।" इस प्रकार की भाषा मे जो स्पष्टता और प्रवाह है, वह 'इतिहास तिमिर नाशक' मे सर्वत्र नही मिलता। अधिकाश स्थलो पर भाषा में अरबी-फारसी शब्द जबरदस्ती ठूँसे गए हैं; जैसे, "तुगलक़ का भाई मशकूर खाँ निहायत हसीन था, बगावत का शुबहा हुआ पूछने पर कि उकूवत और सियासत के डर से झूठा इक़रार कर दिया। बहुतेरे उकूवत और सियासत से मौत को वेहतर समझते है।" बाद में राजा साहब की भाषा क्रमश. ठेठ उर्दू बनती गई। केवल अरबी-फारसी शब्दों की भरमार ही उसमें नही थी, फारसी के ढंग का वाक्य-विन्यास भी उसमे आ गया था। यह भाषा इस प्रकार की थी—"नीचे लिखी शर्तें अहदनामे की जिनका कायम रखना दोनो तरफ वारिश और जानशीनो पर कर्ज होगा, दर्मियान राजा रनजीत सिह और चार्ल्स थियाफिलस मेटकाफ साहिब की मार्फत सरकार अंग्रेजी के अमल में आई।"

इस प्रकार राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद क्रमशः उर्दू की ओर झुकते गए, और अंत तक उनकी भाषा देवनागरी लिपि मे लिखी हुई उर्दू बन गई। शिक्षा-विभाग के कर्मचारी होने के कारण वे अपने अफसरो के विरुद्ध नही जा सकते थे। उनकी क्रमपरिणति सरकारी नीति की क्रमपरिणति की ही कहानी है। राजा साहब जो हिंदी का 'गँवारपन' निकालकर उसे 'फैशनेबुल' बनाना चाहते थे, वह वस्तुत. उस सरकारी नीति की ही प्रतिध्वनि थी, जो हिंदी को गँवारू भाषा और उर्दू को शिष्ट-जन-भाषा समझती थी। हेनरी पिनकाट ने १ जनवरी १८८४ ई० को एक पत्र में भारतेंदु हरिश्चंद्र को लिखा था––"कि बीस वर्ष हुए उसने (राजा शिवप्रसाद ने) सोचा कि अंग्रेजी साहबों को कैसी-कैसी बाते अच्छी लगती है। उन बातो का प्रचलित करना परम चतुर लोगो का धर्म है। इसलिए बड़े चाव से उसने अपनी हिंदी भाषा को भी बिना लाज छोड़कर उर्दू को प्रचलित करने मे बहुत उद्योग किया।" यह पत्र राजा शिवप्रसाद के चरित्र की अपेक्षा सरकारी नीति को अधिक स्पष्ट करता है। इसमें स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है, कि राजा शिवप्रसाद जिस सरकारी नीति को अपने प्रयत्नो के द्वारा सफल बना रहे थे, वह क्या थी।

बनारस, सुधाकर और बुद्धि-प्रकाश

पहले ही बताया गया है, कि राजा शिवप्रसाद के उद्योग से काशी से 'बनारस' नाम का एक अखबार निकाला। राजा साहब इसमें जो भाषा लिखा करते थे, वह 'इतिहास तिमिर नाशक' की भाषा के समान ही उर्दू से मिलती-जुलती भाषा थी। हिंदी के विद्वानो मे इसकी प्रतिक्रिया भी हुई, और फलस्वरूप सन् १८५० ई० में 'सुधाकर' नाम का एक दूसरा पत्र काशी से प्रकाशित हुआ, जिसकी भाषा

अधिक सुलझी हुई, और शुद्ध होती थी। इस पत्र के प्रधान उद्योक्ता बाबू तारामोहन मित्र थे। इसके दो वर्ष बाद आगरे से 'बुद्धि-प्रकाश' दूसरा पत्र निकला, जिसके संपादक कोई मुंशी सदासुखलाल थे। इस पत्र की भाषा बहुत ही सुलझी हुई और साफ होती थी। उस युग को देखते हुए 'बुद्धि-प्रकाश' को सामाजिक दृष्टि से प्रगतिशील पत्र कहा जा सकता है।

राजा शिवप्रसाद की भाषा की प्रतिक्रिया यहीं तक समाप्त नहीं हुई। सुप्रसिद्ध राजा लक्ष्मणसिंह (१८२५ से १८९६ ई० तक) ने स्पष्ट शब्दों में बताया, कि उनके मत मे "हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी है"। उन्होंने यह भी कहा, "कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी फारसी के शब्दों बिना हिंदी न बोली जाय, और न हम जिस भाषा को हिंदी कहते हैं, जिसमे अरबी-फारसी के शब्द भरे हैं।" राजा साहब की भाषा मे तद्भव शब्दों की मात्रा कम नहीं है। यद्यपि वह आरंभिक हिंदी गद्य का ही नमूना है, तथापि उसमे वक्ता और श्रोता के अनुकूल होने की क्षमता है, और हमारी विशाल साहित्यिक परंपरा के अनुकूल है। भाषा में अरबी-फारसी शब्द नहीं के बराबर हैं परंतु वह काव्य की ब्रजभाषा के प्रभाव से एकदम मुक्त नहीं है। राजा साहब ने कालिदास के कई ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद किया है, जिसमें मेघदूत और शकुन्तला के अनुवाद बहुत लोकप्रिय हुए। सन् १८७८ ई० मे उन्होंने रघुवंश का अनुवाद भी प्रकाशित कराया था। स्वभावत राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा काव्य की भाषा है, इसमें राजनीति, तर्कशास्त्र और विज्ञान आदि विषय कठिनाई से आ सकते हैं। वे मानते थे कि साधारण जनता मे विदेशी भाषा के बहुत से शब्द उनके

भाषा के संबंध में प्रतिक्रिया
राजा लक्ष्मणसिंह

संस्कृत अनुवादों की अपेक्षा अधिक प्रचलित है। सन् १८५९ ई० में उन्होंने ह्यूम साहब के साथ एक्ट न० १० का उल्था किया था। इसमें इसी युक्ति के बल पर उन्होंने अदालत, कलक्टर, गवाह आदि शब्दो को उसमें ले लिया था।

इस काल में राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के अतिरिक्त और हिंदी लेखकों ने अनेक प्रकार की रचनाओ से भाषा को गतिशील और भाव-प्रकाशन मे समर्थ बनाया। कितने ही लेखको ने अँग्रेजी से अनुवाद किया, और कितनो ही ने पाठ्य-ग्रथ लिखे। इनमे रामप्रसाद त्रिपाठी, मथुराप्रसाद मिश्र, ब्रजवासीदास, बिहारीलाल चौबे, शिवशंकर, काशीनाथ खत्री, रामप्रसाद दुबे आदि मुख्य है।

सामाजिक और धार्मिक विचारो की दुनियाँ मे क्रान्ति ले आनेवाली सबसे महत्त्वपूर्ण सस्था की स्थापना १८७५ ई० में हुई। इस संस्था का नाम है आर्य-समाज।

आर्य-समाज

आर्य-समाज ने एक ही साथ कई मोर्चों पर धावा बोल दिया। इस सस्था ने अपने महान् सस्थापक स्वामी दयानद के नेतृत्व में रुढिवादी सनातनियो से, हिंदू धर्म पर आक्रमण करने वाले ईसाइयो से, और देश मे फैले हुए अनेक धार्मिक सप्रदायो से एक साथ ही लोहा लिया। इन दिनो शास्त्रार्थो की धूम मच गई। उत्तर-प्रत्युत्तर से, कटाक्षो से और व्यंगो से सामयिक पत्र भरे हुए रहते थे, और हिंदी का भावी गद्य नवीन शक्तियो से सुसज्जित हो रहा था। इन वाद-विवादो ने भाषा को बहुत समृद्ध किया, और प्रौढता प्रदान करने मे बडी सहायता पहुँचाई। प्रथम योरोपियन महायुद्ध तक इस देश की सबसे बड़ी शक्ति इन सामाजिक और धार्मिक आंदोलनो के रूप में प्रकट हुई। यह बहुत बड़ी शक्ति थी। इसने शिक्षा को, साहित्य को और समची सस्कृति को बहुत अधिक प्रभावित

किया। परंतु आर्य-समाज के लिये भूमि पहले से ही प्रस्तुत हो रही थी।

आर्य-समाज का सबसे अधिक प्रभाव पंजाब में था। पंजाब उन दिनो उर्दू का गड था, वहाँ हिंदी की स्थिति बहुत ही नाजुक थी। स्वामी दयानंद और उनके शिष्यो ने उस प्रात में हिंदी और संस्कृत को नवजीवन दिया, और हिंदी-संस्कृत के अध्ययन को बल दिया। उनके पहले ही बाबू नवीनचद्र राय ने हिंदी भाषा और ब्राह्म धर्म का प्रचार पंजाब मे करना चाहा था। उन्होने उर्दू का कसके विरोध किया था। ब्राह्म धर्म नवयुग की चेतना लेकर आविर्भूत हुआ था। किंतु प्रधान रूप से उसका कार्यक्षेत्र बंगाल तक ही सीमित रहा। उसके अधिकाश धर्म-ग्रथ बँगला भाषा में ही प्रचारित हुए थे। इसीलिये उसका प्रभाव-क्षेत्र भी बंगाल से आगे नही बढ़ सका। बाबू नवीनचद्र राय ने अनुभव किया था, कि हिंदी भाषा का आश्रय लेने से ब्राह्म धर्म का संदेश अधिक व्यापक हो सकेगा। ब्राह्म धर्म के संस्थापक राजा राममोहन राय ने भी इस बात का अनुभव किया था, और कई छोटी-मोटी पुस्तकें हिंदी में लिखी थी। सन् १८१६ ई० का लिखा उनका (राजा राममोहनराय का) एक हिंदी पैंफलेट प्राप्त हुआ है और इस बात की सूचना भी प्राप्त होती है, कि एक साल पहले १८१५ ई० में उन्होंने वेदातसूत्र का हिंदी अनुवाद किया था। कलकत्ते से निकलने-वाले हिंदी के समाचार-पत्रो के आद्य उद्योक्ताओ में राजा राममोहन राय भी थे। परवर्ती काल के ब्राह्म नेता इस बात को नहीं समझ सके। परतु बाबू नवीनचंद्र राय इस बात को समझ गए थे। सन् १८६७ ई० के मार्च के महीने में उन्होने बँगला की प्रसिद्ध 'तत्व-बोधिनी' आदर्श पर 'ज्ञान-

बाबू नवीनचद्र राय

प्रदायिनी' पत्रिका निकाली। इस पत्रिका मे धार्मिक और सुधार संबंधी लेखो के अतिरिक्त शिक्षा-विषयक और वैज्ञानिक लेख भी हुआ करते थे। इनका विश्वास था कि "उर्दू के प्रचलित होने से देशवासियो को कोई लाभ नहीं होगा," और "उर्दू में आशिकी कविता के अतिरिक्त और किसी गंभीर विषय को व्यक्त करने की क्षमता नही।" उर्दू के पक्षपातियों से वे बराबर लोहा लेते रहे।

जिन दिनो बाबू नवीनचंद्र पंजाब में इस प्रकार हिंदी का प्रचार कर रहे थे, उन्ही दिनों पं० श्रद्धाराम फुलौरी अपने व्याख्यानों और कथाओ से हिंदू संस्कृति मे नव-जीवन का संचार कर रहे थे। आर्य-समाज के आविर्भाव के पूर्व ही उन्होंने पंजाब में धार्मिक उत्साह और नवीन सामाजिक चेतना का संचार किया था। इन दिनों पढ़े-लिखे लोग ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट हो रहे थे। पं० श्रद्धाराम ने बहुतो को पथ-भ्रष्ट होने से बचाया। प्रसिद्ध है कि कपूरथला के महाराज रणजीतसिंह सन् १८६३ ई० मे जब ईसाई होने जा रहे थे, तब पं० श्रद्धाराम ने ही उनके सब संशय दूर करके उन्हें हिंदू धर्म में प्रतिष्ठित किया। उन्होने 'सत्यामृत-प्रवाह' नाम का एक सिद्धांत-ग्रंथ लिखा था, जिसकी भाषा बहुत साफ और प्रौढ़ है। वे उर्दू में भी लिखते थे, परंतु हिंदी भाषा और हिंदू संस्कृति के पूर्ण पक्षपाती थे। उन्होने 'आत्म-चिकित्सा', 'तत्वदीपक', 'धर्म-रक्षा', 'उपदेश-संग्रह' आदि पुस्तकें लिखी थी; और 'भाग्यवती' नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी प्रकाशित कराया था। यह उपन्यास १८७३ ई० मे प्रकाशित हुआ था। उन दिनों यह उपन्यास पढ़ी-लिखी जनता को बहुत प्रिय हुआ। कहते हैं उन्होंने चौदह सौ पृष्ठो का अपना जीवन-चरित भी लिखा था, पर वह प्राप्त नही होता। पं०

श्रद्धाराम फुलौरी

श्रद्धाराम का गद्य सुलझा हुआ और प्रौढ तो है ही, उसमें कठिन आध्यात्मिक तथ्यो को सरल भाषा मे प्रकट कर देने की पूर्ण क्षमता भी है।

वे पद्य भी लिखते थे, और 'सतोपदेश' नाम से उनका एक दोहा-संग्रह भी छपा था। परतु पद्य में उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। वे अपने युग के शक्तिशाली गद्य लेखक थे। इस प्रकार इन लोगो के प्रयत्न से पंजाब में नवीन युग-चेतना के स्वागत करने योग्य भूमि तैयार हो चुकी थी। आर्य-समाज के पुरस्कर्त्ताओ को यह वनी-वनाई भूमि प्राप्त हुई।

उन्नीसवी शताब्दी के अतिम चरण में आर्य-समाज नवीन सामाजिक चेतना का सवसे वडा पुरस्कर्त्ता था। उसने देश की प्रसुप्त शक्ति को धक्का मारके जगा दिया। आर्य-समाज के प्रचार का ढंग उग्र और चिढानेवाला था। उसके प्रत्युत्तर मे अनेक पुराने संप्रदाय के पंडितो ने पुस्तकें लिखी; और हिंदी का गद्य इस प्रकार वहुमुखी उन्नति करता गया। परंतु इसी समय नवीन राष्ट्रीयता का भी जन्म हो चुका था। सन् १८८५ ई० में 'इडियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना हुई जिसने आगे चलकर भारतीय चिंताधारा को वहुत अधिक प्रभावित किया, और जो क्रमशः सामाजिक सुधार और धार्मिक प्रचार के उत्साह को राजनीतिक आंदोलन के रूप में बदल देने मे समर्थ हुई। बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे भारतवर्ष की साहित्यिक चेतना प्रधान रूप से राष्ट्रीय चेतना के रूप मे प्रकट हुई।

आर्य-समाज की प्रतिक्रिया

(३) भारतेंदु का उदय और प्रभाव

सन् १८५० मे भारतेंदु का जन्म हुआ। ये केवल चौतीस वर्ष और चार महीने जीवित रहे, और माघकृष्ण ६ स० १६४१ सन् १८८५ में इनकी मृत्यु हुई। इतने अल्प-काल में शायद ही किसी अन्य व्यक्ति ने इतना बडा साहित्यिक कार्य किया हो। इनकी अपूर्व प्रतिभा ने भाषा और साहित्य दोनो पर प्रभाव डाला। सिर्फ पंद्रह वर्ष की अवस्था में अपने परिवार के साथ ये जगन्नाथ धाम गए। इस यात्रा में इनका परिचय बगाल के उगते हुए साहित्य से हुआ। उस समय बंगाल नए जीवन-दर्शन से उद्बुद्ध हो चुका था। उसके सामाजिक जीवन में नए ढग की हलचल दिखाई देने लगी थी, और साहित्य के विविध अगो का सर्जन भी होने लगा था। इस नई जागृति को देखकर भारतेंदु बहुत प्रभावित हुए; और हिंदी में नवयुग का आरंभ नही हुआ है, ऐसा अनुभव करने लगे। घर लौटकर केवल सत्रह वर्ष की अवस्था मे उन्होने 'कवि-वचन-सुधा' नाम की एक पत्रिका निकाली। पहले तो इसमें केवल प्राचीन कवियो की कविताएँ छपा करती थी, किंतु बाद में गद्य लेख भी रहने लगे। सन् १८७३ ई० में 'हरिश्चद्र मैगजीन' नाम की दूसरी पत्रिका निकाली। आठ संख्याओ के बाद पत्रिका का नाम बदल कर 'हरिश्चद्र चंद्रिका' कर दिया गया। इस चद्रिका मे हरिश्चद्र की परिमार्जित हिंदी का प्रथम दर्शन हुआ। वे स्वयं मानते थे कि सन् १८७३ ई० से हिंदी नये चाल में ढली।

भारतेंदु
हरिश्चद्र

नई चाल से उनका तात्पर्य यह था कि इस समय उन्होने जिस भाषा की नीव डाली, उसमे किसी प्रकार का बधन नही था, और न किसी प्रकार से कृत्रिम रूप से वह

गढ़ी हुई थी। वस्तुत: भारतेंदु हरिश्चंद्र ने और उनके सहयोगियों ने जिस प्रकार की भाषा में अपने लेख और ग्रथ लिखे, वह बहुत स्वाभाविक और भाव-प्रकाशन मे समर्थ भाषा थी। हरिश्चद्र चद्रिका में कई ऐसे लेख प्रकाशित हुए, जिनका मान दीर्घकाल तक होता रहा। मुंशी ज्वालाप्रसाद का 'कविराज की सभा', तोताराम का 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न', बाबू काशीप्रसाद का 'रेल का विकट खेल' आदि लेख बहुत लोकप्रिय हुए। स्वय भारतेंदु का लिखा 'पाँचवाँ पैगबर' भी बहुत लोकप्रिय हुआ।

नवीन भाषा-शैली का वैशिष्ट्य

भारतेंदु ने कई नाटको की रचना की और वस्तुत. इसी क्षेत्र मे इनकी प्रतिभा का सर्वोत्तम उपयोग हुआ। नाटकों के माध्यम से ही उन्होने देशभक्ति और भगवद्भक्ति का सदेश घर-घर पहुँचाया।

उन्नीसवी शताब्दी संसार के इतिहास को नई दिशा में मोड़नेवाली शताब्दी है। नाना प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कारो ने इस शताब्दी में यूरोप को जड-विज्ञान का प्रेमी बनाया। बडे-बड़े कारखाने खुले, वाष्पचालित जलयानो की सहायता से दूर-दूर के देशों से व्यापारिक सबध बढा और पूँजी क्रमश: सिमटती हुई व्यापारी वर्ग के घर में पुजीभूत हो उठी। यह व्यापारी वर्ग अतुलित धनशाली होने पर भी राजकार्य में हस्तक्षेप नही कर पाता था। राजकार्य प्रधान रूप से राजकीय घरानों, जमीदारो और बड़े तालुकेदारो के नियंत्रण में था। धीरे-धीरे व्यावसायिक वर्ग ने यह अनुभव किया कि राज-सत्ता पर अधिकार जमाए बिना व्यापार सुविधा से नही चल सकता और यूरोप में सर्वत्र राजतंत्र के विरुद्ध

नवीन ढग की 'राष्ट्रीयता' का जन्म

विद्रोह हुआ । धीरे-धीरे प्रजातंत्र का रौब बढता गया और सर्वत्र राजतंत्र शिथिल होता गया । इसी परिस्थिति मे उस नवीन विचारधारा का जन्म हुआ जिसे 'राष्ट्रीयता' कहते है । यूरोप में जन्मी हुई विचारधारा ने धीरे-धीरे भारत के विचारशील लोगो को भी प्रभावित करना शुरू किया । राष्ट्रीयता भारतवर्ष के लिए नवीन विश्वास थी । इसके पहले इस देश में यह बात अपरिचित थी । राष्ट्रीयता का अर्थ यह कि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का अश है और इस राष्ट्र की सेवा के लिये, इसको धन-धान्य से समृद्ध बनाने के लिये, इसके प्रत्येक नागरिक को सुखी और संपन्न बनाने के लिये, प्रत्येक व्यक्ति को सब प्रकार के त्याग और कष्ट स्वीकार करना चाहिये । यह राष्ट्रीयता एक सीमा तक मनुष्य के उच्चतर उद्देश्यो के अनुकूल थी, लेकिन सीमा-व्यतिक्रम करने के बाद इसका एक अत्यत कुत्सित रूप सामने आता है । वह यह कि अपने देश को धन-धान्य से समृद्ध बनाने के लिये दूसरे देशो का शोषण किया जा सकता है, अपने देश के प्रासाद सँवारने के लिये दूसरे देश की झोपड़ियाँ जलाई जा सकती है । राष्ट्रीयता ने

भारतवर्ष में 'राष्ट्रीयता' का प्रवेश

उन्नीसवी शताब्दी मे यह विकृत रूप धारण कर लिया था । शुरू-शुरू मे भारतवासियो को प्रजातन्त्रवाद के साथ जुडा हुआ राष्ट्रवाद का यह रूप स्पष्ट नही हुआ, क्योकि वे इससे एकदम अपरिचित थे । परतु उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे पढ़े-लिखे भारतीय बात को समझने लगे । धीरे-धीरे काव्यो मे, नाटको मे, उपन्यासो मे और अन्यान्य रचनाओं में भारतवर्ष की पराधीनता और उसका शोषण इस प्रकार प्रकट होने लगा कि जिससे लेखको के हृदय की व्यथा बड़ी व्याकुलता के साथ प्रकट हुई । भारतवासियो में भी अपने देश के प्रति प्रेम का भाव जाग्रत हुआ और स्वाभिमान की

मात्रा बढ़ती गई। देशभक्ति, परोपकार भावना, मातृभाषा के प्रति प्रेम, समाज-सुधार और पराधीनता के बंधन से मुक्ति उन दिनो की प्रगतिशील मनोवृत्ति के चिह्न हैं। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में वह आर्य-समाज के रूप मे प्रकट हो चुका था। काव्य और साहित्य के क्षेत्र में उसे भारतेंदु ऐसा सुयोग्य नेता मिला। भारतेंदु के पहले ही कविता में इसके बीज दिखाई देने लगे थे। भारतेंदु के आने के बाद से तो इस दिशा मे बहुत तेजी से प्रगति हुई। इस प्रगति का कारण भारतेंदु का अद्‌भुत व्यक्तित्व था। उनमें कुछ अनन्य साधारण गुण थे। अकृत्रिम सहृदयता, निरंतर जागरूक दानशीलता और निश्छल सहज भाव ने उन्हे अपने युग का श्रेष्ठ साहित्यिक नेता बना दिया। उन दिनो के प्रायः सभी श्रेष्ठ साहित्यकार भारतेंदु को केंद्र बनाकर क्रियाशील हुए।

भारतेंदु-साहित्य की विशेषता

भारतेंदु का पूर्ववर्ती काव्य साहित्य संतों की कुटिया से निकलकर राजाओ और रईसों के दरबार में पहुँच गया था, उसमें मनुष्य को प्रत्याहिक सुख-सुविधाओ के जंजाल से मुक्त करके शाश्वत देवत्व के पवित्र लोक मे ले जाने की महत्वाकांक्षा लुप्त हो चुकी थी। वह मनुष्य को देवता बनाने के पवित्र आसन से च्युत होकर मनोविनोद का साधन हो गया था। ऐसा होना वांछनीय नही था। जिन संतो और महात्माओं ने काव्य में मनुष्य को देवता बनाने की शक्ति सचारित की थी, उनके चेलों ने उनके नाम पर संप्रदाय स्थापित किए, काव्य को देवता बनाने की शक्ति लुप्त हो गई, उसकी साम्प्रदायिक अद्‌भुत व्याख्याएँ शुरू हो गई। और दूसरी ओर कवियों की दुनियाँ राज दरबारों की ओर खिच गई। भारतेंदु ने कविता को इन दोनों ही प्रकार की अधोगतियो के पंथ से उबारा। उन्होंने एक तरफ तो काव्य

को फिर से भक्ति की पवित्र मंदाकिनी में स्नान कराया और दूसरी तरफ उसे दरबारीपन से निकालकर लोक-जीवन के आमने-सामने खड़ा कर दिया। नाटकों में तो उन्होंने युगांतर उपस्थित कर दिया। भारतेंदु के प्रसिद्ध नाटक यद्यपि अधिकतर संस्कृत या अन्य भाषाओं के भाषांतर मात्र है,[1] फिर भी वे एक बड़े भारी परिवर्तन का संकेत करते हैं। रीति-काल में नाटक का लिखा जाना एकदम बंद हो गया था। जीवन में नाटकोचित गति ही लोप हो गई थी।। सब कुछ बँधे-बँधाए मार्ग में चल रहा था। चलना-फिरना, हिलना-डुलना, रोना-हँसना, सबकी पक्की सड़क तैयार थी। कहीं नवीनता आ जाए, तो अपराध माना जाता था। भारतेंदु ने इस बात को बड़ी सावधानी से तोड़ा। उन्होंने क्रांतिकारी हथौड़े से काम नहीं लिया, उन्होंने मृदु संशोधक निपुण वैद्य की भाँति रोगी की नाजुक स्थिति की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त

---

१. काशी नागरी प्रचारिणी सभा से भारतेंदु ग्रंथावली के प्रथम भाग में सत्रह नाटक प्रकाशित हुए हैं—(१) विद्यासुंदर (द्वितीय सं० १८८२ ई०), (२) रत्नावली (अपूर्ण) (१८६८ ई०), (३) पाखंड विडंबन (१८७३ ई०), (४) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (१८७३ ई०), (५) धनंजय-विजय (१८७३ई०), (६) मुद्राराक्षस (१८७५–७७ ई०), (७) सत्य हरिश्चंद्र (१८७५ ई०), (८) प्रेम जोगिनी ('काशी के छायाचित्र या दो भले-बुरे फोटोग्राफ' नाम से) (१८७४ ई०), (९) विषस्य विषमौषधम् (१८७६ ई०), (१०) कर्पूरमंजरी (१८७६ ई०), (११) चंद्रावली (१८७६ ई०), (१२) भारत दुर्दशा (१८७६ ई०), (१३) भारत जननी (१८७७ ई०), (१४) नीलदेवी (१८८० ई०), (१५) दुर्लभ बंधु (१८८० ई०), (१६) अंधेर नगरी (१८८१ ई०), और (१७) सती प्रताप (१८८४ ई०)। इनमें विद्यासुंदर बँगला के भारतचंद्र लिखित उपाख्यान पर आधारित श्री यतींद्रमोहन ठाकुर के किसी नाटक का छायानुवाद है। नं० २, ५, ६ और ७ संस्कृत से; नं० १० प्राकृत से, और नं० १५ अंग्रेजी से अनुवादित है। बाकी मौलिक हैं। सत्य हरिश्चंद्र को किसी बँगला नाटक का रूपांतर बताया जाता है पर अभी तक इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिला। वह चंडकौशिक पर निर्भर जान पड़ता है।

कर उसकी रुचि के अनुसार उचित पथ्य की व्यवस्था की। वह भारतेंदु की अपनी विशेषता थी। उनका समूचा काव्य मूर्तिमान प्राणधारा का उच्छल वेग है। इस जीवन-धारा ने ही उनकी समस्त रचनाओ को उपादेय और नवयुग का मार्ग खोलनेवाला बना दिया है। वे केवल बँधी रूढ़ियो के कायल नही थे। अपनी कविता की प्रेरणा उन्होंने नाना मूलो से प्राप्त की। उन्होने संस्कृत जैसी पूर्ववर्ती भाषाओ के रस से रस खीचने मे आनाकानी नही की और न बँगला, मराठी आदि पार्श्ववर्तिनी भाषाओ ही से प्रेरणा लेने मे हिचक अनुभव किया। जीवत प्राणी सभी वस्तुओ से अपने जीवन का उपादान सग्रह कर लेता है। जो मृत होता है, जिसमे प्राण-धारा का उज्ज्वल वेग नही होता, वह कही से भी रस नही खीच पाता। भारतेंदु जीवन-प्राणधारा के मूर्त विग्रह थे।

भारतेंदु की सफलता का रहस्य

भारतेंदु की सफलता का प्रधान रहस्य यह जीवन-प्राणधारा ही है। उनकी सफलता का दूसरा रहस्य है, उनकी अपूर्व दानशीलता। दानशीलता से मेरा मतलब रुपया-पैसा लुटाने से नही है। भारतेंदु ने रुपया-पैसा भी काफी लुटाया था। लेकिन मै दूसरी बात कह रहा था। लुटाने से अभिप्राय है, अपना सर्वोत्तम लुटाना। दाता का प्रधान लक्षण है कि उसके इर्द-गिर्द ग्रहीता स्वयं जुटते है और विशेषता यह है कि स्वय आकृष्ट ग्रहीता आगे चलकर महा-दानी बन जाते हैं। दातृत्वशक्ति शायद सक्रामक रोग है। जो व्यक्ति अपने संपूर्ण रस को नि शेष भाव से देता है, उसके इर्द-गिर्द ऐसे लोग आकृष्ट होते है, जो अपनी संपूर्ण सत्ता को हँसते-हँसते लुटा देने में आनंद पाते है। भारतेंदु की अपूर्व दातृत्वशक्ति ने उनके इर्द-गिर्द महान् साहित्यकारो को खींच लिया था। इस महान् सूर्य को घेरकर अनेक

दीप्यमान ग्रहमंडली स्वयं उपस्थित हो गई थी । इन कवियों और साहित्यकारों ने हमारी भाषा को अपने हृदय का 'सपूर्ण रस' उँडेलकर दे दिया । भाषा बद्ध अवस्था से मुक्त हो गई । जीवन के प्रभाव की अवरोधक शक्ति का हट जाना ही पर्याप्त है, जीवन आगे का रास्ता स्वय बना लेता है । भारतेंदु और उनके सहयोगियो ने अपने आपको देकर उस बाधा को दूर कर दिया । काव्य, नाटक, उपन्यास और निबंध अपनी प्राण-शक्ति से ही आगे बढने लगे । शुरू-शुरू में यह गति कुछ शिथिल और मद रही, बाद मे बीसवी शताब्दी के आरंभ से इसकी गति मे बडी तीव्रता आ गई । इसी समय एक और शक्तिशाली महापुरुष का आविर्भाव हुआ, जिसने भाषा मे नई शक्ति अनिवार्य कर दी । यह हैं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी । महावीरप्रसाद द्विवेदी भी बड़े योग्य और कर्मठ व्यक्ति थे । उन्होने भाषा को समृद्ध और गतिशील बनाने में अपनी सारी शक्ति लगा दी । उनकी यह अद्भुत दानशीलता ही उनकी शक्ति का वास्तविक स्रोत है ।

भारतेंदु की सफलता का एक तीसरा रहस्य भी है । जिसपर कम लोग ध्यान देते हैं । जो व्यक्ति सहज होता है, वही महान् होता है । क्रूरता और वक्रता मनुष्य को सामयिक सफलता देती है, परंतु उनसे स्थायी लाभ नही होता । मनुष्य का सहज औदार्य, उसका सहज आनंदन रूप और उसका सहज सारस्य उसकी बहुत बड़ी सपत्ति है । वह उसे महान् तो बनाती ही है, उसके संपर्क मे आनेवालो को भी महान् बनाती है ।

इन तीन महागुणो ने भारतेंदु को अपने युग का महानेता बना दिया । उन दिनो भारतवर्ष विदेशी शासन के चंगुल में फँसा था । वह सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत नीचे उतर आया था, राजनैतिक प्रभुता तो नाम को भी नही बची थी ।

जाने लगा । भापा हमारी सस्कृति का प्रतीक है । उसको मूल समस्या माननी चाहिए । भारतेदु ने सहजभाव से इस प्रश्न को समझा था—

> निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल ।
> विनु निज भापा ज्ञान के, मिटै न हिय को शूल ।।

उन्होने 'निज भाषा' शब्द का व्यवहार किया है, 'मिली-जुली', 'आमफहम', 'राष्ट्रभाषा' आदि शब्दो का नही । प्रत्येक जाति की अपनी भाषा है और वह निज भापा की उन्नति के साथ उन्नत होती है । मै यह तो नही कह सकता कि भाषा की समस्या ही सब समस्याओ के मूल मे है, पर यह सही बात है कि वह कई मूल और आरभिक समस्याओ मे एक है । यह किसी राजनैतिक या साप्रदायिक समस्याओ का अनुचर नही है, वरन् प्रमुख और मूल है ।

हिंदी का जन-आदोलन

भारतेदु का प्रभाव भाषा के प्रचार-क्षेत्र मे बहुत व्यापक रहा । उन्नीसवी शताब्दी के अत मे भाषा के सबध में लोकमत को सचेत करने के लिये जिस प्रकार के उद्योग हुए वह हिंदी भाषा के इतिहास में एकदम नये है । गौरीदत्त और अयोध्यासिंह खत्री जैसे परवर्ती काल के उत्साही प्रचारको को भी भारतेदु के 'निज भाषा उन्नति' का मत्र ही प्रधान रूप से प्रेरणा दे रहा था । भाषा के प्रति इस प्रकार की जागरूकता का मुख्य और क्रियात्मक रूप का कारण तो राष्ट्रीय भावना थी किंतु प्रतिक्रियात्मक रूप का हेतु था हिंदी की भयंकर उपेक्षा । भारतेदु की प्रेरणा ने हिंदी भाषा के आदोलन को वास्तविक जन-आदोलन का रूप दे दिया । इसी जन-आंदोलन ने हिंदी को जनभाषा बनने की ओर बराबर उन्मुख बनाए रखा । यह जन-संश्रय का ही परिणाम है कि

निरन्तर उपेक्षित और अपमानित होते रहने पर भी हिंदी आज सर्वोच्च गौरव की अधिकारिणी बनी है। हिंदी की शक्ति जनता की शक्ति है। वह इतनी बड़ी ताकत है कि उसके सामने बड़े-से-बडे शक्तिशाली मनुष्य की तनी भृकुटि नि शक्त हो जाने को बाध्य है। भारतेंदु की प्रेरणा से ही हिंदी जनभाषा बनी।

भारतेंदु को केंद्र करके उस काल के अनेक कृती साहित्यकारो का एक उज्ज्वल मंडल ही प्रस्तुत हो गया।

भारतेंदु-मडल

सहज-चटुल शैली के पुरस्कर्ता प० प्रतापनारायण मिश्र (१८५६–१८९४ ई०); तीखी और झनझना देने वाली भाषा मे खरीखरी सुना देने वाले प० बालकृष्ण भट्ट (१८४४–१९१४ ई०); अनुप्रासयुक्त शैली की कविजनोचित भाषा लिखने वाले ठाकुर जगमोहनसिंह (१८५७–१८९९ ई०) और बद्रीनारायण चौधरी (१८५५–१९२२ ई०) नाटको और उपन्यासो के क्षेत्र में नये मार्ग का प्रदर्शन करने वाले लाला श्रीनिवासदास (१८५१–१८८७ ई०), शास्त्रीय विचार-परपरा के बनी संस्कृत के उत्कृष्ट विद्वान् और लेखक पडित अबिकादत्त व्यास (१८५८–१९०० ई०); अपने अगाध पाडित्य की छाया मे सहज ठेठ शैली के पुरस्कर्त्ता महामहोपाध्याय प० सुधाकर द्विवेदी (१८५०–१९११ ई०), सस्कृत के विद्वान और भक्त साहित्यिक प० राधाचरण गोस्वामी (१८०८–१९२५ ई०) तथा सुप्रसिद्ध नाटककार और प्राचीन साहित्योद्धारक बाबू राधाकृष्णदास (१८६५–१९०७ ई०) आदि अनेक सुलेखक उनसे प्रेरणा ग्रहण करके हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि करने लगे। ये लोग तथा इन्हीं के समान विद्याप्रेमी अन्य सज्जन, जिनमें बाबू तोताराम, पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, प० भीमसेन शर्मा आदि प्रमुख हैं, इस काल में बहुत ही शक्तिशाली भाषा की नीव डालने में समर्थ हुए।

भारतेंदु काल के इन लेखको की विशेषता वताते हुए स्वर्गीय आचार्य रामचद्र जी शुक्ल ने वताया है कि "हरिश्चंद्र काल के सव लेखको मे अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी। वे सस्कृत के ऐसे शब्दो और रूपो का व्यवहार करते थे जो शिष्ट समाज के वीच प्रचलित चले आते हैं। जिन शब्दो या उनके जिन रूपों से केवल सस्कृताभ्यासी परिचित होते है और जो भाषा के प्रवाह के साथ ठीक चलते नही उनका प्रयोग वे औचट मे पड़कर ही करते थे।" इन कवियो और साहित्य-कारो ने हमारी भाषा को अपने हृदय का सपूर्ण रस नि.शेष भाव से उँड़ेलकर दे दिया है। इनके अपूर्व आत्मदान का ही परिणाम है कि भाषा वृद्धावस्था से एकदम मुक्त हो गई। जीवन के प्रभाव की अवरोधक शक्ति का हटाना ही सबसे महत्त्व की बात है, उसके आगे तो जीवन बहुत-कुछ अपना रास्ता स्वय ही तै कर लेता है। भारतेंदु और उनके सह-कर्मियो ने जीवन को साहित्य मे निर्वाध विकसित होने का मार्ग दिखा दिया। इसीलिये उन्नीसवी शताब्दी के वाद साहित्य की धारा उन्मुक्त गति से आगे वढी। इस शताब्दी के अंतिम चरण में हिंदी साहित्य ने निश्चित रूप से शक्ति-शाली कदम उठाया।

विभिन्न दृष्टि-कोणो का विकास

भारतेंदु के नाटको की कई श्रेणियाँ हैं—उनमें कुछ यथार्थवादी है कुछ स्वच्छदतावादी है, कुछ आदर्शवादी है, कुछ राष्ट्रवाद के प्रचारक हैं और कुछ समाज-सुधारक प्रहसन के रूप मे हैं। आगे चलकर भारतेंदु के समसामयिक और परवर्ती लेखकों ने इन सभी धाराओं को आगे वढ़ाने का प्रयत्न किया। आदर्शवादी नाटको की दो धाराये थी—पौराणिक और ऐतिहासिक। शुरू-शुरू मे पौराणिक धारा प्रबल रही, किंतु आगे चलकर ऐतिहासिक

धारा ने अधिक प्रबल रूप धारण किया, पौराणिक धारा उसके सामने दब गई। आदर्शवादी पौराणिक नाटकों में चन्द्रशरण का 'उषाहरण' (सन् १८८७), लाला श्रीनिवासदास का 'प्रह्लाद चरित्र' (सन् १८८८), विंध्येश्वरप्रसाद त्रिपाठी का 'मिथिलेश कुमारी' (सन् १८८९), शालिग्राम वैश्य का 'मोरध्वज' (सन् १८९०), कार्तिकप्रसाद वर्मा का 'उषा-हरण' (सन् १८९१), अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रद्युम्न-विजय' (सन् १८९३), बालकृष्ण भट्ट का 'दमयन्ती स्वयंवर' (सन् १८९५), शालिग्राम वैश्य का 'अभिमन्यु' (सन् १८९६), जगन्नाथशरण का 'प्रह्लाद-चरितामृत' (सन् १९००), देवराज का 'सावित्री' (सन् १९००), अनूप कवि का 'लंका विजय' (सन् १९००) और रामनाथ का 'सावित्री-सत्यवान' (सन् १९००) प्रमुख रचनाएँ हैं। ऐतिहासिक रचनाओं में श्रीनिवासदास का 'संयोगिता-स्वयंवर' (सन् १८८६), राधाचरण गोस्वामी का 'अमरसिंह राठौर' (सन् १८९५) आदि मुख्य हैं।

किंतु १९वीं शताब्दी के नाटकों की प्रधान विशेषता प्रहसन है। भारतेंदु का 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३ ई०), 'विषस्य-विषमौषधम्' (१८७५ ई०) और 'अंधेर नगरी' (१८८१ ई०) बहुत लोकप्रिय रहे। प्रहसनों का लक्ष्य अधिकांश में समाज-सुधार था। १९वीं शताब्दी के हिंदी लेखकों में एक विचित्र प्रकार की ज़िंदादिली थी। इसी ज़िंदादिली ने उनके साहित्यिक प्रयत्नों को अत्यंत सजीव बना दिया है। प्रहसनों में यह सजीवता अपने पूरे वेग पर मिलती है। यही कारण है कि १९वीं शताब्दी के प्रहसन बहुत सजीव और सफल रहे। सच पूछा जाए तो नाटकों के क्षेत्र में इस काल के लेखकों को प्रहसनों में ही सफलता

प्रहसन

प्राप्त हुई। देवकीनंदन त्रिपाठी का 'जय नरसिंह की' (१८७६ ई०) और 'कलियुगी जनेऊ' (१८८३ ई०) तथा 'कलियुगी विवाह' (१८९८ ई०); प्रतापनारायण मिश्र का 'कलि-कौतुक' (१८७६ ई०); राधाचरण गोस्वामी का 'बूढे मुँह मुँहासे' (१८८८ ई०) आदि प्रहसन बहुत सफल रहे।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटकों में स्वच्छंदतावादी या रोमेंटिक प्रेम की धारा स्पष्ट नहीं हो सकी। 'चंद्रावली नाटिका' में कुछ लोग इस श्रेणी के प्रेम का संधान पाते हैं, परंतु 'चंद्रावली नाटिका' स्वच्छंद प्रेम का नहीं, भक्ति का काव्य है। केशवराम भट्ट का 'सजाद-सुम्बुल' (१८७७ई०) शायद पहला नाटक है, जिसमें यथार्थवादी और स्वच्छंदतावादी दोनों ही धाराएँ घुली-मिली हैं। फिर भी वह प्रधान रूप से यथार्थवादी नाटक ही है। राधाकृष्णदास की 'दुखिनी बाला' (१८८० ई०), लाला श्रीनिवासदास की 'रणधीर प्रेम मोहिनी' (१८८० ई०) और 'तप्ता संवरण' (१८८३ ई०), अम्बिकादत्त व्यास की 'ललिता' (१८८४ ई०), अमनसिंह गोतिया की 'मदन मंजरी' (१८८४ ई०), विशेसरनाथ पाठक की 'लवंगलता' (१८८५ ई०), कृष्णदेवसिंह की 'माधुरी' (१८८८ ई०), दामोदरसिंह की 'मदन-लेखा' (१८९० ई०), किशोरीलाल गोस्वामी की 'मयंक मंजरी' (१८९१ ई०), शालिग्राम वैश्य का 'लावण्यवती-सुदर्शन' (१८९२ ई०), रामानंद सिंह का 'कुवलय-माला' (?), और व्रजप्रसाद का 'मालती-वसंत' (१८८९ ई०) इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं। रामनरेश शर्मा का 'सिंहल-विजय' (सन् १८९६) और राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रतापसिंह' (१८९८ ई०) प्रमुख हैं। इनमें राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रतापसिंह' अधिक

स्वच्छंदतावादी धारा

प्रसिद्ध हुआ। बहुत दिनो तक वह रंगमंच पर सफलतापूर्वक खेला जाता रहा, और अब भी उसकी लोकप्रियता कुछ-न-कुछ बनी हुई है।

भारतेंदु ने राष्ट्रीय भावना के प्रचार के लिये 'प्रेम योगिनी', 'भारत दुर्दशा' आदि नाटक लिखे थे। इनकी परंपरा खूब चली। अम्बिकाप्रसाद व्यास के 'गौ संकट' और 'भारत सौभाग्य' (सन् १८८७ ई०), खड्ग बहादुर मल्ल का 'भारत-ललना' (सन् १८८८), जगतनारायण शर्मा का 'भारत दुर्दिन' (सन् १८८९), बद्रीनारायण चौधरी का 'भारत सौभाग्य' (सन् १८८९), दुर्गादत्त का 'वर्तमान दशा' (सन् १८९०), गोपालदास गहमरी का 'देश दशा' (सन् १८९२) आदि नाटक सामाजिक समस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिये लिखे गए थे। इन सब मे राष्ट्रीय भावना और आत्मगौरव-बोध की उपादेयता दिखाई गई थी, वास्तव में ये नाटक राष्ट्रीय चेतना के प्रचारक थे। सामाजिक समस्याएँ केवल साधनमात्र थी, और नाटक के कथानक तो बहुत-कुछ बहाने मात्र थे। इनका उद्देश्य बहुत स्पष्ट और पुष्ट था, बाकी बातें उसके सामने दब गई थी। दुर्भाग्यवश हिंदी का कोई अपना रंगमंच नही था, और ये नाटक बहुत-कुछ पाठ्य होकर ही रह गए।

राष्ट्रीय भावना के नाटक

उन्नीसवी शताब्दी के अंत में हिंदी प्रचार का आंदोलन अधिक संगठित और निखरे रूप मे प्रकट हुआ। सन् १८९३ ई० मे बाबू श्यामसुंदरदास, पं० रामनारायण मिश्र और बाबू ठाकुर शिवकुमारसिंह ने नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की, जो आगे चलकर महत्त्वपूर्ण साहित्यिक संस्था बनी। मूलतः इस सभा का उद्देश्य हिंदी भाषा और नागरी लिपि का

हिंदी प्रचार का आंदोलन

प्रचार करना ही है। सभा ने संयुक्त प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर के पास अपना डेपूटेशन भेजा और उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में (सन् १९०० मे) कचहरियों मे हिंदी को स्थान मिल गया। उन दिनों यह हिंदी की वहुत वड़ी विजय मानी गई। हिंदी प्रचारको का उत्साह इससे और भी अधिक वढ़ा। सर्वत्र 'निज भाषा' की उन्नति के लिये प्रयत्न होने लगे। इस प्रयत्न का अच्छा और बुरा दोनो ही प्रकार का परिणाम हुआ। अच्छे परिणाम की चर्चा आगे की जाएगी; बुरा परिणाम यह हुआ कि नाना क्षेत्रो में काम करनेवाले नाना रुचि और संस्कार के लोगो ने हिंदी में लिखना और वोलना तो शुरू कर दिया और मातृभाषा की सेवा करने का सबका अधिकार भी स्वीकार कर लिया गया किंतु इसके लिये किसी प्रकार की शिक्षा और साधना की आवश्यकता नही समझी गई। जिन्होने उर्दू का अभ्यास किया था, वे उर्दू मुहाविरो से हिंदी को भरने लगे; जिन्होने सस्कृत का अभ्यास किया था, उन्होने प्रयत्नपूर्वक भाषा पर सस्कृत पदावली लादने का प्रयास किया; जिन्होने वँगला का नैकट्य प्राप्त किया था, उन्होने "प्राण-पण से" भाषा को कोमल-कात पदावली से भरना आरंभ किया; और जिन्होने अंग्रेजी का अभ्यास किया था, उन्होने अंग्रेजी शब्दावली के अनुवादित या परिवर्तित शब्दो को अपनी भाषा मे ठूसना शुरू किया। इस प्रकार भाषा मे अव्यवस्था आ गई। वीसवी शताब्दी के आरंभ में जहाँ एक ओर हिंदी का नया साहित्य नवीन प्राण-शक्ति से उद्वेल हो रहा था, जहाँ से भी उत्तम वस्तु मिले, उसको ग्रहण करने के लिये व्याकुल हो उठा था, वहाँ भाषा में अव्यवस्था और शैथिल्य का जोर वढ़ गया।

हिंदी प्रचार आंदोलन का प्रधान लक्ष्य नागरी लिपि का प्रचार, और भाव और भाषा को भारतीय रूप देना था। स्वभावतः ही उर्दू के साथ उसका संघर्ष हो गया। अदालतों

मे उर्दू लिपि के प्रचार के कारण पढे-लिखे लोग उर्दू पढने को वाध्य थे। पंजाव और पश्चिमी युक्त-प्रांत में तो हिंदुओ के धर्म-ग्रंथ उर्दू लिपि में ही प्रकाशित होते थे। आर्य-समाज के आंदोलन ने हिंदी को बहुत बल दिया, क्योंकि आर्य-समाज भी भारतीयकरण का पक्षपाती था, इसीलिये उसको सबसे अधिक लोहा उर्दू भाषा से लेना पडा। संयोगवश उर्दू लिपि का वैज्ञानिक मूल्य कुछ भी नही था; नागरी लिपि की तुलना मे ससार को कम लिपियाँ खडी की जा सकती हैं। फारसी लिपि तो किसी भी प्रकार उसकी प्रतिद्वंद्विनी नही वन सकती। इस लिपि के जीने का सबसे प्रबल कारण मुसलिम भावनाएँ थी। मुसलमान लोग उसे धर्म-लिपि मानते है, और आग्रहपूर्वक उसे उत्तम स्थान देना पसद करते है। भारतवर्ष के विदेशी शासकों ने मुसलमानो की मनोवृत्ति को सहलावा दिया, और इस वात की बिलकुल परवाह नही की, कि शुद्ध उच्चारण और सुपाठ्य लेखन की दृष्टि से नागरी लिपि उर्दू से कही अधिक श्रेष्ठ थी। आरभ म उन्होंने नागरी लिपि को एकदम वहिष्कृत कर दिया था। विचारशील हिंदुओ के मन मे इस बात से वहुत क्षोभ हुआ था, और उसी क्षोभ ने शक्तिशाली आंदोलन का रूप धारण किया था। बीसवी शताब्दी के आरभ मे वह आदोलन सफल हुआ। इसके सफल बनाने मे अनेक शक्तियो ने कार्य किया, परतु व्यक्तिरूप में प० मदनमोहन मालवीय और समाज-रूप मे नागरी प्रचारिणी सभा को इसका प्रधान श्रेय प्राप्त है।

उर्दू के साथ सघर्ष

उन्नीसवी शताब्दी भारतीय गौरव के पुनरुद्धार का समय है। इस काल मे अनेक देशी-विदेशी विद्वानो के परिश्रम से भारतवर्ष के भूले हुए इतिहास का एक ढांचा प्रस्तुत किया

जा सका । ब्राह्मी, खरोष्ट्री जैसी भूली हुई लिपियो का उद्धार हुआ । अनेक शिलालेखो, ताम्र-शासनो और राजकीय मुद्राओ के आविष्कार से इतिहास की टूटी कडियाँ जोडी गई ।

भूले हुए इतिहास का उद्धार

सिंहल, वर्मा और श्याम मे प्रचलित भारतवर्ष का प्राचीन परिभाषा का ग्रंथ-भंडार प्राप्त किया गया । तिब्बत, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा और वाली द्वीपो में भारतीय ज्ञान-भडार और सस्कृति के अवशेप चिह्न प्राप्त हुए । वैदिक और लौकिक सस्कृत शास्त्रो का अनुसंधान, सकलन और संपादन किया गया । मौर्यो, शु गो, गुप्तो और राजपूत नरेशो के वीरत्वपूर्ण कथानको का सकलन किया गया, और इन सबके परिणामस्वरूप सोचने-समझनेवाले भारतवासी के चित्त मे नवीन आत्म-गौरव का सचार हुआ । उन्नीसवी शताब्दी के सास्कृतिक पुनरुद्धार का महत्त्व बहुत अधिक है । इसका सबसे प्रत्यक्ष प्रभाव साहित्य पर पडा । बीसवी शताब्दी के आरभ से ही काव्यो, नाटकों और उपन्यास कहानियो का विषय पुराना भारतीय गौरव होने लगा । इसका सूत्रपात हरिश्चंद्र-काल मे ही हो गया था, किंतु उन्नीसवी शताब्दी के अतिम चतुर्थांश में इन विषयो का मथन होता रहा । इनका पूर्ण परिपाक बीसवी शताब्दी मे ही हुआ ।

बीसवी शताब्दी के आरंभ में अनेक प्रकार की ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक उथल-पुथल ने भाषा के क्षेत्र में अव्यवस्था ला दी । हिंदी मे अरबी-फारसी शब्दो का व्यवहार हो या न हो, इस विषय को लेकर तीन प्रकार के मत उन दिनो प्रचलित होगए ।

भापा के स्वरूप पर मतभेद

कुछ लोग अरबी-फ़ारसी शब्दो के एकदम विरुद्ध थे । लाला हरदयाल ने अरबी-फ़ारसी के शब्दों को 'प्राचीन दासता के अवशेष चिह्न' माना था । मथुराप्रसाद

दीक्षित भी उर्दू के कठोर विरोधियों में से थे। साधारण बोल-चाल की भाषा मे आये हुए शब्दो को तो ले लेने मे वे कोई दोष नही मानते थे, किंतु प्रधान रूप से संस्कृत शब्दो के पक्षपाती थे। इसी समय इसकी प्रतिक्रिया भी हुई थी। महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी जैसे विद्वान् हिंदी मे संस्कृत की ठूँस-ठाँस पसद नही करते थे। वह भाषा को सस्कृत पदावली से लादने को 'कलम पकड़ने का नशा' समझते थे। मन्नन द्विवेदी ने भी इस प्रवृत्ति का उपहास किया था। यह वर्ग हिंदी मे सीधे-सादे तद्भव शब्दो की बहुलता को स्वागत योग्य मानता है, और कठिन सस्कृत-पदावली को अच्छी रुचि का परिचायक नही समझता। एक तीसरे प्रकार के लोग थे, जो उर्दू और हिंदी दोनो को मिलाना चाहते थे, वे जरूरत पड़ने पर और कभी बिना जरूरत भी उर्दू और हिंदी का मिश्रण करते रहते थे।

यह तो हुई शब्द-भडार की बात। वाक्य-रचना में भी कई प्रकार की शैलियाँ व्यवहृत होने लगी थी। कुछ लोग अंग्रेजी गद्य शैली की भाँति सरल व्यंजनामयी और भावो को स्पष्ट करनेवाली भाषा लिखते थे। कुछ दूसरे लोग सस्कृत की उस शैली को अपना रहे थे, जिसमे अक्षराडवर और अलकरण की प्रधानता होती थी, और कुछ ऐसे भी लोग थे जो बँगला की सरस पदावली पर मुग्ध होकर उसी ढंग की भाषा लिखने लगे थे। इस प्रकार एक ओर शब्द-भंडार के विषय मे मतभेद था तो दूसरी ओर अनेक प्रकार की अपरीक्षित शैलियो का प्रयोग भी चल रहा था। इस द्विविध अस्थिरता के भीतर साहित्य के नवीन रूप का जन्म हो रहा था। ऐसे समय में प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का साहित्य-क्षेत्र मे पदार्पण हुआ। उन्होंने कठोरता के साथ माँज-घिस कर भाषा को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने परुष व्यक्तित्व और आत्म-

विश्वासपूर्ण शैली के सहारे भाषा को माँजने का व्रत लिया। उनसे कम कठोर और अधिक भावुक व्यक्ति से वह कार्य नहीं हो सकता था। परतु इस मँजाई-घिसाई का कुछ दुष्परिणाम भी हुआ। उन्नीसवी शताब्दी के अंतिम चरण मे भाषा के स्वच्छंद प्रयोग से शैली-वैचित्र्य का स्वाभाविक विकास हो रहा था। द्विवेदी जी की मँजाई-घिसाई से उसके स्वाभाविक और सहज विकास को थोडा धक्का भी लगा। परतु सब मिलाकर उनके उद्योग से भाषा में स्वच्छता और भाव-प्रकाशन की क्षमता भी आई।

(४) साहित्य की बहुमुखी उन्नति का काल
(१९००—१९५२ ई०)

बीसवी शताब्दी में हिंदी साहित्य की बहुमुखी उन्नति हुई। इस शताब्दी के आरंभ में ही काशी नागरी प्रचारिणी सभा के उद्योग से प्रयाग के इडियन प्रेस से 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ। सन् १९०३ ई० से इस पत्रिका के संपादन का भार आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६१-१९३८ ई०) ने ग्रहण किया। इस पत्रिका के द्वारा द्विवेदी जी ने हिंदी गद्य को व्यवस्थित बनाने का बहुत अच्छा प्रयत्न किया। उन्होंने नये ढंग के लेख लिखने के लिये लेखकों को उद्बुद्ध किया। ये स्वयं भी कविता और निबंध लिखा करते थे। कविता में इनकी प्रतिभा की कोई अच्छी अभिव्यक्ति नही हुई किंतु निबंधों और समालोचनाओं द्वारा ये साहित्यिकों को निरतर प्रेरणा देते रहे। द्विवेदी जी की समालोचनाओं ने एक ओर तरुण साहित्यकारों को [illegible]-मुक्त होकर लिखने की प्रेरणा दी, दूसरी ओर नई पी

बहुमुखी साहित्य

साहित्यकारो को वाद-विवाद के क्षेत्र में उतरने और विचारोत्तेजक लिखने का प्रोत्साहन दिया। माधवप्रसाद मिश्र, बालमुकुंद गुप्त, पद्मसिंह शर्मा आदि इसी प्रकार साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में आए। कहानी, जीवन चरित, निबध, सूचनापरक साहित्य, वैज्ञानिक विवेचन-सबधी और पुरातत्त्वात्मक लेख, नाटक, गीतिनाट्य, व्यग्य आदि विविध साहित्यागो की पूर्ति मे भी इस पत्रिका ने बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया। द्विवेदी जी ने पद्य और गद्य की भाषा को एक करने का सफल प्रयत्न किया। इसके पहले पद्य की भाषा ब्रजभाषा थी। बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे अनेक साहित्यिक महानुभाव विश्वास ही नही कर सकते थे कि खडी बोली मे भी कविता लिखी जा सकती है। बहुत दिनो तक यह विवाद चलता रहा कि खडी बोली मे कविता लिखी जा सकती है या नही। द्विवेदी जी ने दृढता के साथ खड़ी बोली के पक्ष का समर्थन किया। उनकी प्रेरणा बहुत बलवती सिद्ध हुई। मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम शकर शर्मा 'शंकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय, सत्यशरण रतूडी, रामचरित उपाध्याय आदि कवियो ने खडी बोली में केवल रचना ही नहीं की, यह भी अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि खड़ी बोली कविता का वाहन हो सकती है।

उपन्यास और कहानियाँ

यद्यपि अब तक के हिंदी साहित्य की मुख्य प्रतिभा कविता के माध्यम से ही प्रकाशित हुई परंतु बीसवी शताब्दी के हिंदी साहित्य का सबसे नया और शक्तिशाली रूप उपन्यासो और कहानियो के माध्यम से ही प्रकट हुआ। उपन्यास और कहानियाँ इस काल के बहुत ही महत्त्वपूर्ण साहित्याग है। अनेक शक्तिशाली लेखको ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यहाँ सक्षेप मे हिंदी के इस नवीन

साहित्यांग पर विचार कर लेना उचित है ।

प्राचीन भारत में कथा-साहित्य

प्राचीन भारतीय साहित्य मे कथा-साहित्य का अभाव नही है। 'जातक' और 'पंचतन्त्र' की कहानियो ने तो समूचे सभ्य जगत को प्रभावित किया है। गुणाढ्य की पैशाची प्राकृत मे लिखी हुई सुप्रसिद्ध 'बृहत कथा' अपने ढंग का अनोखा साहित्य है। जिस प्रकार रामायण और महाभारत ने भारतवर्ष के काव्य और नाटको को प्रभावित किया है, उसी प्रकार 'बृहत् कथा' ने भी इस देश के कवियो को लौकिक रस के कथानक दिए हैं। परवर्ती काल मे केवल पद्य मे ही नही, गद्य मे भी संस्कृत का कथा-साहित्य बहुत समृद्ध रहा। कथा, आख्यायिका, चपू इत्यादि काव्यरूपो से भारतीय साहित्य भरा पडा है। मध्यकाल में भी पौराणिक और लौकिक कथाओं के आधार पर मनोरंजक काव्य लिखे गए है। इस प्रकार आधुनिक युग के आरभ होने के पहले तक हमारे देश मे नाना श्रेणी के उपन्यास-जातीय कथा-काव्य वर्तमान थे। उनमे पौराणिक आख्यान भी है, नैतिकता और लोक-चातुरी सिखानेवाली कहानियाँ भी है और धर्म और भक्ति-तत्त्व को स्पष्ट करनेवाली कथाएँ भी लिखी गई है। फिर भी उन्हें 'उपन्यास' नही कहा जा सकता।

उपन्यास का स्वरूप

उपन्यास आधुनिक युग की देन है। नये गद्य के प्रचार के साथ-साथ उपन्यास का प्रचार हुआ है। आधुनिक उपन्यास केवल कथा मात्र नही है, और पुरानी कथाओं और आख्यायिकाओं की भाँति कथा-सूत्र का बहाना लेकर उपमाओ, रूपको, दीपकों और श्लेषो की छटा और सरस पदो में गुम्फित पदावली की घटा दिखाने का कौशल भी नही है। यह आधुनिक वैयक्तिकतावादी दृष्टिकोण का परिणाम है।

इसमें लेखक अपना एक निश्चित मत प्रकट करता है, और कथानक को इस प्रकार से सजाता है, कि पाठक अनायास ही उसके उद्देश्य को ग्रहण कर सके, और उससे प्रभावित हो सके। लेखको का इस प्रकार का वैयक्तिक दृष्टिकोण ही नये उपन्यासो की आत्मा है। कथानक को मनोरंजक और निर्दोष बनाकर और पात्रो के सजीव चरित्र-निर्माण तथा भाषा की अनाडम्बर सहज प्रवाह की योजना के द्वारा उपन्यास-कार अपने वैयक्तिक मत को ही सहज स्वीकार्य बनाता है। जिस उपन्यासकार के पास आधुनिक युग की जटिल समस्याओ के समाधान के योग्य अपना प्रवल वैयक्तिक मत नही है वह आधुनिक पाठको को आकृष्ट नही कर सकता।

आधुनिक गद्य के प्रचार के साथ-साथ गद्य में कथा-साहित्य को पुस्तके भी प्रकाशित होने लगी। इशाअल्ला खाँ को 'रानी केतकी की कहानी', लल्लूलाल की 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'माधवा-नद काम कंदला', 'शकुतला' और 'प्रेमसागर', सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' आदि पुस्तके प्राचीनकाल से चली आती हुई कहानियो को आश्रय करके लिखी गई है। ये सब उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम दशक मे लिखी जा चुकी थी। इनमें से कई पुस्तकें उर्दू मे अनूदित होकर प्रकाशित हुई। वस्तुत· फोर्ट विलियम कालेज की प्रवृत्ति उर्दू को अधिक प्रश्रय देने की ओर थी। उस कालेज से हिंदी, फारसी, संस्कृत की कथाओ के अनुवाद के रूप में बहुत-सी पुस्तके प्रकाशित हुई जिनमें सिंहासन बत्तीसी (१८०१ ई०), प्रेमसागर (१८०१ ई०), राजनीति (१८०१ ई०), शकुतला नाटक (१८०३ ई०), बैताल पच्चीसी (१८०५ ई०), माधवानद कामकंदला (१८०५ ई०) जैसी पुस्तकें हिंदी पाठको के निकट भी अच्छी तरह से

आधुनिक गद्य का कथा-साहित्य

परिचित है। वागे उर्दू (१७६६ ई०), गुलवकावली (१८०० ई०), तोता कहानी (१८२८ ई०) आदि पुस्तकें भी इसी समय प्रकाशित हुईं, जो आगे चलकर हिंदी अक्षरो मे भी प्रकाशित हुई और वहुत दिनो तक साधारण हिंदी पाठको का मनोरजन करती रही। उर्दू मे इन कहानियो की परंपरा वड़ी तेजी से आगे वढी, और फारसी की पुरानी कहानियो के अनुवाद रूप में ही प्रकाशित हुईं। कुछ पुस्तको में तो कथा का विस्तार इतना अधिक था, कि उन्हे पढने के लिये महीनो का समय चाहिए। 'तिलस्मे होश रुवा' लगभग हजार पृष्ठो के चालीस जिल्दो में छपा था। इन कहानियो में अय्यारी और तिलस्म की भरमार थी और प्राकृत घटनाओ की तथा हल्के ढग के प्रेम की योजना हुआ करती थी। प्रेम के लिये सव प्रकार के छल-प्रपच उचित समझे गए थे, और घटनाओ की योजना इस प्रकार की जाती थी कि पाठक की विचार-वुद्धि कुठित होकर उसमें उलझ जाय। इन कहानियो ने हिंदी के कहानी-साहित्य को भी प्रभावित किया, और तिलस्मी उपन्यासो का एक मनोरजक साहित्य वन गया।

किंतु ये सब कहानियाँ उपन्यास नही हैं, क्योकि इनमे लेखको का अपना कोई वैयक्तिक दृष्टिकोण नही है, और उनकी घटनाओ की योजना मे किसी प्रवल वैयक्तिक मत के समर्थन का लक्ष्य नही है।

हिंदी मे आधुनिक ढग के उपन्यास का लिखना भारतेंदु युग से ही आरंभ हो गया था। भारतेंदु हरिश्चद्र ने 'पूर्ण-प्रकाश और चद्रप्रभा' नाम का सर्व-प्रथम सामाजिक उपन्यास लिखा था। इसमे पूर्ण-प्रकाश नायक है और चद्रप्रभा नायिका। चद्रप्रभा का विवाह ढुंढिराज नामक एक वृद्ध

आधुनिक ढग के उपन्यास

से हुआ था। वृद्ध-विवाह के दोष और कन्याओं की शिक्षा का समर्थन इस उपन्यास का प्रधान उद्देश्य है। लेखक ने व्यंग्यो और कटाक्षो का भी आश्रय लिया है। इस उपन्यास में भारतेंदु ने नारी जाति के नवीन अभ्युदय का संदेश दिया, और दीर्घकाल से चली आती हुई सड़ी-गली रूढ़ियों का विरोध किया। इस काल में लाला श्रीनिवासदास का उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' प्रकाशित हुआ जिसे पं० रामचंद्र शुक्ल ने अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास कहा है। इसका प्रथम संस्करण कब प्रकाशित हुआ था, यह तो नहीं ज्ञात हो सका परंतु इसका दूसरा संस्करण सन् १८८६ ई० में हुआ था। बाबू राधाकृष्णदास का 'निःसहाय हिंदू' (१८८६ ई०), पं० बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६ ई०) और 'सौ अजान और एक सुजान' (१८९२ ई०), रत्नचंद्र प्लीडर का 'नूतन चरित्र', मेहता लज्जाराम शर्मा का 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' (१८९९ ई०) और 'धूर्त रसिकलाल' (१८९९ ई०), गोपालराम गहमरी का 'बड़ा भाई' और 'सास पतोहू' (१८९८ ई०) तथा किशोरीलाल गोस्वामी के 'त्रिवेणी' (१८८९ ई०), 'हृदय-हारिणी' (१८९० ई०), 'लवंग-लता' (१८९० ई०), 'सुख शर्वरी' (१८९१ ई०) आदि उपन्यास इसी समय लिखे गए, जिनमें थोड़ा-बहुत 'रोमांस' और थोड़ा-बहुत नैतिक शिक्षा का दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है। इसी काल में राधाचरण गोस्वामी की 'विधवा विपत्ति' (१८८८ ई०), हनुमंतसिंह की 'चंद्रकला' (१८९३ ई०), गोकुलनाथ शर्मा की 'पुष्पावती' आदि पुस्तकें प्रकाशित हुई। इस काल के उपन्यास-लेखकों पर बंगला और संस्कृत साहित्य का प्रभाव था। कभी-कभी संस्कृत के कादम्बरी आदि की शैली पर सुंदर गद्य-काव्य लिखने का प्रयत्न किया जाता था। पं० प्रताप-

नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, गदाधरसिंह, राधाकृष्ण-दास, कार्तिकप्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा आदि ने बँगला के अनेक उपन्यासो के अनुवाद किए। यह परंपरा बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण तक अबाधरूप से चलती रही। इस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी के अत तक हिंदी गद्य की सर्वतोमुखी उन्नति हो चुकी थी। आधुनिक ढंग के नाटको और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था, नये ढग के निबंध लिखे जा रहे थे, वैयक्तिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, और देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं से प्रेरणा लेकर नये-नये साहित्यांगो की सृष्टि का बीज बोया जा चुका था।

तिलस्मी उपन्यास

१९वी शताब्दी के अंत मे और २०वी शताब्दी के आरंभ मे हिंदी मे सबसे अधिक प्रभावशाली कथा-साहित्य ऐय्यारी और तिलस्मी उपन्यासो का था। देवकीनदन खत्री के दो उपन्यास चद्रकाता और चद्रकांता सतति उन दिनों बहुत लोकप्रिय थे। इन पुस्तको के अनुकरण पर और भी कई उपन्यास लिखे गए थे। हिंदी को लोकप्रिय भाषा बनाने मे इन उपन्यासो का बहुत बड़ा हाथ है। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे जिस प्रकार के घटना-वैचित्र्य-बहुल तिलस्माती उपन्यास लिखे जा रहे थे उन्ही से प्रेरणा लेकर इन उपन्यासो की कथावस्तु तैयार की गई थी। इनमे अद्भुत और असाधारण घटनाओ की ऐसी रेल-पेल है कि पाठक का चित्त धक्का खा-खाकर आगे बढता जाता है, उसे कथानक के गठन और चरित्र के विकास की बात याद ही नही रहती। अतिप्राकृत, अद्भुत और असाधारण घटनाओं से आश्चर्यजनक परिस्थितियो का निर्माण तिलस्माती कथानको का प्रधान आकर्षण था। इन कथानको मे 'लकलका' नामक एक प्रकार की मादक वस्तु के प्रयोग का प्रसग प्रायः हो आता रहता है जिसके सूँघने से

मनुष्य बेहोश हो जाता है। तिलस्माती उपन्यासो का वातावरण भी साहित्यिक 'लकलका' है। वह पाठक को बेहोश और अभिभूत कर देता है, वह कथानक के उद्देश्य, गठन और पात्रो के साथ उनके सबध की, और पात्रो के मनोवैज्ञानिक विकास की बात सोच ही नही सकता। इन उपन्यासो ने हिंदी जनता के चित्त को ऐसे ही मादक वातावरण मे डाल रखा था। उपन्यास के वास्तविक रूप से तो उन्होने इस जनता को परिचित नही कराया परंतु आधुनिक उपन्यासो की जो सबसे बड़ी विशेषता—मनोरंजन—है उसे प्राप्त करने की दुर्दम लालसा उन्होने अवश्य उत्पन्न कर दी।

बगाल मे अंग्रेजी शिक्षा से सपर्क बहुत पहले से हो चुका था, और उन्नीसवी शताब्दी मे उसमें नये ढंग के उपन्यासों की रचना बड़े वेग से होने लगी थी। बंगाल के उन दिनो के सबसे श्रेष्ठ उपन्यास-लेखक बंकिम बाबू थे।

बँगला उपन्यास

उन्नीसवी शताब्दी के अत्य भाग मे बगाल के उपन्यास-लेखको का हिंदी पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। बकिम बाबू ने एक दर्जन से अधिक उपन्यास लिखे है, ये उपन्यास पुरानी भारतीय कथा-शैली में नही किंतु आधुनिक अंग्रेजी उपन्यासो के ढंग पर लिखे गए है। उनके उपन्यास अधिकतर ऐतिहासिक है या ऐतिहासिक घटनाओ से संबद्ध है, परंतु वे ठीक अर्थों मे 'ऐतिहासिक' नही कहे जा सकते बल्कि स्वरूप से वे अग्रेजी के रोमांसो के अनुरूप है। रोमास में कल्पना की उडान होती है, और प्रेम और साहसिकता की प्रधानता होती है। उनके कई उपन्यासो में सामाजिक और धार्मिक समस्याओ को सामने रक्खा गया है। कहा जाता है कि बकिम बाबू वाल्टर स्काट से प्रभावित थे, परंतु सही बात

यह है कि उन्होंने उन्नीसवी शताब्दी के अग्रेजी उपन्यासों का अच्छा मंथन किया था और जेन आस्टिन, थैकरे, विक्टर ह्यूगो और डिकेन्स आदि औपन्यासिको की विशेपताओ को निपुण भाव से देखा था। अपने उपन्यासो मे उन्होंने उस काल की सभी प्रवृत्तियो को अपने ढंग से व्यक्त किया है। परंतु कही भी वे किसी बड़े उपन्यासकार की नकल नही करते। अंग्रेजी उपन्यासो की उत्तम परपरा को उन्होने भारतीय रूप मे सजाया है। वंकिम बाबू का प्रभाव हिंदी पर ही नही तत्कालीन अन्य भारतीय भाषाओ पर भी पड़ा। हिंदी में तो अग्रेजी साहित्य का प्रभाव शुरू-शुरू मे सीधे न आकर बंगाली लेखको के माध्यम से ही आया। 'अग्रेजी की रोमास धारा को विशुद्ध भारतीय वेष मे सुसज्जित करने का श्रेय बकिम बाबू को है। कल्पना की उड़ान, चरित्रो का मानसिक विकास, कथानक की रोचकता, कथावस्तु का औत्सुक्य-प्रधान होना, चरित्रो का मनोवैज्ञानिक विकास और उद्देश्य की एकतानता, उन्नीसवी शताब्दी के यूरोपियन उपन्यास साहित्य की प्रधान विशेषता थी। बकिम बाबू अपने काल के अत्यंत प्रतिभाशाली लेखक थे। इस अद्भुत रोमास धारा को भारतीय वेष में सजाकर और उसे भारतीय पाठक की मनोवृत्ति के अनुकूल बनाकर वकिम बाबू ने भारतीय साहित्य मे अद्भुत क्राति उपस्थित की। उसका प्रभाव वहुत सुदूरव्यापी हुआ। हिंदी में पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पंडित राधाचरण गोस्वामी ने बगाली उपन्यासो का अनुवाद आरभ किया। वाद मे बाबू गदाधरसिंह ने 'बगविजेता' और 'दुर्गेशनंदिनी' का अनुवाद किया। इसके बाद बंगाली उपन्यासो के अनुवाद का ताँता बँध गया। वाबू राधाकृष्णदास, बावू कार्तिकप्रसाद खत्री, बाबू रामकृष्ण वर्मा आदि प्रतिष्ठित लेखक इस अनुवाद-परपरा के आदि प्रवर्तक कहे जाएँगे।

बगाली उपन्यास-लेखको की लचीली भावुकता के साथ पश्चिम से आई हुई रोमास-परपरा का ऐसा सुदर योग हुआ कि उस काल का समूचा भारतवर्ष उसके सर्वग्रासी प्रभाव की लपेट में आ गया। पडोसी भाषा होने के कारण हिंदी पर उसका सर्वाधिक प्रभाव पडा।

बगाली उपन्यासो के अनुवाद को हिंदी जनता ने बड़े चाव से पढा। इस नये ढग के साहित्य ने तिलस्माती उपन्यासों का रग फीका कर दिया। उस काल की भाषा पर बँगला के शब्दो, मुहावरो और वाक्य-गठन तक का प्रभाव पड़ा। शेष करना (समाप्त करना), जिज्ञासा करना (पूछना), 'सर्वनाश', 'किंकर्तव्यविमूढ' आदि प्रयोग सीधे बँगला उपन्यासों की वाक्यावली से आ गए। बहुत दिनों तक इन प्रयोगो से भाषा का पीछा नही छूट पाया। सन् १९२० के बाद जब नया उत्थान हुआ और प्रेमचद, कौशिक, सुदर्शन, जैनेंद्रकुमार आदि शक्तिशाली कथाकारो का प्रभाव व्यापक हो उठा तब भाषा इन प्रयोगो से बच गई।

बँगला उपन्यासो की देन

बँगला उपन्यासो ने हिंदी को एक ओर तो अतिप्राकृत, अतिरजित, घटना-बहुल ऐय्यारी उपन्यासो के मोहजाल से मुक्त किया और दूसरी ओर शुद्ध भारतीय सस्कृति की ओर उन्मुख किया। उनके अनुवादो ने भाषा को सस्कृत पदावली की मधुरता और गभीरता की ओर प्रवृत्त किया और कोमल भावनाओ और सुकुमार कल्पनाओं की रुचि उत्पन्न की। यद्यपि कुछ दिनो तक उसका अभिभूतकारी प्रभाव हिंदी पर छाए रहा पर सब मिलाकर उसने हिंदी कविता और गद्य की भाषा को समृद्ध ही किया। उर्दू के अतिरंजित कथानको और किस्सागोई-परक साहित्य से कुछ देर तक के लिये छुटकारा मिलना हिंदी के विकास के लिये आवश्यक था।

उर्दू मुहावरों की भाषा बन गई थी, उस समय उससे बँधे रहने पर हिंदी में उन्मुक्त कल्पना का अवकाश न मिलता। हमारा कथानक साहित्य मुहावरेबाजी और लतीफेबाजी मे देर तक अटका रहता।

जो बात उपन्यास के क्षेत्र मे सत्य है करीब-करीब वही बात कहानियो के बारे मे भी ठीक है। कहानी कहने की प्रथा कोई नई चीज नही है पर 'कहानी' नामक नया साहित्यांग आधुनिक युग की देन है। यह भी प्रेस और यातायात के नवीन साधनो की सहायता से विकसित हुआ है और लोकप्रिय बना है। शुरू-शुरू मे पश्चिमी देशो में भी उपन्यास और कहानी मे कोई भेद नही किया जाता था। परंतु जैसे-जैसे सभ्यता की भीडभब्भड बढती गई वैसे-वैसे अल्प समय-साध्य छोटे-छोटे साहित्यांगो का विकास भी होता गया। यह साहित्य का सभ्यता के साथ ताल मिलाकर चलने का प्रयास है। काव्य के क्षेत्र में लिरिक या गीतिकाव्य, नाटक के क्षेत्र मे एकांकी तथा उपन्यास और कथा के क्षेत्र मे 'कहानी' इसी प्रयास के फल हैं।

छोटी कहानियां

प्रेस और यातायात के नवीन साधनो के प्रचार के पूर्व भारतीय साहित्य अपने प्राचीन कहानी-कला के परिचित मार्ग से थोडा हट चुका था। फारसी कहानियो के संपर्क से लैला-मजनूँ, शीरी-फरहाद, किस्सए-गुलेबकावली आदि के ढंग की कहानियाँ प्रचलित हो गई थी जिनमें मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियो को सहलाना ही प्रधान लक्ष्य हो गया था। फारसी साहित्य के आदर्श और ऐकांतिक ढंग के प्रेम-कथानक भी इसी हल्की मनोवृत्ति के शिकार हो गए थे। आदिम शक्तियो को उत्तेजित करने के लिये जिन

आधुनिक कहानियो के पहले की अवस्था

कौशलो का सहारा लिया जाता था वे एकदम अस्वाभाविक और रुचि-वहिर्भूत थे। अतिप्राकृत प्रसगो की योजना, उडनेवाली परियो का वरावर आ उपस्थित होना, इशारों और सकेतात्मक प्रतीको की ठेलमठेल के कारण इनमे कहानी का सहज कहानीपन गायव हो जाता है। हिंदुस्तानी कथानक-रूढियो और फारसी कहानीगत अभिप्रायो के सवसे निम्न स्तर के अवयवो के सम्मिश्रण से जो साहित्य वन रहा था वह न वहुत उच्च कोटि का ही वन सका और न कभी अभिजात साहित्य के महल की देहली ही लाँघ सका। परंतु नये युग के आने के वाद तक उसका खँखेरा सूखा नही था। 'किस्सा तोता मैना', 'छवीली भटियारिन', 'किस्सा साढे तीन यार', 'एक रात मे चालीस खून' जैसी कहानियो में यही विकृत रुचि सुरक्षित रह गई है। इस मनोवृत्ति का ही ईषत् संस्कृत रूप तिलस्मी और ऐय्यारी कहानियों मे आया, पर सही वात यह है कि साहित्य के मदिर मे प्रवेश पाने की योग्यता इनमें नही थी।

मुंशी इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' को कई आलोचको ने हिंदी की प्रथम कहानी माना है। परतु वह नई परपरा की आरभिक कहानी नही है वल्कि मुस्लिम प्रभावापन्न परपरा की अंतिम कहानी है (जो साहित्य के मदिर में प्रवेश पाने का गौरव पा सकी है)। यह भी अस्वाभाविक और अतिमानुषिक प्रसंगो से भरी है और यद्यपि इसमें रुचि-विगर्हित तत्त्व कम हे तथापि उनका एकदम अभाव भी नही है। भाषा मे हल्का-फुलका भाव है। इसकी भाषा और शैली में आधुनिक कहानी-कला का थोडा आभास मिल जाता है पर यह वात उर्दू और फारसी के समूचे कथा-साहित्य की ही विशेषता है। मुंशी जी के

भारतेंदु काल तक कहानी-कला अविकसित रही

समकालीन लेखको में से प्राय. सबने कोई-न-कोई कहानी तो लिखी है, पर इन धार्मिक और पौराणिक कहानियो से भी आधुनिक कहानी-कला का दूर का ही सबध है। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की लिखी बताई जानेवाली कहानी 'राजा भोज का सपना' और भारतेंदु हरिश्चद्र लिखित समझी जानेवाली कहानी 'अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' कथचित् आधुनिकता के लक्षणो मे सपन्न मानी जा सकती हैं। इनमे भी परिवर्ती कहानी की शैली मे अधिक आधुनिकता है परतु आधुनिक कहानी मे लेखक का जो एक वैयक्तिक मत और अतर्निहित उद्देश्य आवश्यक होता है वह इनमें बहुत अस्पष्ट है। सही बात यह है कि भारतेंदु युग में यद्यपि हमारे साहित्य में आधुनिकता का सस्पर्श हो आया था पर वह पूर्णरूप से आधुनिक नही हो पाया था। एक ओर तो उसमें प्राचीनता का मोह बना हुआ था, दूसरी ओर नवीनता को ग्रहण करने का औत्सुक्य आ चुका था। उसमे कहानी का आधुनिक रूप विकसित नही हो पाया। यथासंभव कम पात्रो और कम शब्दो का प्रयोग करके उन्ही के सहारे कथानक, पात्र, वातावरण और प्रभाव आदि की सृष्टि करने का कोई प्रयास इस काल में नही हुआ।

वास्तविक कहानी का आरभ

वस्तुत बीसवी शताब्दी में जब 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ तभी वास्तविक अर्थों में कहानी लिखना शुरू हुआ। प्रथम-प्रथम तो शेक्सपियर के कुछ नाटकों को कहानी के रूप में लिखने का प्रयत्न हुआ फिर सस्कृत की 'रत्नावली', 'मालविकाग्निमित्र' जैसे नाटको और 'कादम्बरी' जैसी कथाओ को कहानी रूप में कहने का प्रयत्न किया गया। स्पष्ट ही लेखको की रुचि रोमास की ओर अधिक थी। इन कहानियो को न तो मौलिक कहानी ही कहा जा सकता है और न अनुवाद ही,

परतु इनमे कहानी के माध्यम से साहित्यिक रुचि जागृत करने का प्रयास अवश्य था। इनका चुनाव सूचित करता है कि लेखकगण पिछल खेवे के अतिमानुषिक प्रसंगों और रुचि-वहिर्गत वातावरण की योजना को सपूर्ण रूप से छोड चुके थे और इस समय कथानको को नये ढंग से उपस्थित करने का प्रयास करने लगे थे। सन् १६०० में प० किशोरीलाल गोस्वामी ने 'टेम्पेस्ट' को छाया लेकर एक कहानी लिखी जिसमे वातावरण तो भारतीय था पर मूल कथानक को ही उसमे गूँथने का प्रयास था। इसे ही हिंदी की सर्वप्रथम कहानी कहा जाता है। निस्सदेह इसमे अच्छी कहानी के कई गुण थे पर यह वस्तुत अग्रेजी नाटको की छाया पर आधारित अर्द्ध अनुवादित कहानियो से सिर्फ इस बात में भिन्न थी कि लेखक ने यह प्रयत्न किया था कि कहानी मौलिक जान पड़े। श्री किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी के बाद मार्मिक भावप्रधान कहानी प० रामचद्र शुक्ल ने लिखी। यह कहानी ('ग्यारह वर्ष का समय') आधुनिकता के लक्षण से युक्त अवश्य थी और किशोरीलाल जी की पूर्व प्रकाशित दोनों कहानियो से श्रेष्ठ थी फिर भी 'दुलाईवाली' मे जैसा निखार है वैसा इसमे नही है। सन् १६०० से १६१० तक का काल हिंदी कहानियो का प्रयोगकाल कहा जा सकता है।

किशोरीलाल जी की इस कहानी के पश्चात् कुछ उपदेश-मूलक कहानियाँ प्रकाशित हुई। विद्यानाथ शर्मा की 'विद्या बहार' और मैथिलीशरण गुप्त की 'निन्यानबे का फेर' ऐसी ही कहानियाँ थी। इनमें कहानी की नई कारीगरी का थोड़ा आश्रय अवश्य लिया गया था, पर आधुनिकता निखर नही पाई थी। 'सुदर्शन' नामक मासिक पत्र में श्री माधवप्रसाद मिश्र की कहानियाँ निकल रही थी जिनमें प्राचीन आख्यायि-काओ की शैली थी। सन् १६०७ में श्री बग महिला की

'दुलाईवाली' नाम की कहानी प्रकाशित हुई जिसमे एक छोटी-सी घटना को लेकर सामान्य मनुष्यता को प्रभावित करने योग्य यथार्थवादी चित्रण था। बहुतो ने इसे ही हिंदी की प्रथम कहानी माना है। इन दिनो स्वामी सत्यदेव, विश्वभरनाथ जिज्जा, गिरिजाकुमार घोष की कहानियाँ भी प्रकाशित हुई। वृदावनलाल वर्मा की पहली कहानी 'राखीवंद भाई' १९०७ ई० मे छपी और मैथिलीशरण गुप्त की कहानी 'नकली किला' भी इसी समय प्रकाशित हुई।

सन् १९११ ई० में 'इदु' का प्रकाशन हुआ। इसमे जयशकर प्रसाद जी की सभवत प्रथम कहानी 'ग्राम' (१९११ ई०) प्रकाशित हुई। श्री गगाप्रसाद श्रीवास्तव की प्रथम हास्यरस की कहानी 'पिकनिक' भी इसी साल प्रकाशित हुई और इन्ही दिनो 'भारत मित्र' मे पं० चद्रधर शर्मा गुलेरी की प्रथम कहानी 'सुखमय जीवन' भी छपी। ये तीनो लेखक आगे चलकर हिंदी साहित्य में प्रख्यात हुए।

प्रसाद और गुलेरी की कहानियाँ

चद्रधर शर्मा की कहानियो की सख्या तो बहुत थोडी है पर इन स्वल्प रचनाओ के बल पर ही वे साहित्य मे अपूर्व गौरव के अधिकारी हुए है। सन् १९१२ ई० मे प्रसाद जी की दूसरी कहानी 'रसिया बालम' प्रकाशित हुई। प्रथम बार उनकी कल्पना-प्रधान आदर्श चित्रणकला का इसी में प्रस्फुटन हुआ। फिर ज्वालाप्रसाद शर्मा की 'विधवा' और 'तस्कर', और विश्वभरनाथ 'कौशिक' की प्रथम कहानी 'रक्षा-बधन' (१९१३ ई०) प्रकाशित हुई। सन् १९१५ की सरस्वती में चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी की अत्यंत महत्त्वपूर्ण कहानी 'उसने कहा था' प्रकाशित हुई।

सन् १९१६ ई० मे प्रेमचद की प्रथम कहानी 'पच परमेश्वर' प्रकाशित हुई। इस कहानी में यथार्थोन्मुख आदर्श

का ऐसा सुन्दर चित्रण था कि इसने उस समय लिखी जाने-वाली सभी कहानियो का रंग फीका कर दिया। महिमा में इस कहानी की प्रतिद्वंद्विता पहले की लिखी हुई सिर्फ एक कहानी--'उसने कहा था'--कर सकती है। इन दोनों कहानियो का महत्व केवल सामायिक नहीं था। ये 'सार्वदेशिक' और सार्वकालिक सत्य का संदेशा लेकर आई थी।

प्रेमचंद की कहानियो का प्रकाशन हिंदी के कथा-साहित्य की बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है। 'पंच परमेश्वर' नामक कहानी ने प्रथम बार आधुनिक पाठक के सामने देश में फैली हुई असंख्य जनता के भीतर निवास करनेवाली परम शक्तिशालिनी दैवी शक्ति का उद्घाटन किया। यह कहानी मनुष्य जीवन की यथार्थ जटिलताओं के भीतर से निकलकर उसकी यथार्थ समस्याओ को स्पर्श करती है और सत्य को स्वीकार करने की उस महिमाशालिनी क्षमता का परिचय देती है जो अनेक व्यवधानो के कारण सहज ही नहीं दिखाई देती। थोड़े समय बाद प्रेमचंद की दूसरी हिंदी कहानी--'आत्माराम' प्रकाशित हुई। इसमें भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और यथार्थता के भीतर से मनुष्य हृदय की विशालता उद्घाटित हुई। प्रभावोत्पादकता और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ये कहानियाँ उन दिनो भी बेजोड़ थी और आज भी वैसी ही बनी हुई हैं।

प्रेमचंद का आगमन

इसी समय सुदर्शन जी की 'कमल की बेटी' नामक कहानी प्रकाशित हुई। इसमें भी नई कहानी-कला निखर कर प्रकट हुई थी। इस प्रकार इस काल में सच्ची आधुनिक कहानियो का जन्म हुआ। कथानक रूप और शैली की दृष्टि से इन कहानियों ने पुराने ढर्रे की कहानियो मे बहुत बड़ा परिवर्तन ला दिया और

सुदर्शन

जोवन के विशाल क्षेत्रो को उद्घाटित किया। फिर तो नये ढंग की कहानियाँ तेजी से लिखी जाने लगी। इस काल में चतुरसेन शास्त्री, राजा राधिकारमण, शिवपूजन सहाय, हृदयेश, गोविंदवल्लभ पंत, ज्वालादत्त शर्मा, पदुमलाल, पुन्नालाल वख्शी, गोपालराम गहमरी, गगाप्रसाद श्रीवास्तव, वृंदावनलाल वर्मा, रायकृष्णदास आदि कहानीकारो की रचनाएँ प्रकाशित हुईं और हिंदी का कहानी साहित्य बहुत तेजी से आगे वढा।

यथार्थवादी चित्रण आवश्यक है

उपन्यास और कहानी के लिये यथार्थवादी चित्रण की थोडी-वहुत आवश्यकता रहती ही है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासो और कहानियो को मानव-जीवन का यथार्थ चित्रण ही कहा है। कभी यथार्थवादी कहानीकार मर्यादा की सीमा अतिकम कर जाते है इसलिये 'यथार्थवाद' शब्द बहुत गलतफहमी का शिकार बन गया है। प्रसग आ गया है, इसलिये उसके सबध मे विचार कर लिया जाय।

यथार्थवाद का अर्थ

साहित्य मे यथार्थवाद शब्द का प्रयोग नये सिरे से होने लगा है, यह अग्रेजी साहित्य के 'रियलिज्म' शब्द के तौल पर गढ लिया गया है। यथार्थवाद का मूल सिद्धात है, वस्तु को उसके यथार्थ रूप मे चित्रित करना। न तो उसे कल्पना के द्वारा विचित्र रगो से अनुरजित करना, और न किसी धार्मिक या नैतिक आदर्श के लिये उसे काट-छाँटकर उपस्थित करना। यूरोपियन साहित्य में 'रियलिज्म' का व्यवहार 'रोमेन्टिसिज्म' (स्वच्छदतावाद) और 'आईडियलिज्म' (आदर्शवाद) के विरुद्ध अर्थ में हुआ। यथार्थवाद के विरोधी लेखको ने इस दृष्टि से लिखे हुए उपन्यासो और काव्यो को 'फोटोग्रैफिक' चित्रण कहा है। अर्थात् जिस प्रकार कैमरा

वस्तु के प्रत्येक अवयव और वातावरण को ज्यो-का-त्यो उपस्थित कर देता है, न घटाता है, न बढाता है, उसी प्रकार लेखक वक्तव्य-वस्तु को ज्यो-का-त्यो उपस्थित करता है, अपने राग-विराग से उसे कुछ-का-कुछ बनाकर नही उपस्थित करता। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये यथार्थवादी लेखक कुछ कौशलो का आश्रय लेता है। वह (१) वक्तव्य-वस्तु के इर्द-गिर्द की प्रत्येक बात का व्यौरेवार विवरण उपस्थित करता है, और गदी और घिनौनी समझी जानेवाली चीजो का विशेष रूप से उल्लेख करता है; (२) समसामयिक घटनाओ और रीति-रस्मो का विस्तारपूर्वक उल्लेख करता है; (३) वक्तव्य वस्तु के साथ अत्यत क्षीण सूत्र से संबद्ध नगण्य व्यक्तियो की भी चर्चा करता है, (४) भिन्न-भिन्न पात्रो की बोलियो का हू-ब-हू लेखन करता है, और उनमें यदि जुगुप्सित अश्लील गालियाँ भी हो, तो उन्हें ज्यो-का-त्यों रख देने मे नही हिचकता, (५) विभिन्न व्यवसाय और पेशे के लोगो की पारिभाषिक शब्दावली को चुन-चुनकर सग्रह और व्यवहार करता है; (६) घटना की सचाई का वातावरण उपस्थित करने के लिये चिट्ठियो, सनदो और अन्य प्रामाणिक समझी जाने योग्य बातो को उपस्थित करता है।

रोमास के पक्षपातियो ने यथार्थवादी चित्रण पर बड़ा कठोर आघात किया है, कभी-कभी इसे प्रकृतिवाद (नैचरलिज्म) के साथ घुला दिया गया है। प्रकृतिवाद भी उन्नीसवी शताब्दी में यूरोप के साहित्य में बहुत प्रसिद्ध मतवाद था। इसके अनुसार मनुष्य प्रकृति का उसी प्रकार से क्रमशः विकसित जतु है, जिस प्रकार ससार के अन्य प्राणी। उसमें पशु-सुलभ सभी आकर्षण-विकर्षण ज्यो-के त्यो वर्तमान है। प्रकृतिवादी लेखक मनुष्य को काम,

रोमास, प्रकृतिवाद और यथार्थवाद

क्रोध आदि मनोरागो का गट्ठर मात्र समझता है, और उसके अर्थहीन आचरणो, कामासक्त चेष्टाओ और अहकार से उत्पन्न धार्मिक वृत्तियों का विशेष भाव से उल्लेख करता है। यथार्थवादी लेखक ठीक इन्ही सिद्धान्तो को नही मानता, परतु मनुष्य की ब्यौरेवार चेष्टाओ के चित्रण करते समय कभी-कभी प्रकृतिवादी लेखक के समानातर चलने लगता है। वस्तुत: यथार्थवाद का उल्टा शब्द आदर्शवाद है और प्रकृतिवाद का उल्टा शब्द मानवतावाद, क्योकि मानवतावादी लेखक मनुष्य को पशु-सामान्य धरातल से ऊपर का प्राणी मानता है। वह त्याग और तप को मनुष्य का वास्तविक धर्म मानता है। वह विश्वास करता है कि यद्यपि मनुष्य में बहुत पशु-सुलभ वृत्तियाँ रह गई है, तथापि वह पशु नही है। वर्षो की साधना से उसने अपने भीतर त्याग, तप, सौदर्य-प्रेम और पर-दु ख-कातरता जैसे गुणो का विकास किया है। ये गुण ही मनुष्य की मनुष्यता की निशानी है। इस प्रकार मानवतावादी लेखक प्रकृतिवादी लेखक के ठीक उल्टे रास्ते पर चलता है। यथार्थवाद सब समय मानवतावाद का विरोधी नही; परतु ऐसे अवसर आते है, जब यथार्थवादी लेखक मानवतावाद के विरुद्ध चला जाता है।

हिंदी के उपन्यासो और कहानियों मे क्रमश. इस यथार्थवादी दृष्टि की प्रतिष्ठा बढती गई परतु वे न तो पूर्णत· यथार्थवादी हुए न पूर्णत: रोमांस। भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटको में ही यथार्थवादी दृष्टि का प्रमाण मिल जाता है। प्रेमचंद, कौशिक और सुदर्शन की आरभिक कहानियो में भी घटनाओ को वास्तविकता के निकट रखने का पूरा प्रयत्न है। वस्तुत पुरानी कहानियो से इन कहानियो मे मुख्य अतर यही है कि नई कहानियाँ पाठक के चित्त में वास्तविक जीवन का भान उत्पन्न करती है। इसका कारण लेखको का यथार्थ

चित्रण ही है। परतु यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि ये लेखक मूलत यथार्थवादी नही थे। इनकी रचनाओ का प्रधान स्वर मानवतावादी था।

उन्नीसवी शताब्दी मे यूरोप में प्रवल ज्ञान-पिपासा जागृत हुई थी। उन दिनो वहाँ के मनीषियो में दो बातो के बारे में विशेष मतभेद नही था। (१) प्रथम तो यह कि इस ससार में सब कुछ क्रमशः विकसित होता आ रहा है, कुछ भी जैसा है वैसा ही बन के नही आया था। मनुष्य का मन, बुद्धि, सस्कार, धर्म, मत, सब कुछ क्रमशः विकसित हुए है। उसके धार्मिक विश्वास का भी विकास क्रमश. ही हुआ है। सृष्टि-परंपरा मे मनुष्य का विकास अद्भुत बात है। वह इस सृष्टि-प्रक्रिया का सबसे उत्तम, सबसे सुकुमार अतएव सबसे अधिक आदरास्पद और महत्त्वपूर्ण वस्तु है। इसी विचार-पद्धति को किसी-किसी ने ऐतिहासिक दृष्टि नाम दिया है। आज के सभी शास्त्रो के विचारक उसकी विकास परपरा को इसी क्रमश विकसित होनेवाली सृष्टि-प्रक्रिया का फल मानते है। यह ऐतिहासिक दृष्टि आज के शिक्षित व्यक्ति की निजी दृष्टि हो गई है। (२) दूसरा प्रधान विश्वास यह था कि मनुष्य को सुखी बनाना, उसे सब प्रकार की आर्थिक और राजनीतिक गुलामी से मुक्त करना और उसे रोग-शोक के चगुल से छुडाना ही सब प्रकार के शास्त्रो और विद्याओ का पधान लक्ष्य है। मनुष्य को किसी परलोक में अनत सुखो का अधिकारी वनाना दूसरी वात है और उसे इसी नश्वर जगत् में इसी मर्त्यकाया मे सुखी वनाना विल्कुल दूसरी वात है। इस मनुष्य को इसी मर्त्यकाया में इसी दुनियाँ में सुखी बनाने का लक्ष्य क्या है ? उत्तर यह है कि मनुष्य अद्भुत शक्तियो का भाडार है। उसने अनेक त्याग और

मानवतावादी दृष्टि

आत्मदमन के बाद अपने भीतर अनेक सद्‌गुणो का विकास किया है, वह पशु-सामान्य धरातल से जो ऊपर उठ सका है, इसका कारण यह है कि उसने अपने भीतर त्याग की, तपस्या की और आत्मसयम की बुद्धि विकसित की है। उसके भीतर सभावनाएं अनक हैं। इसी मर्त्यलोक को अद्‌भुत अपूर्व शातिस्थल बनाने की क्षमता इस मनुष्य में है। इसी दृष्टि को उन दिनो मानवतावादी कहा गया था। यह सिद्धांत केवल लोकप्रिय ही नही हुआ, वह आधुनिक सस्कृति का मेरुदड सिद्ध हुआ है। उन्नीसवी शताब्दी के मानवतावादी विचारक बहुत आशावादी थे। उस समय जो शिक्षा-पद्धति सोची गई उसके केद्र मे यह मानवतावादी विचार-धारा थी। उस काल की सभी व्यवस्थाओ के केद्र मे मानवता-वादी दृष्टि का हाथ था। भारतवर्ष मे भी वही शिक्षा-पद्धति आई। इस शिक्षा-पद्धति मे जो लोग शिक्षित हुए वे मनुष्य की महिमा मे अपार विश्वास लेकर विद्यालयो से निकले। प्राचीन धर्मभावना मे मनुष्य को परलोक मे सुखी बनाने का संकल्प था, नई मानवता पर आधारित धर्मभावना मे मनुष्य को इसी मर्त्यकाया मे सुखी बनाने का सकल्प था। स्पष्ट रूप से पुरानी धर्मभावना का विरुद्धगामी दृष्टिकोण विकसित हुआ। फलस्वरूप आचारो, विश्वासो और क्रियाओ के मूल्यो मे बड़ा अतर आ गया। ईश्वर और मोक्ष को मानना, न मानना, गौण बात हो गई, मनुष्य को इसी लोक मे सुखी बनाना मुख्य। प्रेमचद ने अपने एक मौजी पात्र से कहलवाया है—"जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इस पर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है जो हमारी मानवता को नष्ट किए डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वही ईश्वर है, और जीवन को सुखी बनाना ही मोक्ष और उपासना है।

ज्ञानी कहता है होठो पर मुस्कुराहट न आवे, आँखो में आँसू न आवे। मै कहता हूँ, अगर तुम हँस नही सकते, रो नहीं सकते, तो तुम मनुष्य नही पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नही कोल्हू है।" इस उद्धरण में आधुनिक मानवतावादी दृष्टि वहुत स्पष्ट हुई है। वीसवी शताब्दी के सभी हिंदी लेखक इस मानवतावादी दृष्टि से प्रभावित थे पर सबके विचारो मे फिर भी एक्य नही था क्योंकि मानवतावाद भी विभिन्न लेखको की रुचि और सस्कारो से प्रभावित होकर कुछ भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रकट हुआ।

मानवतावाद और राष्ट्रीयतावाद

यूरोप में भी मनुष्य को इसी जीवन में सुखी वनाने की दृष्टि ने स्वदेशी राष्ट्रीयतावाद के आंदोलन को वल दिया। व्यवहार में उसे अपने देश के मनुष्यो तक ही सकुचित वनना पड़ा और मशीनो के नवीन साधनो से सपन्न व्यवसायियो के लिये अपनी सपत्ति वढाने और दूसरे देशो का शोषण करने का अस्त्र सिद्ध हुआ। इस देश में समस्या दूसरी थी। यहाँ राष्ट्रीयता का विकास हो रहा था परंतु वह शोषण से मुक्ति पाने का प्रयासी था। इसलिये शुरू-शुरू मे मानवतावादी दृष्टि के साथ राष्ट्रीयतावादी दृष्टि का कोई सघर्ष नही हुआ। उस काल के सभी लेखको और कवियो में दोनो ही दृष्टिकोण प्राप्त होते है। परतु साहित्य-क्षेत्र में मूल चालक मनोवृत्ति मानवतावाद ही थी। इस मानवतावादी दृष्टि के पेट से ही काव्य में छायावाद का जन्म हुआ और उपन्यास और कहानियो के क्षेत्र में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक शोषण से विद्रोह करने वाली स्वच्छदतावादी प्रेमधारा का भी जन्म हुआ। बीसवी शताब्दी के उपन्यासो, कहानियो और काव्यो का प्रधान स्वर शोषित के प्रति सहानुभूति का है। इस साहित्य में शोषित

के प्रति केवल सहानुभूति ही नहीं मिलती बल्कि यह विश्वास भी प्राप्त करता है कि जो शोषित है वह यदि शोषण से मुक्त हो जाय तो उसमें सब प्रकार के सद्गुणों का विकास हो जाता है। प्रेमचंद, सुदर्शन और कौशिक सब की कहानियों में यह स्वर मिलता है। सब मनुष्य को सद्गुणों का आश्रय मानते है। सबका विश्वास है कि झटका लगते ही मनुष्य अपने उस सहज स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है जो मानवीय गुणो का मूर्तरूप है। इन लेखको में सबसे शक्तिशाली और प्रमुख प्रेमचद थे। पहले वे उर्दू में लिखते थे, बाद में हिंदी में भी लिखने लगे। पहले तो उनकी कहानियाँ प्रकाशित हुईं, बाद में उनके उपन्यास भी हिंदी में प्रकाशित होने लगे। नवीन शिक्षा मे शिक्षित मनुष्य जो खोज रहे थे वह उन्हे प्रमचद मे प्राप्त हुआ। देखते-देखते प्रेमचद हिंदी मे अत्यत लोकप्रिय लेखक बन गए। उनका प्रभाव इसका सबूत है कि वे वर्तमान काल के शिक्षित चित्त के अनुकूल सोच रहे थे। यद्यपि इनकी श्रेष्ठ रचनाएँ १९२० ई० के बाद लिखी गई फिर भी इसी स्थान पर प्रेमचंद के महत्त्व की चर्चा कर लेना अप्रासंगिक नही होगा।

प्रेमचद का जन्म बनारस के पास ही एक गाँव में एक निर्धन परिवार में हुआ था। उन्होने आधुनिक शिक्षा पाई नही थी, बटोर कर संग्रह की थी। मैट्रिक पास करते-करते उनकी आर्थिक स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि अपना निर्वाह वे पुरानी पुस्तकें बेच कर भी नही कर सकते थे। उन्होने स्कूल में मास्टरी कर ली थी और स्कूलो के डिप्टी इस्पेक्टर होने तक की अवस्था तक पहुँच चुके थे। महात्मा गाधी की पुकार पर उन्होने सरकारी नौकरी छोड़ दी और जीवन की अतिम घड़ियों तक कशमकश और सघर्ष का जीवन

प्रेमचद

बिताया । वे दरिद्रता मे जनमे, दरिद्रता मे पले और दरिद्रता से ही जूझते-जूझते समाप्त हो गए । फिर भी वे अपने जीवन-काल में समस्त उत्तरी भारत के सर्वश्रेष्ठ कथाकार बन गए थे ।

उन्होंने अपने को सदा मजदूर समझा । बीमारी की हालत मे भी, मृत्यु के कुछ दिन पहले तक भी, वे अपने कम-शरीर को लिखने के लिये मजबूर करते रहे । मना करने पर कहते, "मैं मजदूरी हूँ, मजदूरी किये बिना मुझे भोजन करने का अधिकार नही ।" उनके इस वाक्य में अभिमान का भाव भी था और अपने नाकद्रदान समाज के प्रति एक व्यग्य भी । लेकिन असल में वे इसलिये नही लिखते थे कि उन्हें मजदूरी करना लाजिमी था वल्कि इसलिये कि उनके दिमाग मे कहने लायक इतनी वातें आपस मे धक्का-मुक्की करके निकलना चाहती थी कि वे उन्हे प्रकट किए बिना रह नही सकते थे । उनके हृदय में इतनी वेदनाएँ, इतने विद्रोह भाव और इतनी चिनगारियाँ भरी थी कि वे उन्हें सम्हाल नही सकते थे । उनका हृदय अगर इन्हें प्रकट न कर देता तो वे शायद पहले ही वंधन तोड़ देते । विनय की वे साक्षात् मूर्ति थे, परंतु यह विनय उनके आत्माभिमान का कवच था । वे बड़े ही सरल थे, परतु दुनियाँ की धूर्तता और मक्कारी से अनभिज्ञ नही थे । उनके ग्रंथ इस बात के प्रमाण है । ऊपर-ऊपर से देखने पर अर्थात् राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारो के साथ तुलना करने पर, वे बहुत निर्धन थे, लोग उनकी इस निर्धनता पर तरस खाते थे, परंतु वे स्वय नीचे, की ओर देखने वाले थे । लाखों और करोडो की तादाद मे फैले हुए भुक्खडो, दाने-दाने को और चिथड़े-चिथड़े को मुहताज लोगों की वे जवान थे । उन्हें भी देखते थे इसलिये अपने को निर्धन समझकर हाय-हाय नहीं करते थे । इसको वे

वरदान समझते थे। दुनिया की सारी जटिलताओं को समझ सकने के कारण ही वे निरीह थे, सरल थे। धार्मिक ढकोसलों को वे ढोंग समझते थे, पर मनुष्यता को वे सबसे बड़ी वस्तु मानते थे।

प्रेमचद का महत्त्व

प्रेमचंद शताब्दियों से पददलित, अपमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज थे, पर्दे मे कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे, गरीबों और बेकसो के महत्त्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकाक्षा, दु ख-सुख, और सूझ-बूझ जानना चाहते है तो प्रेमचद से उत्तम परिचायक आपको नही मिल सकता। झोपडियो से लेकर महलो तक, खोमचेवालो से लेकर बैंको तक, गॉव से लेकर धारासभाओ तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नही ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचद का हाथ पकडकर मेडो पर गाते हुए किसान को, अत पुर मे मान किए प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वारवनिता को, रोटियो के लिये ललकते हुए भिखमगो को, कूट परामर्श मे लीन गोयेन्दो को, ईर्षा-परायण प्रोफेसरो को, दुर्बल हृदय बैकरो को, साहस-परायण चमारिन को, ढोगी पडितो को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते है और निश्चित होकर विश्वास कर सकते है कि जो-कुछ आपने देखा वह गलत नही है। उससे अधिक सचाई से दिखा सकनेवाले परिदर्शक को अभी हिंदी-उर्दू की दुनियाँ नही जानती। परंतु सर्वत्र ही आप एक बात लक्ष्य करेगे। जो संस्कृतियो और सपदाओ से लद नही गए है, जो अशिक्षित और निर्धन है, जो गँवार और जाहिल है, वे उन लोगो की अपेक्षा अधिक आत्मबल

रखते है और अधिक न्याय के प्रति सम्मान दिखाते है जो शिक्षित है, जो सुसस्कृत है, जो संपन्न है, जो चतुर है, जो दुनियाँदार है, जो शहरी है यही प्रेमचद का अपना जीवन-दर्शन है ।

प्रेमचंद ने अतीत गौरव का पुराना राग नही गाया और न भविष्य की हैरत-अगेज कल्पना ही की । वे ईमानदारी के साथ वर्त्तमान काल की अपनी वर्त्तमान अवस्था का विश्लेषण करते रहे । उन्होने देखा कि बंधन भीतर का है, बाहर का नही । एक बार अगर ये किसान, ये गरीव, यह अनुभव कर सके कि संसार की कोई भी शक्ति उनको नही दबा सकती तो वे निश्चय ही अजेय हो जाएँगे । बाहरी बंधन उन्हें दो प्रकार के दिखाई दिए—भूतकाल की सचित स्मृतियो का जाल और भविष्य की चिता से बचने के लिये सगृहीत धन-राशि । एक का नाम है सस्कृति और दूसरे का सपत्ति। एक का रथ-वाहक है धर्म और दूसरे का राजनीति । प्रेमचंद इन दोनो को मनुष्यता का बाधक मानते है । एक जगह अपने मौजी पात्र (मेहता) से कहलाते है—"मै भूत की चिता नही करता, भविष्य की परवाह नही करता । भविष्य की चिता हमे कायर बना देती है । भूत का भार हमारी कमर तोड देती है । हममें जीवनी शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य मे फैला देने से वह क्षीण हो जाती है । हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर रूढ़ियो और विश्वासों तथा इतिहासो के मलवे के नीचे दबे पड़े है । उठने का नाम नही लेते । वह सामर्थ्य ही नही रही । जो शक्ति, जो स्फूर्ति, मानव धर्म को पूरा करने में लगानी चाहिए थी, सहयोग में, भाईचारे में, वह पुरानी अदावटों का बदला लेने और बाप-दादो का ऋण चुकाने में भेंट हो जाती है ।"

प्रेमचद का वक्तव्य

प्रेमचंद के मत में प्रेम एक पावन वस्तु है। वह मानसिक गंदगी को दूर करता है, मिथ्याचार को हटा देता है और नई ज्योति से तामसिकता का ध्वंस करता है। प्रेम का स्वरूप यह बात उनकी किसी भी कहानी और किसी भी उपन्यास में देखी जा सकती है। यह प्रेम ही मनुष्य को सेवा और त्याग की ओर अग्रसर करता है। जहाँ सेवा और त्याग नहीं, वहाँ प्रेम भी नहीं, वहाँ वासना का प्राबल्य है। सच्चा प्रेम सेवा और त्याग में ही अभिव्यक्ति पाता है। प्रेमचंद का पात्र जब प्रेम करने लगता है तो सेवा की ओर अग्रसर होता है और अपना सर्वस्व परित्याग कर देता है।

इस काल के कहानी लिखनेवाले लेखकों में से कई लेखक बीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण में अत्यंत लोकप्रिय और शक्तिशाली लेखकों के रूप में प्रकट हुए। इनमें प्रमुख हैं जयशंकर प्रसाद (जो संक्षेप में 'प्रसाद' नाम से ही परिचित हैं) और वृंदावनलाल वर्मा। प्रसाद जी का यश विशेषरूप से काव्य और नाटक के क्षेत्र में फैला किंतु उन्होंने कहानियाँ भी लिखी हैं और उपन्यास भी लिखे हैं। वृंदावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में यशस्वी हुए। भाषा का अनगढ़ सहज रूप, पात्रों के स्वयं विकसित होने के वातावरण का सर्जन और अस्वाभाविक संवेदना को जागृत किए बिना ही मार्मिक रोमांस की योजना ने उनके उपन्यासों को बहुत लोकप्रिय बनाया। कुछ दूसरे कहानी-लेखक भी आगे चल कर अन्यान्य क्षेत्रों में यशस्वी हुए। पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी बहुत अच्छे निबंधकार और भाषा-मर्मज्ञ के रूप में, पंडित रामचंद्र शुक्ल प्रौढ निबंधकार और समालोचक के रूप में और बाबू मैथिलीशरण गुप्त सफल कवि के रूप में प्रसिद्ध हुए।

नाटको का क्षेत्र इस काल मे सूना ही रहा। पारसी थिएट्रिकल कपनियो के भौडे और रस-विगर्हित नाटक उन दिनो जनता मे वहुत अधिक प्रचलित थे। 'प्रसाद' के नाटक साहित्यिक रगमच के अभाव में साहित्यिक नाटको का विशेप अभ्युदय नही हो सका। फिर भी इस काल मे प्रसाद जी की प्रतिभा का अंकुर उद्गत हो चुका था। आगे चलकर प्रसाद जी चोटी के साहित्य-कारो मे गिने गए। उनका अध्ययन विशाल था। सस्कृत के शास्त्रो को पढने का भी उन्हे अवसर मिला था और अंग्रेजी और बँगला के माध्यम से नवीन चेतना को समझने का भी सुयोग उन्हे प्राप्त हुआ था। प्रसाद जी के पूर्व कम लोगो का ध्यान भारतवर्ष के मुस्लिमपूर्ण इतिहास की ओर गया था। प्रसाद जी ने परिश्रमपूर्वक अपने प्राचीन इतिहास का मंथन किया। उनके नाटको और काव्यो मे इस गंभीर अध्ययन का परिचय मिलता है। उन दिनो आर्य-समाज के आदोलन के प्रभावस्वरूप यह विश्वास जनता में व्याप्त था कि जो कुछ अच्छा है, या हो सकता है, वह सब प्राचीन भारत में था। कितने ही प्राचीन गाथा गानेवाले लेखक इस विश्वास से चालित होकर साहित्य लिखने लगे थे। परतु प्रसाद जी के नाटको में यह विश्वास थोडी मात्रा में ही मिलता है। वे प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यावली का सहारा लेते अवश्य थे, पर उनकी विनियोजना इस प्रकार करते थे कि उससे वर्तमान काल की समस्याओ का कुछ हल सूझ जाय और भावी मानवीय सस्कृनि का भी कुछ प्रकाश मिल जाय। उनके ऐतिहासिक नाटक पीछे लौटने की सलाह लेकर नही आए, आगे वढने की प्रेरणा लेकर आए थे। यद्यपि प्राचीनता का वाता-वरण उत्पन्न करने के लिये वे केवल अभिप्रायो का उपयोग न करके कुछ आगे वढकर संस्कृत-बहुला अपरिचित-सी लगने

वाली भाषा का उपयोग करते थे और कभी-कभी अपने तत्त्ववाद के स्पष्टीकरण के फेर मे पड़कर नाटक की अभिनीयता की बात एकदम भूल जाते थे, तथापि उनके नाटक महत्त्वपूर्ण है क्योकि भावी संस्कृति के निर्माण मे उनका बहुत महत्त्वपूर्ण हाथ है। कविता का वातावरण, मानवता के प्रति अटूट विश्वास गीतिकाव्यात्मक पात्रो की योजना और उदात्त भावनाओ के आवरण मे मोहक रोमास की प्रस्तावना उनके नाटकों के आकर्षक तत्त्व है।

निबध और समालोचना

निबध और समालोचना के क्षेत्र मे भी इस काल में कुछ ऐसे कृती लेखको का आविर्भाव हुआ जो आगे चलकर बहुत शक्तिशाली सिद्ध हुए। पडित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के स्पष्टवादिता से भरे हुए और नई प्रेरणा देनेवाले निबध यद्यपि बहुत गंभीर नही कहे जा सकते परंतु उन्होने गंभीर साहित्य के निर्माण मे बहुत सहायता पहुँचाई। इसी प्रकार मिश्रबंधुओ की समालोचना पद्धति यद्यपि बहुत निर्दोष नही थी परतु साहित्य के इतिहास निर्माण मे उनके परिश्रम से बहुत सहायता मिली। आगे चलकर जो कुछ भी इस दिशा में कार्य हुआ उसके प्रथम मार्गदर्शक और पुरस्कर्ता मिश्रबधु ही थे। पडित पद्मसिह शर्मा की चटुल-चपल शैली मे लिखी हुई बिहारी को श्रेष्ठ कवि सिद्ध करनेवाली समालोचना ने साहित्य को एक बार झकझोर दिया। दीर्घकाल तक उनकी अननुकरणीय शैली का गलत अनुकरण किया जाता रहा। इसी काल मे पडित रामचंद्र शुक्ल की प्रतिभा का अकुर दिखाई दिया जो आगे चलकर गंभीर विचारक और मनीषी समालोचक के रूप मे प्रख्यात हुए। शुक्ल जी के गभीर चिंतन-प्रधान निबधो ने साहित्य को बहुमूल्य निधि दी। स्वच्छ और सरस शैली के विनोदी लेखक बालमुकुद गुप्त, स्फूर्तिदायक गभीर

विवेचन के लेखो से पाठक को प्रेरणा देनेवाले पूर्णसिह और सरस भाषा में ज्ञान की अनुसधित्सा जगा देनेवाले चंद्रधर शर्मा गुलेरी इसी काल मे दिखाई दिए थे। बाबू श्यामसुंदर-दास ने भी आगे चलकर अनेक नवीन विषयो पर ग्रंथ लिख कर हिंदी को प्रौढ साहित्य की भाषा बनाया। इस प्रकार इस काल मे ऐसे अनेक कृती साहित्यकारो का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होने भाषा को समर्थ और साहित्य को समृद्ध बनाया।

नवीन युग ले आनेवाला काल

सन् १९०० से १९२० तक का काल हिंदी कविता में नवीन युग ले आनेवाला काल है। इस समय काव्य की भाषा व्रजभाषा से बदलकर खडी बोली हो गई। यद्यपि इस काल मे भी कुछ शक्ति-सपन्न कवि व्रजभाषा को अपनाए रहे परतु धीरे-धीरे व्रजभापा पीछे पड गई और खड़ी बोली आगे निकल गई। कई कवियो ने व्रजभापा मे कविता लिखना शुरू किया था। बाद मे समय का रंग देखकर उसे छोड़ दिया। इनमे से कई आगे चलकर खडी बोली के शक्ति-शाली कवि सिद्ध हुए। श्रीधर पाठक पहले व्रजभाषा मे कविता लिखते थे, बाद मे खड़ी बोली मे लिखने लगे। अयोध्यासिह उपाध्याय और प्रसाद भी पहले व्रजभाषा मे रचना करते थे। परतु इन दोनो कवियो को यश खड़ी बोली की कविता से मिला। नाथूराम शकर शर्मा खड़ी बोली मे भी व्रजभाषा का छंद.प्रवाह सुरक्षित रख सके। पं० रामचंद्र शुक्ल को भी रास्ता बदलना पड़ा। उनका 'बुद्ध चरित' व्रजभाषा में लिखा काव्य है। बाद में उन्होने खड़ी बोली मे भी कविताएँ लिखी, पर उनसे उन्हे यश कम ही मिल सका। परतु कई कवि व्रजभाषा से हटे नही। सत्यनारायण, जगन्नाथदास रत्नाकर आदि कवियो ने व्रजभाषा की भक्ति नही छोड़ी और अत तक इस भाषा को अपनाए रहे। इनमे सत्यनारा-

यण की कविता में एक सरल और अस्पष्ट स्वच्छदतावादी भावधारा का आभास मिलता है किंतु रत्नाकर जी की रचनाओ मे व्रजभाषा के सजग कवियो की भाँति भाषा का अलकरण और भावो का समंजस विधान पाया जाता है। यद्यपि ये दोनो कवि भाषा मे कोई परिवर्तन न कर सके पर भावो मे आधुनिकता की छाप उन पर पड़ी अवश्य।

खड़ी बोली के जिन कवियो ने आधुनिक सहृदयो को इस काल में मुग्ध किया उनमे सवसे अधिक उल्लेख योग्य हैं अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध' और मैथिलीशरण गुप्त। प्रसाद जी ने कुछ और आगे चल कर यश प्राप्त किया इसीलिये यहाँ उनकी चर्चा नही की जा रही है। इनमें हरिऔध जी का 'प्रिय-प्रवास' खड़ी बोली मे और सस्कृत वृत्तो मे सस्कृत महाकाव्यो की शैली पर लिखा हुआ महाकाव्य है। यद्यपि इसका बाह्य आवरण सस्कृत के पुराने महाकाव्यो के ढंग का है, पर इसका आंतरिक वक्तव्य-वस्तु काफी नवीन है। अत्यत परिचित विषय को कवि ने आधुनिक रूप दिया है। राधा यहाँ अत्यत सेवापरायणा महिला के रूप में चित्रित हुई है। प्रच्छन्न रूप से कवि के अतस्तल मे मनुष्य को इसी जीवन में सुखी बनाने का आदर्श कार्य रहा है। इसके चरित्रो मे स्वाभाविक रूप से विकसित होने की क्षमता है और सुकुमार स्थलो को निपुणता के साथ सम्हालने में कवि के अपूर्व कौशल का परिचय मिलता है। यद्यपि हरिऔध जी ने आगे चलकर मुहावरो का प्रयोग दिखाने के उद्देश्य से चौपदे भी लिखे परंतु उनका यश प्रधान रूप से 'प्रिय-प्रवास' के कारण ही है। भाषा पर इनका बहुत अच्छा अधिकार था। खड़ी बोली को जिन लोगो ने काव्य-भाषा बनने की शक्ति दी है उनमे हरिऔध जी विशेष सम्मान और गौरव के पात्र

हरिऔध

हैं। 'प्रिय-प्रवास' मे सहज सगीत, उदार सेवावृत्ति और समजस भावयोजना का बड़ा सुदर समावेश है। खड़ी बोली का यह एक प्रकार से प्रथम महाकाव्य था।

मैथिलीशरण गुप्त

किंतु इस काल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि मैथिलीशरण गुप्त थे। इन्होंने काव्य मे खडी बोली का बडा सफल प्रयोग किया। खडी बोली की प्रकृति को वे शुरू में ही पहचान गए थे। कुछ-न-कुछ संस्कृत के वर्णवृत्तो मे भी वे कविता अवश्य लिखते रहते थे परतु उनके सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य 'भारत-भारती' और 'जयद्रथवध' हरिगीतिका छंदो मे लिखे गए थे। इस छद पर उन्होने अपनी छाप लगा दी। 'भारत-भारती' मे प्राचीन भारतीय गौरव के प्रति कवि की आस्था व्यक्त हुई है। उसमें आर्य-समाज के तत्कालीन आदोलन का प्रभाव है। फिर भी कवि ने भविष्य के लिये आशा का संदेश दिया है। 'भारत-भारती' ने तत्कालीन शिक्षित जन-चित्त की आशा-आकाक्षा को बुभुक्षित रहने से बचाया। उसने किसी वडे आदर्श को प्रतिष्ठित तो नही किया लेकिन जन-चित्त को उसके प्राचीन गौरव की कहानी सुनाकर सजग और साकाक्ष वनाया। 'भारत-भारती' ने उन दिनो विदेशी शासन से मुक्ति पाने की अपूर्व प्रेरणा दी। समूचे हिंदी-भाषी प्रदेश को उद्बुद्ध और प्रेरित करने मे इस पुस्तक ने प्रशंसनीय शक्ति का परिचय दिया। तब से गुप्त जी को लोक-चित्त मे राष्ट्र-प्रीति की भावना जगानेवाले सबसे शक्तिशाली कवि के रूप मे हिंदी जगत् देखता आया है। वे सच्चे अर्थों मे राष्ट्रकवि हैं 'भारत भारती' सही अर्थो मे 'भारत-भारती' हो सकी है। परतु गुप्त जी का कवित्व 'जयद्रथवध', 'पचवटी' आदि काव्यों मे अधिक व्यक्त हुआ। बाद मे उनका यश उनके 'साकेत' नामक महाकाव्य और 'यशोधरा' और 'द्वापर' नामक गीतिकाव्यात्मक

प्रबंध-काव्यों में अधिक निखरा। इन सब ग्रंथों में गुप्त जी मर्यादाप्रेमी भारतीय कवि के रूप मे ही आए हैं। उनके ग्रंथों के सुपात्र पारिवारिक व्यक्ति हैं। भारतवर्ष के सभी मर्यादा-प्रेमी कवि परिवार के कवि रहे है। गुप्त जी मे वह परपरा पूरी मात्रा में उतरी है। उनके चित्त में परिवार-विच्छिन्न प्रेम की ऐकांतिक संवेदना जागृत करनेवाले भावावेग का बहुत अधिक मूल्य नहीं है। इसलिये वे आधुनिक काल के अत्यधिक लोकप्रिय गीतिकाव्यों की शैली को प्रयत्न करके भी नहीं अपना सके। मानवतावादी दृष्टि उनमे भी है। यही कारण है कि वे तुलसीदास की जाति के होकर भी उसी श्रेणी का भक्ति-काव्य नहीं लिख सके। उनकी दृष्टि परलोक में नहीं, इस लोक मे निबद्ध है। फिर स्वभाव से ही उनको साधकावस्था के चित्रण में रस मिलता है। उनके सभी श्रेष्ठ पात्र--उर्मिला, यशोधरा, राधिका, लक्ष्मण--साधक हैं। तुलसीदास जी सिद्धावस्था के प्रेमी थे। सब मिलाकर मैथिलीशरण गुप्त ने संपूर्ण भारतीय पारिवारिक वातावरण में उदात्त चरित्रों का निर्माण किया है। उनके काव्य शुरू से अंत तक प्रेरणा देनेवाले काव्य हैं। उनमें 'व्यक्तित्व का स्वतः समुच्छ्रित उच्छ्वास' नहीं है, पारिवारिक व्यक्तित्व का और संयत जीवन का विलास है। मैथिलीशरण गुप्त ने लगभग आधी शताब्दी तक हिंदी-भाषी जनता को निरंतर प्रेरणा दी है। महाभारत की कथा पर आधारित उनका अंतिम काव्य हाल ही में प्रकाशित हुआ है। वह भी शक्ति और स्फूर्ति देनेवाला काव्य है। गुप्त जी ने एक विशाल साहित्य का निर्माण किया है और लगभग आधी शताब्दी तक हिंदी पाठक के चित्त को रससिक्त बनाकर प्रेरणा दी है।

सन् १९०० से १९२० तक के काल में कई अन्य कवियों ने प्रकृति-प्रेम, स्वच्छंद प्रेमधारा और वैयक्तिक स्वातंत्र्य के

वातावरण तैयार करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया । श्रीधर पाठक के काव्यों ने प्रकृति-प्रेम और स्वच्छंद प्रेमधारा को पोषण दिया और

अन्य कवि

रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन', 'पथिक' आदि काव्यों में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का अस्फुट विकास हुआ । श्री सियारामशरण गुप्त की चिंतनशील कविताओं में वैयक्तिकतावादी दृष्टिकोण के स्पष्ट आकार धारण करने की कहानी है और मुकुटधर पाँडेय तथा गोपालसिंह की रचनाओं में वैयक्तिक दृष्टिकोण के प्रेममधुर रूप का विकास हुआ । कविवर माखनलाल चतुर्वेदी की नवीन राष्ट्रीय भावना को महनीय गौरव और पूजा की महिमा देनेवाली कविताओं से भी भावी वैयक्तिकतावादी कवियों का मार्ग प्रशस्त हुआ । आजकल लोग इन कविताओं का महत्त्व भूल गए हैं । इन्हें इतिवृत्तात्मक कहकर छोड़ दिया जाता है परंतु सत्य यह है कि इन्हीं और इन्हीं जैसे और अनेक कवियों ने उस महान् वैयक्तिकता-प्रधान काव्य की भूमि तैयार की जिसे छायावाद कहा जाता है और जो आज हिंदी कविता का गौरव स्वीकार किया जाने लगा है ।

यह सही है कि इन कवियों में वह विषयि-प्रधान दृष्टि स्पष्ट नहीं हो पाई जो परवर्ती काल की 'छायावादी' कही जानेवाली कविताओं की प्राणशक्ति है । परंतु यह भी सही है कि इसी काल के कवियों ने आधुनिक साहित्य का मंथन शुरू किया, भाषा को बँधी-सधी बोलियों की लीक से हटाया, उसमें नवीन भावों के प्रकाशन की क्षमता दी और नवीन भावों का अस्पष्ट, किंतु निश्चित रूप पाठक के सामने प्रस्तुत किया । ये कवि प्राचीन परंपरा के जानकार थे । कभी-कभी अनजान में वे रूढ़ियों का पालन करते थे और कभी संस्कार उन्हें रूढ़िमुक्त होने में बाधा पहुँचाते थे । परवर्ती काल के छाया-

वादी कवियो मे रूढ़ि के प्रति विद्रोह केवल चित्तगत वैपुल्य के कारण ही नही आया, अज्ञान और उपेक्षा के कारण भी आया। ये कवि ठीक अर्थो मे स्वच्छदतावादी गति कवि नही वन सके क्योकि विषय के प्रति मोह उनमें बना हुआ था।

महावीरप्रसाद द्विवेदी की मुख्य रचनाएँ—

हिंदी भापा की उत्पत्ति (१९०७), कविता-कलाप ('०७), नाट्यशास्त्र ('०२) कालिदास की निरकुशता ('१२), वेणीसहार का भावार्थ ('१३), शिक्षा ('१६), प्राचीन पडित और कवि ('१८), कविता-विलास ('१९), रसज्ञ रजन ('२०) औद्योगिकी ('२२), कालिदास और उनकी कविता ('२०), सुमन ('२३), अतंत स्मृति ('२४), सुकवि संकीर्तन ('२४), आख्यायिका सप्तक ('२७), अद्भुत आलाप ('२४), साहित्य संदर्भ ('२८), लेखाञ्जलि ('२८), दृश्य दर्शन (३६), कोविद कीर्तन ('२८), आध्यात्मिकी ('२८), समालोचना समुच्चय ('३०), पुरातत्त्व प्रसग ('३०), चरितचर्चा ('३०), साहित्य सीकर ('३०), विचार-विमर्श ('३१), आलोचनाञ्जलि ('३२), पुरावृत्त ('३३), इत्यादि।

मिश्रवधु की मुख्य रचनाएँ—

लवकुश चरित्र, रूस का इतिहास (१९०७), हिंदी नवरत्न ('११), मिश्रवधु विनोद ('१४), उसी का चौथा भाग ('३५), नेत्रोन्मीलन ('१५), पुष्पाजलि ('१६), भारत-विनय ('१६), पूर्व भारत ('१६), वीरमणि (उप० '१७), आत्म-शिक्षा ('१७), भारतवर्ष का इतिहास ('१९), सुमनाजलि और पुष्पाजलि ('०७), हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास ('३८), हिंदी साहित्य का इतिहास ('३९), इत्यादि।

श्यामसुदरदास की मुख्य रचनाएँ—

रामचंद्र शुक्ल की मुख्य रचनाएँ—

राधाकृष्णदास का जीवन चरित (१९१३), आदर्श जीवन ('१४), बुद्धचरित ('२२), काव्य में रहस्यवाद ('२९), हिंदी साहित्य का इतिहास ('३०), विचार वीथी ('३०), गोस्वामी तुलसीदास ('३३), त्रिवेणी ('३६), चिन्तामणि ('३५), रस मीमांसा, इत्यादि।

विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक की प्रसिद्ध कृतियाँ—

गल्प-मन्दिर (क० १९१९), चित्रशाला (क० '२४), मणिमाला (क० '२९), माँ (उप० '२९), भिखारिणी (क० '२९), कल्लोल (उप० '२९), पेरिस की नर्तकी (क० '४०), इत्यादि।

श्रीधर पाठक (१८५९–१९२८ ई०) की मुख्य रचनाएँ—

मनोविनोद (भाग १–३, १८८२, १९०५, १९१७), जगत सचाई सार (१८८७), घन विनय (१९००), गुनवन्त हेमन्त (१९००), काश्मीर सुषमा ('०४), वनाष्टक ('१२), देहरादून ('१५), गोखले गुणाष्टक ('१५), गोखले प्रशस्ति ('१५), गोपिका गीत ('१६), तिलस्माती मुँदरी ('१६), भारत गीत ('१८), ऊजड़ ग्राम, एकान्तवासी योगी, इत्यादि।

अयोध्यासिंह उपाध्याय (१८६९–१९४५ ई०) की मुख्य रचनाएँ—

प्रद्युम्न विजय (ना० १८९३), प्रेमकान्ता (उप० १८९४), रुक्मिणी परिणय (ना० १८९४), ठेठ हिंदी का ठाठ (उप० १८९९), रसिक रहस्य (का० १८९९), प्रेमाम्बु वारिधि (का० १९००), प्रेम प्रपंच (का० १९००), प्रेमाम्बु प्रश्रवण (का० '०१), प्रेमाम्बु प्रवाह (का० '०१), उपदेश कुसुम (धर्म '०१), प्रेम पुष्पहार (का० '०४), उद्बोधन (का० '०६) अधखिला फूल (उप० '०७), काव्योपवन (का० '०९), प्रियप्रवास (का० '१४), कर्मवीर (का० '१६), पद्य प्रमोद (का० '२७), बाल विनोद (का० '१७), ऋतु मुकुर (का० '१७)।

रामनरेश त्रिपाठी के मुख्य ग्रंथ—

वीरांगना (उप० १९११), वीरबाला (उप० '११), मारवाड़ी और पिशाचिनी (उप० '१८), कविता विनोद (काव्य '१४), मिलन (का० '१८), क्या होम रूल लोगे (का० '१८), पथिक (का० '२१), सुभद्रा (ना० '२४), लक्ष्मी (उप० '२४), मानसी (का० '२७), स्वप्न (का० '२९), जयन्त (ना० '३३), प्रेमलोक (ना० '३४), तुलसीदास (आलोचना), मालवीयजी के साथ तीस दिन (१९४२) इत्यादि।

जगन्नाथदास रत्नाकर की मुख्य रचनाएँ—

समस्या पूर्ति (का० १८९०), हिंडोला (का० १८९४), समालोचनादर्श (१८९६), हरिश्चन्द्र (१८९९), गंगावतरण (१९२८), उद्धव शतक ('३०), बिहारी रत्नाकर (टीका), इत्यादि।

श्री सियारामशरण गुप्त की मुख्य रचनाएँ—

मौर्य विजय) का० (१९१४), अनाथ (का० '२१), आर्द्रा (का० '२८), विषाद (का० '२९), दूर्वादल (का० '२९), गोद (उप० '३२), आत्मोत्सर्ग (का० '३३), मानुषी (का० '३३), पुण्य पर्व (ना० '३३), पाथेय (का० '३४), अंतिम आकांक्षा (उप० '३४), मृण्मयी (का० '३६), बापू (का० '३८), नारी (उप० '३८), झूठ सच (नि० '३९), उन्मुक्त (का० '४१), निष्क्रिय प्रतिरोध, कृष्णाकुमारी, इत्यादि।

माखनलाल चतुर्वेदी की मुख्य रचनाएँ—

कृष्णार्जुन युद्ध (ना० १९१८), हिम किरीटिनी (का० '४१), शिशुपाल वध (का० '४१-४२), साहित्य देवता (ग० का०)।

प्रेमचंद की रचनाएँ—

बड़े घर की बेटी, लाल फीता, नमक का दारोगा (क० १९२१), प्रेमाश्रम (उप० '२२), संग्राम (ना० '२३), प्रेम पचीसी (क० '२३), प्रेम प्रसून (क०), बैंक का दिवाला

(क० '२४), कर्बला (ना० '२४), रंगभूमि (उप० '२४), प्रेम प्रमोद (क० '२६); प्रेम प्रतिमा (क० '२६), प्रेम द्वादशी (क० '२६), कायाकल्प (उप० '२६), शांति (क० '२७), निर्मला (उप० '२८), प्रेम तीर्थ (क० '२९), प्रेम चतुर्थी (क० '२९), अग्नि समाधि (क० '२९), प्रेम प्रतिज्ञा (उप० '२९), पाँच फूल (क० '२९), सप्त-सुमन (क० '३०), समर-यात्रा (क० '३०), प्रेम पचमी (क० '३०), गबन (उप० '३१), प्रेम प्रतिमा (क० '३१), प्रेरणा (क० '३२), कर्मभूमि (उप० '३२), समर-यात्रा तथा अन्य कहानियाँ (क० '३२), प्रेम की वेदी (ना० '३३), सेवा सदन (उप० '३४), पंच प्रसून (क० '३४), नवजीवन (क० '३५), गोदान (उप० '३६), मान सरोवर (क० '३६), कुत्ते की कहानी (क० '३६), कफन और शेष रचनाएँ (क० ३७), नारी जीवन की कहानियाँ (क० '३८), दुर्गादास (उप० '३८), कुछ विचार (नि० '३९), प्रेम-पीयूष (क० ४१)।

सुदर्शन की मुख्य रचनाएँ—

दयानन्द (ना० १९१७) पुष्पलता (क० '१९), सुप्रभात (क० '२३), अंजना (ना० '२३), परिवर्तन (क० '२६), सुदर्शन सुधा (क० '२६), तीर्थ यात्रा (क० '२७), फूलवती (क० '२७), सुदर्शन सुमन (क० '२९), ऑनरेरी मजिस्ट्रेट (ना० '२९), सात कहानियाँ (क० '३३), चार कहानियाँ (क० '३८), पनघट (क० '३९), पन्तु वर नागर (उप० '३९), अंगूठी का मुकदमा (ना० '४०), झंकार (का० '३९), सिकन्दर (ना० '४७), सुदर्शन, सुमन, गल्प मंजरी, भाग्य चक्र, इत्यादि।

वृंदावनलाल वर्मा की मुख्य रचनाएँ—

सेनापति ऊदल (ना० १९०९), लगन (उप० '२८), गढ़ कुंडार (उप० १९३०), कोतवाल की करामात (उप० '३१). प्रेम की भेंट (उप० '३१), कुंडली चक्र (उप० '३२), विराटा की पद्मिनी (उप० '३६), संगम (उप० '३९), प्रत्यागत (उप० '३९), धीरे-धीरे (ना० '३९), रानी लक्ष्मीबाई, मृगनयनी, मुसाहिबजू, हंस मयूर, पूर्व की ओर (ना०), अचल मेरा कोई, राणा सांगा, माधवजी सिंधिया, राखी की लाज (ना०). [illegible], हर सिंगार (ना०), इत्यादि।

(५) छायावाद

(१९२०—१९३५ ई०)

जिन दिनो हिंदी कविता नये रास्ते मुडने की तैयारी कर रही थी उन्ही दिनो प्रथम महायुद्ध के बादल घुमड़ रहे थे। १९१४ ई० में प्रथम विश्व-महायुद्ध छिड़ा।

प्रथम महायुद्ध

पाँच वर्षों के घोर घमासान मे बहुत-सी पुरानी मान्यताएँ घायल हुईं, बहुत-सी चल बसी, और बहुत सी नई मान्यताएँ अंकुरित हो गई। व्यावसायिक क्रांति ने जिस वैयक्तिक स्वाधीनता के आदोलन को उत्पन्न किया था उसकी परिणति बहुत अच्छी नही हुई। सामंती शासन तो इगलेंड से तथा अन्य यूरोपीय देशो से भी उठ गया लेकिन पैसा सिमटकर कुछ थोडे-से लोगो के हाथ मे आ गया। धनी और दरिद्र का, स्वत्वाधिकारी और स्वत्व-हीनो का व्यवधान निरंतर बढता ही गया। राष्ट्रीयता के मोहन मत्र से कुछ काल तक स्वदेशी जनता को संतुष्ट किया जाता रहा, उधर भौतिक विज्ञान की उन्नति के साथ मशीनो की भी उन्नति होती गई और उत्पादन की वृद्धि भी होती गई। अधिक उत्पादन के लिये अधिक कच्चे माल की आवश्यकता थी और उत्पादित वस्तु की खपत के लिये बाजार की जरूरत थी। अविकसित देशो पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करके दोनो उद्देश्य की सिद्धी हो सकती थी। इसीलिये यूरोप में जो देश व्यावसायिक दृष्टि से अग्रसर थे। उनमे उपनिवेश दखल करने की होड़ मची। उन्नीसवी शताब्दी के अंत तक लगभग समूचे एशिया और अफ्रीका के महाद्वीप इस होड के शिकार हुए। जिनकी व्यावसायिक उन्नति हो चुकी थी किंतु जिन्हे उपनिवेश नही मिल सके थे या कम मिले थे उनके चित्त मे ईर्ष्या का संचार हुआ। थोड़े समय

तक ईर्ष्या भीतर-ही-भीतर पकती रही, फिर एकाएक उसका विस्फोट महायुद्ध के रूप मे हुआ। समृद्धशाली राष्ट्र क्रुद्ध भेड़ियो की तरह एक दूसरे पर टूट पड़े। सब की पूंछ में कोई-न-कोई देश बँधा था। देखते-देखते इस धरती की पीठ पर सपूर्ण ससार भयंकर जिघांसा से मत्त होकर जूझ पड़ा। कुछ हारे, कुछ जीते, कुछ बुरी तरह बरबाद हो गए।

नवीन सास्कृतिक चेतना की लहर

युद्ध के बाद देखा गया कि श्वेत जातियो की बहु-प्रचारित श्रेष्ठता का दावा झूठा था, राष्ट्रीयता के मोहन मंत्र से सारे देश को 'एक' करने के प्रयत्न में कुछ थोडे-से धनकुबेरो का स्वार्थ ही प्रबल हेतु था और उपनिवेशो के लोगो को सभ्य और शासनक्षम बनाने की प्रतिज्ञाएँ भौडे मजाक से अधिक वजनदार नही थी। भारतवर्ष ने इस मजाक की मर्मव्यथा सबसे अधिक अनुभव की। उसकी सभ्यता बहुत पुरानी थी, उसकी सस्कृति बहुत उदार थी और उसके ऐतिहासिक अनुभव विशाल थे। प्रथम महायुद्ध के समाप्त होते-न-होते सारे देश में नई चेतना की लहर दौड़ गई। १९२० ई० मे महात्मा गाधी के नेतृत्व में भारतवर्ष विदेशी गुलामी को झाड फेकने के लिये कटिबद्ध हो गया। असहयोग आन्दोलन इसी प्रयत्न का राजनीतिक मूर्त रूप था। इसे सिर्फ राजनीति तक ही सीमित नही समझना चाहिए। यह संपूर्ण देश का, आत्मस्वरूप समझने का, प्रयत्न था और अपनी गलतियो को सुधार कर ससार की समृद्ध जातियो की प्रतिद्वंद्विता मे अग्रसर होने का सकल्प था। सक्षेप में यह एक महान् सांस्कृतिक आन्दोलन था। उस समय देश की स्वाधीनता को केवल देश को महान् बनाने का साधन भर समझा गया था। आधुनिक काल मे आत्मविश्वास की ऐसी प्रचड लहर इसके पूर्व कभी इस देश मे नही

दिखाई पड़ी थी। जनता का जो भाग पिछड़ा हुआ था, जो पर्दे में कैद था, जो अपमानित और उपेक्षित था, उसके प्रति सामूहिक रूप से सहानुभूति का भाव उत्पन्न हुआ। सौभाग्य से इस महान् आदोलन का नेता महात्मा गाधी जैसा सत्यनिष्ट महापुरुष था। ससार ने पहली बार शत्रु के विरुद्ध निःशस्त्र सैनिक युद्ध—जिसका प्रधान अस्त्र मैत्री और प्रेम था—देखा। यह पूरा-का-पूरा आदोलन मानवीय प्रयत्नो की सात्त्विक अभिव्यक्ति के रूप मे प्रकट हुआ था, इसलिये इसका वाह्य और आतर रूप सास्कृतिक था। भारतवर्ष मे सब प्रकार से नवीन जागरण का सूत्रपात हुआ। इस महान् आदोलन ने भारतीय जनता के चित्त को वंधन-मुक्त किया। यही वधनमुक्त चित्त काव्यो, नाटको और उपन्यासो में नाना भाव से प्रकट हुआ। परतु काव्य मे वह जिस रूप में व्यक्त हुआ वह कुछ काल तक अपरिचित-जैसा लगा।

नवीन शिक्षा-पद्धति का परिणाम

देश मे जिस नवीन शिक्षा-पद्धति का प्रवर्त्तन हुआ था वह एक ओर जहाँ पुराने सस्कारो से विद्यार्थी का संपर्क ही वहुत कम होने देती थी वहाँ दूसरी ओर जड़-विज्ञान और मानवतावादी तत्त्ववाद पर आधारित काव्य दर्शन और नीति-विज्ञान की पढाई के द्वारा विद्यार्थी को एकदम नये मूल्यों (वैल्यूज) की दुनियाँ में उठा ले जाती थी। इस प्रकार हिंदी-भाषा प्रदेशो मे वह शिक्षित समाज तैयार होने लगा था जिसके चित्त पर प्राचीनता का कोई संस्कार नही था और नवीन मान्यताओ और मूल्यो का वहुत मान था। इस शिक्षा-पद्धति से शिक्षित नवयुवक अपने देश मे ही अजनबी-सा था। उसके चित्त में रोमांटिक अंग्रेजी साहित्य के व्यक्तिवाद की छाप थी, परंतु वाह्य जगत् में उसका कोई

सामजस्य नही था । वह नवीन मूल्यो को अपनी भाषा में व्यक्त भी नही कर पाता था । सवेदनशील युवक के मन में यह बडे ही अतर्द्व द्व का काल था । स्वच्छदतावादी प्रवृत्ति का हिंदी कविता में बीजवपन तो हो चुका था पर सही बात यह थी कि नवीन मानवतावादी स्वच्छदतावादी वैयक्तिक दृष्टिभगी को व्यक्त करने योग्य भाषा अब भी नही बन पाई थी । वगाल के कविवर रवीद्रनाथ ठाकुर को भी इस कठिनता का अनुभव करना पडा था । अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल पर उन्होने अपने वक्तव्य के अनुकूल भाषा बना ली थी । नवीन हिंदी कवियो के सामने रवीद्रनाथ की वह बँगला भाषा भी थी । कई कवियो ने उस भाषा का अनुकरण किया किंतु सब मिलाकर वह भाषा भी हिंदी प्रदेशो के लिये अपरिचित ही थी । वहुत दिनो तक छायावादी कवियो की यह भाषा व्यग्य और उपहास का विषय वनी रही ।

नवीन कवियो की शक्ति

परंतु नवीन कवियो ने हार नही मानी । माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद, निराला, पत, महादेवी वर्मा, जैसे सुकवियो ने भाषा को अपने भावो के अनुकूल बनाया । शुरू-शुरू मे वह कुछ विचित्र-सी सुनाई पड़ी । अनुभवहीनता के कारण शुरू-शुरू की भाषा सचमुच ही उखडी-उखडी सी लगती थी । फिर नवीन वक्तव्य भी नवीन भाषा के समान साधारण पाठक को अपरिचित ही लगता था । चारो ओर के वातावरण की विरुद्धता ने कई कवियो में कुछ झेप और संकोच का भाव भी ला दिया था । इसलिये शुरू-शुरू के प्रयोगो में अस्पष्टता, झिझक और सकोच का भाव रह गया था । परंतु इन कवियो ने भाषा को अपने अनुकूल बना लिया, यही इस वात का सबूत है कि इनके पास कहने लायक वहुत सी वाते अवश्य थी । जिसके पास कुछ कहने को होता है वह उसके

लिये भापा बना लेता है । भाषा में दुर्बोधता तब आती है जब कहने वाले के पास कहने की कोई बात नही होती । शुरू-शुरू मे इस प्रकार की कविता के उपासक ऐसे कवि अवश्य थे जो मोर का पख खोसकर मोर बने हुए थे । उनमें न तो वास्तविक कवित्व शक्ति थी, न उनके पास कहने योग्य कोई बात ही थी । ऐसे कवियो ने उस श्रेणी की कविता के यश को म्लान किया जिसे आगे चलकर छायावादी कविता कहा जाने लगा । चित्तगत उन्मुक्तता इस कविता का प्रधान उद्गम थी और बदलते हुए मानो के प्रति दृढ आस्था इसका प्रधान सबल । इस श्रेणी के कवि ग्राहिका शक्ति से बहुत अधिक सपन्न थे और सामाजिक विषमता और असामंजस्यो के प्रति अत्यधिक सजग थे । शैली की दृष्टि से भी ये पहले के कवियो से एकदम भिन्न थे । इनकी रचना प्रधानत. विपयि-प्रधान थी । हम आगे विषयि-प्रधान कविता के मुख्य लक्षणो की विवेचना करेंगे, यहाँ सक्षेप में समझ लिया जाय कि नई मान्यता और नये मूल्यो से हमारा क्या तात्पर्य है ।

साहित्य की मान्यताएँ जीवन की मान्यताओ से विच्छिन्न नही होती । नई परिस्थितियो मे जब मनुष्य नये अनुभव प्राप्त करता है तो जागतिक व्यापारो और मानवीय आचारो तथा विश्वासो के मूल्य उसके मन में घट या बढ जाते है । सभी मानो के मूल मे कुछ पुराने सस्कार और नए अनुभव होते है । यह समझना गलत है कि किसी देश के मनुष्य सदा-सर्वदा किसी व्यापार या आचार को एक ही समान मूल्य देते आए है । पिछली शताब्दी में हमारे देश-वासियो ने अपने अनेक पुराने सस्कारो को भुला दिया है और बचे सस्कारो के साथ नये अनुभवो को मिलाकर नवीन मूल्यो की कल्पना की है । वैज्ञानिक तथ्यो के परिचय से,

साहित्य की नई मान्यताएँ

राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के दबाव और आधुनिक शिक्षा की मानवतावादी दृष्टि के वहुल प्रचार से, हमारी पुरानी मान्यताओ मे बहुत अतर आ गया है। आज से दो सौ वर्ष पहले का सहृदय साहित्य में जिन बातों को वहुत आवश्यक मानता था उनमें से कई अब उपेक्षणीय हो गई हैं और जिन बातो को त्याज्य समझता था उनमें से कई अब उतनी अस्पृश्य नही मानी जाती। आज से दो-सौ वर्ष पहले के सहृदय को उस प्रकार के दु:खांत नाटकों की रचना अनुचित जान पडती जिनके कारण यवन (ग्रीक) साहित्य इतना महिमामडित समझा जाता है और जिन्हें लिखकर शेक्सपियर ससार के अप्रतिम नाटककार बन गए है। उन दिनो कर्मफल-प्राप्ति की अवश्यंभाविता और पुनर्जन्म मे विश्वास इतने दृढ भाव से बद्धमूल था कि संसार की समजस व्यवस्था म किसी असामजस्य की बात सोचना एकदम अनुचित जान पडता था। परतु अब वह विश्वास शिथिल होता जा रहा है और मनुष्य के इसी जीवन को सुखी और सफल वनाने की अभिलाषा प्रवल हो गई है। समाज के निचले स्तर मे जन्म होना अब किसी पुराने पाप का फल (अतएव घृणास्पद) नही माना जाता बल्कि मनुष्य की विकृत समाज-व्यवस्था का परिणाम (अतएव सहानुभूतियोग्य) माना जाने लगा है। इस प्रकार के परिवर्तन एक-दो नही, अनेक हुए है और इन सबके परिणामस्वरूप सिर्फ साहित्य की प्रकाशन-भंगिमा मे ही अंतर नही आया है, उसके आस्वादन के तौर-तरीको में भी फर्क पड़ गया है। साहित्य के जिज्ञासु को इन परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यो की ठीक-ठीक जानकारी नही हो तो वह बहुत-सी बातो के समझने में गलती कर सकता है। फिर परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करके ही हम

यह सोच सकते हैं कि परिस्थितियों के दबाव से जो परिवर्तन हो रहे हैं उनमें कितना अपरिहार्य है, कितना अवांछनीय है और कितना ऐसा है जिसे प्रयत्न करके वांछनीय बनाया जा सकता है। साहित्य का जिज्ञासु यदि मूल्यों के परिवर्तन का ठीक-ठीक ध्यान न रखे तो वह साहित्य के नवीन प्रयोगों को एकदम नहीं समझ सकेगा। रीतिकालीन मूल्यों को स्वीकार करने वाला सहृदय नवीन उत्थान की हिंदी कविता को नहीं समझ सकेगा। १९२० ई० के बाद के हिंदी साहित्य को समझने के लिये नवीन परिवर्तित मान्यताओं की जानकारी आवश्यक है।

विषय-प्रधान कविता

जब कवि की दृष्टि वक्तव्य-वस्तु पर स्थिर होती है तो कविता विषय-प्रधान हो जाती है। इसमें कवि के राग-विरागों का यथासंभव कम योग रहता है। वह विषय को जैसा-है-वैसा या जैसा-होना-चाहिए-वैसा (यथार्थ या आदर्श रूप में) दिखाकर चित्रित करता है। इस श्रेणी की कविता के लिये मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा था कि उत्तम काव्य-लिखना चाहते हो तो उत्तम विषय चुनो। १९००—१९२० ई० की खड़ी बोली की कविता में विषय-वस्तु की प्रधानता रही हुई थी। परन्तु इसके बाद की कविता में कवि के अपने राग-विराग की प्रधानता हो गई। विषय अपने आप में कैसा है, यह मुख्य बात नहीं थी बल्कि मुख्य बात यह रह गई थी कि विषयी (कवि) के चित्त के राग-विराग से अनुरंजित होने के बाद वह कैसा दिखता है। विषय इसमें गौण हो गया, विषयी (कवि) प्रधान। तीन बातें १९२० ई० के बाद के काव्य साहित्य में अधिक दिखने लगीं—कवि की कल्पना, उसका चिंतन और उसकी अनुभूति।

(१) कल्पना की अवस्था में इस युग का कवि वर्तमान

जगत् की अननुकूल और विसदृश परिस्थितियों से ऊबकर एक अनुकूल और मनोरम जगत् की सृष्टि करता है। एक युग ऐसा बीता है जब संसार के साहित्य मे कल्पना का अखड राज्य रहा है। कवि इस दुनियाँ के समानातर धरातल पर ही एक ऐसी दुनियाँ की सृष्टि करता था जहाँ प्रेमी और प्रेमिकाएँ तो हमारे जैसी ही होती थी, पर वहाँ के कायदे-कानून अलग ढंग के होते थे और स्वच्छद प्रेम मे जो सहस्रो बाधाएँ इस जगत् में अपने आप खडी हो जाती है वह वहाँ नही होती थी।

कल्पना

(२) परतु जब कवि चिंतन की अवस्था मे पहुँचता है तो वह प्राय: कल्पना की अवस्था आयत्त कर चुका होता है। इसीलिये वह किसी चीज को शुद्ध मनीषी की भाँति न देखकर उस पर कल्पना का आवरण डाल कर देखता है। दिगत के एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए नील नभोमडल, मणियो के समान ग्रह-नक्षत्र और चद्रिकाधौत धरित्री को देख कर वह कभी कुछ भी चिंतन क्यो न करे, एक बार श्वेतवस्त्रधारिणी, वितत केशा, भूरिभूषण सुदरी या प्रिय-वियोग मे कातर खडिता रजनी या इसी प्रकार की कल्पना किए बिना नहीं रहता। कारण यह है कि कवि का प्राथमिक कर्त्तव्य बिब ग्रहण कराना है और उसका साधन अप्रस्तुत विधान है। इसके बिना कवि मनोरम भाव को हृदयहारी बनाकर अपना वक्तव्य कह ही नही सकता। अप्रस्तुत विधान के समय कवि की कल्पना वृत्ति सतह पर आ गई होती है। वस्तुत: चिंतन करते समय भी कवि वैज्ञानिक की भाँति तथ्य का विश्लेषण नही करता होता, बल्कि सत्य को सुदर करके रखने का प्रयास करता है।

चिंतन

(३) कवि अपने सीमित व्यक्तित्व में जिस सुख-दुख, व

अनुभव प्राप्त किए होता है, उसे वह जब कल्पना के साहाय्य से, छद, अलकार आदि के सयोग से और निखिल विश्व की मर्म-व्यथा की चिंता करके सर्वसाधारण के ग्रहणयोग्य बनाकर प्रकट करता है, तो उसे हम अनुभूति अवस्था कहते हैं। इस कविता मे कवि अपने सीमित सुख-दुख को असीम जगत् में अनुभव करता है। इस प्रकार चिंतन की अवस्था में कवि ससार को देखता है और सोचता है कि यह सब क्या हो रहा है, कैसे चल रहा है और क्यो चल रहा है ? अनुभूति की अवस्था मे वह अनुभव करता है कि वह क्या हो गया है, कौनसी वेदना या उल्लास, विषाद या हर्ष ससार को किस रूप मे परिणत कर रहा है ? कल्पना की अवस्था मे वह इस जगत् के समानातर जगत् की सृष्टि करता है, जिसमे इस जगत् की असुन्दरताएँ और विसदृशताएँ नही रहती, पर अनुभूति की अवस्था मे उसके पैर इस दुनियाँ पर ही जमे रहते है, वह इसे छोड नही सकता।

अनुभूति

इन तीन श्रेणी के विचारो के प्रस्तार-विस्तार से आधुनिक काल की विषयि-प्रधान कविता अनेक रूपा दिखती है। इन कविताओ मे उसकी मुख्य विशेषता इनकी वैयक्तिकता-प्रधान दृष्टि ही है।

नवीन प्रगीत मुक्तक

काव्य मे विषयी के प्रधान होने से उन गीतात्मक मुक्तको का प्रचलन बढ गया है जो व्यक्तिगत भावोच्छ्वास को आश्रय करके लिखे जाते हैं। इग्लैड मे जब व्यावसायिक क्राति हुई तो वहाँ के सांस्कृतिक जीवन मे बड़ा परिवर्तन हुआ था। उस परिवर्तन के समय कवियो में और विचारकों में सामाजिक रूढ़ियो के प्रति अनास्था का भाव बढा था और व्यक्तिगत स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) का जोर रहा।

अग्रेजी अमलदारी के साथ-ही-साथ इस देश मे अंग्रेजी साहित्य पढ़ाया जाने लगा। उसी के फलस्वरूप इस देश के कवियो में भी वैयक्तिक स्वाधीनता (इडिविजुअल लिबर्टी) का जोर बढता गया। इग्लैड और इस देश की परिस्थिति एक-जैसी नही थी। इंग्लैड मे यह हवा वहाँ के भीतरी जीवन का परिणाम थी, जबकि इस देश में वह विदेशी ससर्ग और अन्य कारणो का फल थी। इसीलिये शुरू-शुरू में यह अस्वाभाविक-सी लगी परतु ज्यो-ज्यो समय बीतता गया त्यो-त्यो कविगण अपने देश की वास्तविक परिस्थिति के साथ अपनी साहित्यिक परपरा का सामजस्य खोजते गये। सामंजस्य खोजनेवालो में प्रमुख कवि हैं—प्रसाद, निराला, पत और महादेवी वर्मा। इन कवियो ने भाव मे, भाषा में, छंद में और मडन-शिल्प (डेकोरेशन) मे नवीन विचारों के साथ सामजस्य किया। इस व्यक्तिगत स्वच्छदतावाद के साथ-ही साथ नाना भाव के प्रगीत-मुक्तक इस देश मे लिखे जाने लगे।

जैसा कि पहले ही दिखाया गया है, इनमें कुछ कल्पनामूलक हैं, कुछ चिंतनमूलक और कुछ अनुभूतिमूलक। मुक्तक इस देश में नई चीज नही है। हाल की 'प्राकृत सतसई' और अमरुक का सस्कृत 'अमरुक-शतक' और विहारी की 'सतसई' मुक्तक काव्य ही है। "मुक्तक मे प्रबध के समान वह रस की धारा नही रहती, जिसमे कथा-प्रसग की परिस्थिति मे अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमे तो रस के ऐसे छीटे पडते है जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। उत्तरोत्तर अनेक दृश्यो-द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन

नही होता, बल्कि कोई एक रमणीय खड-दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिये मंत्र-मुग्ध-सा हो जाता है। इसके लिये कवि को मनोरम वस्तुओ और व्यापारो का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित करके इन्हे अत्यत सक्षिप्त और सशक्त भाषा मे व्यक्त करना पड़ता है।" (रामचद्र शुक्ल)। पुराने मुक्तको के अध्ययन से स्पष्ट है कि इन (प्राचीन मुक्तको) मे कवि की कल्पना कुछ ऐसे शास्त्ररूढ व्यापारो की योजना करती थी जिनसे किसी रस या भाव की व्यजना सुकर हो। आधुनिक प्रगीत मुक्तक कवि के भावावेग के क्षणो की रचना होते है, उनमें गीत की सहज और हल्की गति होती है। इनकी गुलदस्तो के साथ तुलना नही की जा सकती। ये विच्छिन्न जीवन-चित्र होने पर भी प्रवाहशील होते हैं और इनमें शास्त्र-प्रसिद्ध व्यापार-योजना की आवश्यकता नही होती। पुराने रूपको मे कवि-कल्पना की समाहार शक्ति प्रधान हिस्सा लेती थी, पर आधुनिक मुक्तको मे कवि का भावावेग ही प्रधान होता है।

प्रगीत मुक्तक क्यों प्रभावित करते हैं

परंतु इतना स्मरण रखना उचित है कि आजकल के प्रगीत मुक्तको मे यद्यपि व्यक्तिगत अनुभूतियो का प्राधान्य है तो भी वे इसलिये हमारे चित्त मे आनंद का सचार नही करते कि वे कवि की व्यक्तिगत अनुभूति है, बल्कि इसलिये कि वे हमारी अपनी अनुभूतियो को जागृत करते हैं। जो बात हमारे मन को आनद से तरगित कर देती है वही हमारी 'अपनी' होती है। इसलिये यद्यपि आज के अच्छे मुक्तक-लेखक कवि की विषयग्राहिता परंपरा द्वारा नियमित न होकर आत्मानुभूति मूलक है तथापि वह पाठक के भीतर पहले से ही

वासना रूप मे स्थित भावो को उद्‌बुद्ध करके ही रस-सचार करती है।

इस बात को किसी अँग्रेज ममालोचक ने इस प्रकार कहा है कि आधुनिक प्रगीत मुक्तको मे कवि अपनी अनुभूति के बल पर सहृदय पाठक के हृदय मे प्रवेश करता है और उसके हृदय मे स्थित उसी भाव के अनुभव करनेवाले कवि के साथ एकात्मता का संबध स्थापित करता है। इस बात को इस प्रकार भी कहा गया है कि यद्यपि आज का प्रगीत मुक्तक व्यक्तिगत विषयग्राहिता का परिणाम है, परंतु वह उतना ही सामाजिक है जितना रीतिकालीन रूढियो की योजना के भीतर गृहीत मुक्तक होता था। इस प्रकार दोनो में समानता की मात्रा कम नही है। व्यक्तिगत होने के कारण इन अनुभूतियो का क्षेत्र वहुत बढ गया है।

पुराने और नये मुक्तको में अतर

पुराने मुक्तक मे जिन विभावो की योजना केवल उद्दीपन के रूप मे होती थी और जिन अनुभावो का वर्णन केवल मानवीर मनोरागो की अपेक्षा मे ही होता था वे विभाव अब आलबन के रूप में योजित होने लगे है और वे अनुभाव अब मनुष्य के वाहर के जगत् के कल्पित मनोरागो के सवध मे प्रयुक्त किए जाने लगे है। ऐसा करने के कारण भाषा मे अधिकाधिक लाक्षणिकता आने लगी है, क्योकि जड़ प्रकृति को यदि आलबन वनाकर उसमे अनुभावो और हावो की योजना की जायगी तो लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना ही पड़ेगा। हिंदी के कुछ वृद्ध आचार्यों को इस प्रकार की योजना पसंद नही आई थी।

इसी नवीन प्रकर की कविता को किसी ने 'छायावाद' नाम दे दिया है। यह शब्द बिल्कुल नया है। यह भ्रम ही

है कि इस प्रकार के काव्यों को बँगला में छायावाद कहा जाता था और वही से यह शब्द हिंदी में आया है। छायावाद शब्द केवल चल पड़ने के जोर से ही स्वीकारणीय हो सका है, नही तो इस श्रेणी की कविता की प्रकृति को प्रकट करने में यह शब्द एकदम असमर्थ है। बहुत दिनों तक इस काव्य का उपहास किया गया है और बाद मे भी इसे या तो चित्रभाषा शैली या प्रतीक पद्धति के रूप मे माना गया या फिर रहस्यवाद के अर्थ मे। उपहास और व्यंग्यो का काफी विस्तृत साहित्य सूचित करता है कि औसत श्रेणी के सहृदय को इस कविता की महत्ता स्वीकार करने में समय लगा है, वह इसे एकदम नवीन और अवांछनीय वस्तु समझता रहा है। शैलीरूप मे इसे स्वीकार करनेवालो के मन में भी इस श्रेणी की कविता के विषय में विशेष गौरव का भाव नही है।

छायावाद नाम

ऊपर जो बातें कही गई है उनको सक्षेप मे इस प्रकार समझा जा सकता है--(१) छायावाद नाम उन आधुनिक कविताओं के लिये बिना विचारे ही दे दिया गया था (क) जिनमे मानवतावादी दृष्टि की प्रधानता थी, (ख) जो वक्तव्य-विषय को कवि की व्यक्तिगत चिन्तना और अनुभूति के रंग में रंग कर अभिव्यक्त करती थी, (ग) जिनमें मानवीय आचारों, क्रियाओ, चेष्टाओं और विश्वासों के बदले हुए और बदलते हुए मूल्यो को अंगीकार करने की प्रवृत्ति थी, (घ) जिनमे छंद, अलंकार, रस, ताल, तुक आदि सभी विषयों में गतानुगतिकता से बचने का प्रयत्न था, और (ङ) जिनमें शास्त्रीय रूढ़ियों के प्रति कोई आस्था नही दिखाई गई थी; (२) छायावाद एक विशाल सांस्कृतिक चेतना का परिणाम था; यद्यपि उसमें नवीन शिक्षा के परिणाम होने

ऊपर के विचारों का निष्कर्ष

के चिह्न स्पष्ट है तथापि वह केवल पाश्चात्य प्रभाव नहीं था, कवियो की भीतरी व्याकुलता ने ही नवीन भाषा-शैली मे अपने को अभिव्यक्त किया और (३) सभी उल्लेखयोग्य कवियो मे थोडी-बहुत आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की व्याकुलता भी थी। जिन कवियो ने शास्त्रीय और सामाजिक रूढियो के प्रति विद्रोह का भाव दिखाया उनके इस भाव का कारण तीव्र सास्कृतिक चेतना ही थी।

छायावादी कविता का प्राणतत्त्व

मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनानेवाले कवि के चित्त में उन काव्यरूढियो का प्रभाव नही रह जाता जो दीर्घकालीन परपरा और रीतिबद्ध चितन-पद्धति के मार्ग से सरकती हुई सहृदय के चित्त पर आ गिरी होती है और कल्पना के अविरल प्रवाह में तथा आवेगो की निर्बाध अभिव्यक्ति में अतराय उपस्थित करती है। इस दृष्टिकोण को अपनाने से सौदर्य की नई दृष्टि मिलती है क्योकि मानवीय आचारो और क्रियाओ के मूल्य में अतर आ जाता है। इस अवस्था में सौदर्य केवल बाह्यरूप में नही रहता बल्कि आतरिक औदार्य और मानस-गठन मे भी व्यक्त होता है। सौदर्य के बँधे-सधे आयोजनो—घिसे-घिसाए उपमानो और पिटी-पिटाई उत्प्रेक्षाओ पर आधारित चितन-शून्य काव्यरूढियो—से मुक्ति पाया हुआ चित्त मानवता के मापदंड से सब-कुछ को देखता है और फिर कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-सश्लिष्ट आवेगो की वह उर्वरभूमि प्रस्तुत होती है जो रोमांटिक या स्वच्छतावादी साहित्य के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है। मानवीय दृष्टि के कवि की कल्पना अनुभूति और चितन के भीतर से निकली हुई, वैयक्तिक अनुभूतियो के आवेग की स्वत:समुच्छित अभिव्यक्ति—बिना किसी आयास के और बिना किसी प्रयत्न के, स्वयं निकल पड़ा हुआ भावस्रोत—ही

छायावादी कविता का प्राण है। १९२० ई० में जो देशव्यापी चेतना की लहर देश के इस किनारे से उस किनारे तक फैल गई थी, उसने कवि और सहृदय दोनो को अधिक आत्म-विश्वासी और अधिक भावग्राही वनाया। संयोग से इसी काल मे अनेक प्राणवंत कवियो का आविर्भाव हुआ जिनमे चार आगे चलकर वहुत प्रभावशाली सिद्ध हुए। ये चार हैं--(१) जयशकरप्रसाद, (२) सूर्यकात त्रिपाठी निराला, (३) सुमित्रानंदन पंत और (४) महादेवी वर्मा। चारो की कविताओ मे चित्तगत उन्मुक्तता वर्तमान है, चारो मे वैयक्तिक आवेगो की आयासहीन अभिव्यक्ति है, चारो की कविताओ मे कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-सश्लिष्ट आवेगो की उमडती हुई भावधारा का प्रावल्य है। चारो ही मूलत: छायावादी है। फिर भी चारो की प्रकृति मे भेद है। यद्यपि इनमें प्रसाद सबसे पुराने है, तथापि समझने की सुविधा के लिये हम क्रम वदल रहे हैं। पहले सुमित्रानदन पंत की कविता पर विचार किया जाय।

इन कवियो मे सुमित्रानदन पत[1] (जन्म १९०१ ई०) की आरंभिक कविताएँ सच्चे अर्थों मे छायावादी है। इनका प्रथम काव्य-संग्रह 'पल्लव' बिलकुल नये काव्य गुणो को लेकर हिंदी साहित्य जगत् में आया। इस पुस्तक मे प्रकृति और मानव के सौदर्य के प्रति आदिम मनोभाव के-से औत्सुक्य, आश्चर्य और कुतूहल के भाव हैं। सौदर्य के प्रति अत्यत कोमल मनोभाव ने कवि को कही भी वहकने नही दिया है।

१ सुमित्रानदन पत की मुख्य रचनाएँ—उच्छ्वास (का० १९२२), पल्लव (का० १९२७), वीणा (का० १९२७), ग्रथि (का० १९३०), गुजन (का०१९३२), ज्योत्स्ना (ना० १९३४), पाँच कहानियाँ (कहानी, १९३६), युगात (का०, १९३७), युग-वाणी (का० १९२९), ग्राम्या (का० १९४०), पल्लविनी (का० १९४०), स्वर्ण धूलि, स्वर्ण किरण (१९५०), मधुज्वाल, इत्यादि।

पल्लव की कविताओं की अपेक्षा उसकी भूमिका का कम महत्त्व नही है । इस भूमिका ने न केवल पत की कविताओ का और उन की विवेचन-शक्ति का महत्त्व स्पष्ट किया था बल्कि समूची छायावादी कविता के लिये क्षेत्र प्रस्तुत किया था । इस भूमिका से पत की उस महत्त्वपूर्ण बौद्धिक प्रक्रिया का पता लगता है जिसके द्वारा उन्होने शब्दो की प्रकृति, उनकी अर्थबोधन क्षमता, उनके अर्थों के भेदक पहलुओ की विशिष्टता, छदो की प्रकृति, तुक और ताल का महत्त्व आदि को समझा था और समझने के बाद काव्य मे प्रयोग किया था। शब्दो और अर्थो की इस विवेचना ने नवशिक्षित सहृदय के चित्त मे इस नई कविता के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न किया और युवको को नये सिरे से सोचने की शक्ति दी । इस भूमिका ने सस्कृत के वर्णवृत्तो को हिंदी से हटा दिया, छंदों की गति के सबध मे नई दृष्टि दी और छद परिवर्तन के प्रति नया मनोभाव पैदा किया। पत मे कल्पना शब्दो के चुनाव से ही शुरू होती है । छदो के निर्वाचन और परिवर्तन मे भी वह व्यक्त होती है । उसका प्रवाह अत्यत शक्तिशाली है । इसके साथ जब प्रकृति और मानव-सौदर्य के प्रति कवि के बालकोचित औत्सुक्य और कुतूहल के भावो का समिलन होता है तो ऐसे सौदर्य की सृष्टि होती है जो पुराने काव्य के रसिको के निकट परिचित नही होता । कम सवेदनशील पुराने सहृदय इस नई कविता से बिदक उठे थे और अधिक सवेदनशील सहृदय प्रसन्न हुए थे । 'पल्लव' के भावो की अभिव्यक्ति में अद्भुत सरलता और ईमानदारी थी । कवि बँधी रूढियो के प्रति कठोर नही है, उसने उनके प्रति व्यग्य और उपहास का प्रहार नही किया, पर वह उनकी बाहरी बातों की उपेक्षा करके अतराल-स्थित सहज सौदर्य की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। मनुष्य के कोमल स्वभाव,

वालिका के अकृत्रिम प्रीतिस्निग्ध हृदय और प्रकृति के विराट् और विपुल रूपो में अंतर्निहित शोभा का ऐसा हृदयहारी चित्रण उन दिनो अन्यत्र नही देखा गया ।

सुमित्रानदन पत का सपूर्ण व्यक्तित्व गीतिमय है । वे मूलत. गीतिकाव्य के कवि है । उनके 'ज्योत्सना' आदि नाटकों के सभी पात्र वस्तुत गीतिकाव्यात्मक (लिरिकल) है । उन्होने कभी कथाकाव्य लिखने का प्रयत्न नही किया । शुरू में 'ग्रंथि' मे जो प्रयत्न है वह मूलत गीतिकाव्यात्मक और रोमाटिक है । किंतु इसका यह अर्थ नही कि उनके व्यक्तित्व में गतिशीलता नही है । वे वरावर आगे वढते गए है । उनका दृष्टिकोण वरावर सास्कृतिक सामूहिक उत्थान का रहा है । उनके विकास के तीन उत्थान है । प्रथम मे वे छायावादी कवि है, दूसरे में वे समाजवादी आदर्शो से चालित है और तीसरे मे आध्यात्मिक । दूसरे उत्थान की कविताओ मे वे समाजवादी सिद्धातो से चालित हुए थे । 'ग्राम्या' मे उन्ही आदर्शो द्वारा चालित किंतु वौद्धिक चिंतन से आयत्तीकृत भावो का सन्निवेश है । समाजवाद पत की दृष्टि मे कोई राजनीतिक मत नही था, वह सास्कृतिक अभ्युत्थान का साधनमात्र था । उन्होने कहा है—

"राजनीति का प्रश्न नही रे आज जगत् के सम्मुख—
एक वृहत् सास्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित ।"

समाजवादी सिद्धातो के अनुसार कविता सोद्देश्य होनी चाहिए अर्थात् वह केवल बिना प्रयास के सिद्धभावो का स्वतः समुद्भूत अभिव्यक्ति मात्र नही है बल्कि संसार की जटिल समस्याओं की सुचिंतित विवेचना द्वारा समस्त [illegible] उनके अभ्युत्थान के लिये रचित सोद्देश्य रचनाकृति है । इस दूसरे उत्थान मे भी पंत में कोमल भावों और कोमल कल्पनाओं के प्रति मोह है । तीसरे उत्थान में उनकी कविता [illegible]

सयासिनी के समान शात और उदात्त विचारो की गंभीरता और पवित्रता से मडित है। उसमे कल्पना की रंगीनी भी नही है, आवेगो की चंचलता भी नही है, कुतूहल और औत्सुक्य-भरी जिज्ञासा भी नही है, किंतु उसमें सास्कृतिक उत्थान का आशा-भरा सदेश है। कवि इधर अरविंद के आध्यात्मिक तत्त्वदर्शन से प्रभावित हुआ है और उसे उसमें सास्कृतिक अभ्युत्थान का स्वर्णप्रभात दिखाई दिया है। पंत की कविता की अतिम परिणति इसी आध्यात्मिक उल्लास मे हुई है।

तीनो ही अवस्था में पत जी वैयक्तिकतावादी है। जिन दिनो समाजवादी सिद्धातो से वे आकृष्ट हुए थे उन दिनो भी वे अपने व्यक्तित्व को स्पष्ट रूप से सवसे अलग समझते थे। उनकी उन कविताओ में बराबर 'रे' का प्रयोग है जो कवि और उसकी कविता के श्रोतृवर्ग के बहुत बडे व्यवधान का सूचक है। परतु उनमे अपने भावो के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति नही है जबकि साधारणत. ऐसे कवि आसक्तियुक्त हुआ करते है। पंत सौंदर्य को महिमा का अनासक्त साक्षी कवि है। छायावाद का महान् आदोलन पत के समान नेता पाने के कारण ही तेजी से लोकप्रिय हो गया।

श्री सूर्यकात त्रिपाठी 'निराला'[1] (जन्म १८९६ ई०) का

---

१. सूर्यकात त्रिपाठी 'निराला' की मुख्य रचनाएँ—अनामिका (का० १९२३), परिमल (का० १९३०), अप्सरा (उप० १९३१), अलका (उप० १९३३), लिली (क० १९३३), प्रवध पद्म (नि० १९३४), प्रभा॰ 'क॰ १९३६), गीतिका (का० १९३६), निरुपमा (उप० १९३६), तुलसीदास (का० १९३९), कुल्लीभाट (जी० च० १९३९), प्रवध प्रतिभा (नि० १९४०), सुकुल की बीबो (क० १९४१), बिल्लेसुर बकरिहा (उप० १९४१), अपरा (का० १९४८), कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, चोटी की पकड़ (उप०), काले कारनामे (उप०), चतुरी चमार (कहा०), सखी (क०), प्रबधपद्म (निबध), चाबुक (नि०) रवींद्र कविता कानन, (आ०), समाज (नाटक) शकु तला, इत्यादि।

जन्म बंगाल मे हुआ था। उनकी शिक्षा भी बँगला से ही आरभ हुई थी। उन्होंने तत्कालीन बँगला साहित्य के स्वच्छं-दतावादी और रहस्यवादी कविताओ का अच्छा अध्ययन किया था। वे आरंभ से ही विद्रोही कवि के रूप में हिंदी में दिखाई पड़े। गतानुगतिकता के प्रति तीव्र विद्रोह उनकी कविताओ मे आदि से अंत तक वना रहा। व्यक्तित्व की जैसी निर्वाध अभिव्यक्ति इनकी रचनाओ मे हुई है वैसी अन्य छायावादी कवियो मे नही हुई। न तो इन्होंने भावो को कोमल करने का प्रयत्न किया है, न उनकी समंजस योजना के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति दिखाई है। सर्वत्र व्यक्तित्व की अत्यंत परुष अभिव्यक्ति ही निराला की कविताओ का प्रधान आकर्षण है। फिर भी विरोधाभास यह है कि निराला में अपने व्यक्तित्व को सबसे अलग करके अभिव्यक्त करने की चेतना सबसे कम है। निराला की प्रतिभा बहुमुखी है। उन्होने कविताएँ तो लिखी ही हैं, निबंध, आलोचना, उपन्यास आदि भी लिखे हैं। व्यंग्य और कटाक्ष को वे प्रायः नही भूलते। लेकिन कथाकाव्य के प्रति उनका झुकाव पंत से अधिक है। उनकी अधिकांश सर्वोत्तम कविताओं में किसी-न-किसी प्रकार कथा का आश्रय लिया गया है। कथानक की घटनाओं की पूर्वापरता उनके उमड़ते हुए आवेगों पर अंकुश का काम करती है। अनुभूति की तीव्रता के कारण ये आवेग बहुत वेगवान् होकर प्रकट हुए हैं पर कोमलीकरण, समजस योजना या छदोबंध की चेतना के अभाव में उनमें कोई अंकुश नही है। यही कारण है कि विशुद्ध गीतिकाव्या-त्मक रचनाओ मे निराला के वहक जाने की आशका वरावर वनी रहती है। यह ध्यान देने की वात है कि निराला जी के आरंभिक प्रयोग छंद के वंघन से मुक्ति पाने का प्रयास है। छद के वघनों के प्रति विद्रोह करके उन्होंने उस मध्ययुगीन

मनोवृत्ति पर ही पहला आघात किया था जो छंद और कविता को प्राय' समानार्थक समझने लगी थी। कविता भाव-प्रधान होती है, छद उसके इस रूप की सहायता करता है। छंद के बंधन को अस्वीकार करनेवाला कवि कविता के उन समस्त प्रसाधनो के प्रति अनास्था प्रकट करता है जो काव्य में संगीत के गुण भरा करते है और इस प्रकार काव्य को अलौकिक बनाया करते है। परंतु निराला जी ने जब छदो के प्रति विद्रोह किया तो उनका उद्देश्य छद की अनुपयोगिता बताना नही था। वे केवल कविता में भावो की—व्यक्तिगत अनुभूति के भावो की—स्वच्छंद अभिव्यक्ति को महत्त्व देना चाहते थे। जिसे वे मुक्त छद कहते थे उसमें भी एक प्रकार का झंकार और एक प्रकार का ताल विद्यमान है।

उनकी आरभिक कविताओ मे ही उनकी स्वच्छदतावादी प्रकृति पूरे वेग पर मिलती है। पंचवटी प्रसग मे गतानुगतिक ढग से राम-कथा को नही चित्रित किया गया है। शूर्पणखा वहाँ—शायद एकदम नये ढग से—नारी के रूप में उपस्थित की गई है, किसी वीभत्स राक्षसी के रूप में नही। सच पूछा जाय तो निराला से बढकर स्वच्छंदतावादी कवि हिंदी मे कोई नही है। परिमल की जिन रचनाओ में वस्तुव्यजना की ओर कवि का ध्यान है उनमें उनका व्यक्तित्व स्पष्ट नही हुआ किंतु 'तुम और मै', 'जूही की कली' जैसी कविताओ मे उनकी कल्पना उनके आवेगो के साथ होड़ करती है। यही कारण है कि ये कविताएँ बहुत लोकप्रिय हुई हैं। बड़े कथात्मक प्रयोगो मे निराला जी को अधिक सफलता मिली है। वे पत की तरह अत्यधिक वैयक्तिकतावादी कवि नही है। बडे आख्यानो—जैसे काव्य विषय मे उन्हे वस्तुव्यजना का भी अवसर मिलता है और कल्पना के पंख पसारने का भी मौका मिल जाता है। इसीलिये उनमें निराला अधिक सफल हुए है। 'तुलसीदास',

'राम की शक्ति पूजा' और 'सरोजस्मृति' जैसी कविताएँ उनकी सर्वोत्तम कृतियाँ है। इनमें भाषा का अद्भुत प्रवाह पाठक को निरंतर व्यस्त बनाए रहता है। कल्पना यहाँ आवेगो के सामने फीकी लगती है। किंतु स्फुट गीतो मे निराला को ऐसा अवकाश नही मिलता। गीतिका के गीत ठूँठ हो गए है और दुर्बोध तो है ही।

निराला की रचनाएँ साधारण पाठको को तो दुर्बोध मालूम ही होती है,उनके प्रशसको को भी कभी-कभी दुरूह लगती है। इसका कारण यह है कि कवि अपने आवेगो को सयत रखकर नही लिख सकता। एक बात कहते-कहते उसे उसी से संबधित (और कभी-कभी उल्टी पडनेवाली) दूसरी बात याद आ जाती है। कवि अपने आवेगो पर अकुश नही रख सकता। अकुश वह रख सकता है जो भावो को सजाने और सुघड़ बनाने का प्रयास करता है। निराला यह नही करते इसलिये उनके भावो की अविरल धारा में ऐसे प्रसंग प्रायः छूट जाते है जो साधारण पाठक के लिये प्रासगिक होते है और ऐसे प्रसग प्राय. आ जाते है जो साधारण पाठक की दृष्टि में बहुत प्रासगिक नही जँचते। इसीलिये उनकी कविताएँ दुर्बोध हो जाती है। बड़े कथा-प्रसगो मे पाठक कुछ अनुमान द्वारा छूटे हुए स्थानो को भर लेता है पर छोटे प्रगीतो में वह कुछ भी समझ नही पाता। निराला की कविता के इस पक्ष ने उसे अधिक लोकप्रिय नही होने दिया।

इन कवियो मे श्री जयशकर प्रसाद 'प्रसाद'[१] (१८८९-१९३७ ई०) बहुत पहले से साहित्य-क्षेत्र में परिचित थे।

---

१. जयशकर प्रसाद की मुख्य रचनाएँ—उर्वशी (चंपू १९०९), प्रेमराज्य (का० १९१०), करुणालय (ना० १९१२), छाया (का०),काननकुसुम (का० १९१२), प्रेम पथिक (का० १९१३), महाराणा का महत्त्व (का० १९१४), प्रायश्चित्त (ना०

उनकी आरंभिक रचनाओ मे अतीत के प्रति एक प्रकार की मोहकता और मादकता से भरी हुई आसक्ति मिलती है। उनके कई परवर्ती नाटको में यह भाव स्पष्ट हुआ है। 'चित्राधार', 'कानन कुसुम' आदि रचनाओ को पढ़ने से लगता है जैसे कवि कुछ कहना चाहता है, पर कह नही पाता। प्रसाद अन्य छायावादी कवियो से इस बात मे शुरू से ही अलग है। अन्य कवियो ने अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियो को स्वच्छदता के साथ प्रकट किया जबकि प्रसाद ने उन पर अकुश रखा। एक प्रकार की झिझक और सकोच का भाव उनकी, 'आँसू' तक की सभी कविताओ में मिलता है। ऐसा लगता है कि कवि को भय है कि उसके मन में जो भाव उमड़ रहे है, जो वेदना संचित है, वह यदि एकाएक अपने अनावृत रूप में प्रकट हो जाएगी तो पाठक उसकी कद्र नही कर सकेंगे। कवि की धारणा है उसका पाठक अभी इस परिस्थिति मे नही है कि उसके भावो को ठीक-ठीक समझ सके और सहानुभूति के साथ उन्हें देख सके। उनकी कविताओ के सबध मे जो आलोचनाएँ निकल रही थी उनसे भी उन्होने यही निष्कर्ष निकाला होगा। 'झरना' की रचनाएँ कुछ अधिक स्पष्ट है, परतु उनमें भी 'छेडो मत यह सुख का कण है' जैसी पक्तियो मे कवि की झिझक व्यक्त हुई है। 'आँसू'

१९१४), राज्यश्री (ना० १९१५), चित्राधार (का० १९१८), विशाख (ना० १९२१), अजातशत्रु (ना० १९२२), प्रतिध्वनि (का० १९२२), आँसू (का० १९२६), जनमेजय का नाग यज्ञ (ना० १९२६), कामना (ना० १९२७), झरना का० १९२७), स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (ना० १९२८), आकाशदीप (का० १९२९), ककाल (उप० १९२९), एक घूँट (ना० १९२९), चन्द्रगुप्त मौर्य (ना० १९३१), आँधी (का० १९३१), ध्रुवस्वामिनी (ना० १९३४), तितली (उप० १९३४), लहर (का० १९३५), इन्द्रजाल (का० १९३६), कामायनी (का० १९३७), काव्य और कला (निबन्ध १९३९)।

की रचनाओ मे कवि ने अपने विचारों को कुछ दार्शनिकता का आवरण पहनाया है। आगे चलकर उनकी यह प्रवृत्ति बढ़ती गई है। 'कामायनी' उनके गहन चिन्तन, मनन और अनुभूति का फल है। उसमें विचारो की स्पष्टता और भावों का ससज्ज प्रकाशन विना किसी सकोच के हुआ है। कामायनी मे कवि अपने भावावेगो पर कम-से-कम पर्दा डालता है।

आरंभ से ही भावो की ससज्ज, सलज्ज स्थापना में प्रसाद का सचेत व्यक्तित्व स्पष्ट हुआ है। इसमें धकियाकर आगे बढने की प्रवृत्ति नही है वल्कि चुपचाप सवके वाद धीरे से--अज्ञात रहकर--आगे बढ जाने का भाव है। 'झरना' तक की रचनाओ में यही सलज्ज भाव रहता है। 'आँसू' मे कवि अपने भावो को अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त करने लगता है पर अवगुंठन वहाँ भी है। प्रसाद प्रकृति के और मनुष्य के सौदर्य को पूर्ण रूप से उपभोग्य बनानेवाले कवि है। शुरू-शुरू मे जव वह बौद्ध दर्शन के दु:खवाद से प्रभावित जान पड़ते है तव भी संसार की रूप-माधुरी को छक कर पान करने के सबंध में उनके मन में कोई दुविधा का भाव नही है। वे इस वात को स्पष्ट और दो-टूक भाषा मे नही कह पाते क्योंकि तब तक उन्हें वह तत्त्ववाद नही मिल सका था जो वैराग्य और कृच्छाचार में नही बल्कि सब प्रकार के सामरस्य मे ही मनुष्य की परम शाति में विश्वास करता है।

क्या कारण है कि कवि के अतर की व्याकुलता प्रकट नही हो पाती और प्रकट भी होती है तो सलज्ज अवगुंठन के भीतर बनी रहती है? इसका एक कारण तो सामाजिक है। कवि जिस रूप मे जगत् के सौदर्य को देख रहा है वह परिपाटी-विहित रसज्ञता के अनुकूल नही है। कवि का चेतन मन इस बात

रहस्यवाद

को अनुभव करता है। छायावाद के प्रथम उन्मेष के अनेक कवियों ने अपनी बात को आध्यात्मिक रूप देना चाहा। जो बात परिपाटी-विहित रसज्ञता के प्रेमियों को लौकिक दृष्टि से खटकनेवाली लग सकती है वही बात आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर अच्छी लग सकती है। इसीलिये शुरू-शुरू के छायावादियों ने अपनी रचनाओं को आध्यात्मिक रूप देना चाहा। निराला जी की रचनाओं में भी आध्यात्मिकता का आरोप करके उन्हें महिमा-मंडित करने का प्रयत्न किया गया था। इसीलिये सभी छायावादी रहस्यवादी कहे जाने लगे। परंतु मेरे विचार से दोनों में अंतर है। सभी छायावादी रहस्यवादी नहीं है। रहस्यवादी के चित्त में किसी-न-किसी रूप मे परम प्रेममय, परम आनंदमय, लीला-निकेत, चिरतन-प्रिय का विश्वास अवश्य होना चाहिए। दो प्रकार से यह विश्वास आ सकता है—(१) चिंतन-मनन से और (२) भीतर की पीड़ा और व्याकुलता की अनुभूति के द्वारा। प्रथम श्रेणी के रहस्यवादी प्रसाद जी है, दूसरी श्रेणी में महादेवी जी प्रमुख है। बाकी कवियों में आध्यात्मिक अनुभूति थी भी तो इतनी प्रधान नहीं हो गई थी कि उससे किसी चिरंतन प्रिय के साथ निरंतर चलनेवाली लीला की भावना पुष्ट हो। यहाँ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि हमारे कहने का मतलब यह नहीं है कि किसी दूसरे कवि में आध्यात्मिक भाव थे ही नहीं; हमारे कथन का तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि जिस आध्यात्मिक अनुभूति मे कवि किसी ऐसे प्रियतम की सत्ता में विश्वास करता है जिसके साथ प्रकृति और मानवात्मा की लीला निरतर चलती रहती है वही रहस्यवादी कहा जा सकता है और इस दृष्टि से प्रसाद और महादेवी की कविताओं में रहस्यवाद की पूरी अभिव्यक्ति

है। अन्य कवियो में वह या तो थी ही नही, या थी भी तो अस्पष्ट।

शुरू-शुरू मे, जैसा कि ऊपर बताया गया है, प्रसाद जी की कविताओ मे एक सलज्ज (किंतु ससज्ज) और झिझक-भरी आत्माभिव्यक्ति का भाव है। वे इस बात से स्वय कभी-कभी खिन्न जान पड़ते हैं। क्यो नही वे खुलकर अपने भाव प्रकट करते? क्यो यह एक आवरण उनकी रचनाओ को आच्छन्न करता रहता है? आवरण का स्वरूप क्या है? छायावादी कवियो ने जब अपने भावो को प्रकट करने मे, सकोच किया है तो भावों को इस प्रकार से रूप दिया है कि वह मनोवृत्तियो की क्रिया के रूप में प्रकट हो। 'भाव' होते हैं, किए जाते हैं, वे स्वय करता नही हैं। परतु कवि उनको इस रूप मे रखेगा मानो वे किसी विशेष मनोवृत्ति के मूर्त मानवीय रूप को क्रिया हों। प्रेमी किसी के सु दर रूप को छक कर देखना चाहता है। देखना संभव नही होता। जिसके पास सौदर्य है वह झप रहा है। प्रेमी दर्शक के मन मे अतृप्तिजन्य व्याकुलता है। सीधे कहना होता तो वह अपनी व्याकुलता को कह देता। ठाकुर ने और बोधा ने सीधे-सीधे कह भी दिय है। पर झिझक और संकोच से भरा छायावादी कवि कहेगा कि मेरी अध-जगी भावनाओ को सौदर्य के लजीले पद-सचार ने कुचल दिया! प्रसाद जी की कविता में और महादेवी जी की आरभिक रचनाओ में यह भाव है। इसीलिये कुछ लोगो ने भावनाओ को मूर्त बनाकर उनकी क्रिया के रूप में भावो के चित्रण को ही रहस्यवाद कह दिया। यह धारणा गलत है। रहस्यवाद यह शैली नही है। यह केवल कवि के रहस्य-वादी होने की सभावना का संकेत करता है। जिस कवि की रचना मे इस प्रकार का सलज्ज अवगुठन हो, भविष्य में उसके

प्रसाद का रहस्यवाद

रहस्यवादी हो जाने की संभावना रहती है, क्योंकि वह अनतकाल तक अवगुंठन की इस व्याकुलता को नही सहन कर सकता।

प्रसग प्रसाद जी का चल रहा था। प्रसाद जी के सोचने का मार्ग उनकी रचनाओ से बहुत स्पष्ट हो जाता है। सौदर्य—पार्थिव सौदर्य—के प्रति प्रसाद का आकर्षण बहुत अधिक है परंतु शुरू-शुरू में वे उसे व्यक्त नही कर पाते थे। उनके मन में इस बात से कुछ चिंता भी हुई। परंतु फिर वे इस प्रकार सोचते जान पडते हैं कि आवरण और अवगुठन बुरा क्या है। विधाता ने ही तो सारे संसार मे अवगुठन का जाल बिछा रखा है। नग्न और अनावृत सत्य को उन्ही तो इष्ट नही है। यह आलोक और अधकार की आँख-मिचौनी तो उन्ही ने चला रखी है। इसी रास्ते सोचता हुआ कवि अत में अवगुठन के तत्त्ववाद तक पहुँचता है। अब उसे समझ में आता है कि आरभ मे ही जो विधाता ने उसके हृदय में झिझक और सकोच दिया था वह भी उनकी कृपा ही थी; वह भी उनकी एक लीला ही थी। प्रसाद जी के काव्यो में और उनके नाटको मे भी यही चिंतन-प्रणाली स्पष्ट हुई है। आगे चलकर उन्हे अपने इस विशिष्ट स्वभाव का स्पष्ट और प्रौढ समर्थन प्रत्यभिज्ञा दर्शन में मिलता है। 'कामायनी' में आरंभ का दबा हुआ सलज्ज भाव विभिन्न सर्गो मे स्पष्ट और प्रौढ अभिव्यक्ति पाता है। यह क्रम सिद्ध करता है कि वे गभीर अध्ययन, चिंतन और मनन के माध्यम से अपने भीतर के सौदर्यप्रेमी मनोभाव को रहस्यवादी कविता के आवरण मे प्रकट कर सके हैं। प्रसाद के समान सौदर्य के प्रेमी कवि बहुत ही विरल हैं और पार्थिव सौदर्य को स्वर्गीय महिमा से मडित करके प्रकट करने का सामर्थ्य तो इतना और किसी में है ही नही।

महादेवी वर्मा[1] (जन्म १९०७ ई०) की कविताओं में प्रसाद की भाँति ही एक प्रकार का संकोच है। वे भी प्रतीको के माध्यम से और सतर्क लाक्षणिकता के सहारे अपने भावावेगो को दबाती है। लाक्षणिक वक्रता और मनोवृत्तियो की मूर्त योजना में ये प्रसाद के समान ही है फिर भी प्रसाद की वक्रता में जितनी स्पष्टता है उतनी भी उनकी आरभिक रचनाओ में नही है। दोनो के मानसिक गठन और वक्तव्य के प्रति पहुँच मे भेद है। प्रसाद जी आरभ से ही कुछ बुद्धि-वृत्तिक है, वे रूपक को दूर तक घसीट और सम्हाल ले जाने की क्षमता रखते है। महादेवी शुरू से ही अत्यधिक सवेदनशील है, उनमे अनुभूति की तीव्रता प्रसाद से अधिक है। इसीलिये वे प्रसाद के समान लवे रूपको का निर्वाह नही कर पाती। वे पूर्णरूप से गीतिकाव्यात्मक प्रकृति की है। वहुत जल्दी उन्होने अपने वास्तविक स्वरूप को समझ लिया। 'नीहार' के वाद की रचनाओ में उनका वास्तविक रहस्यवादी रूप प्रकट हुआ। यह समूचा बाह्य जगत् किसी 'चिरतन' प्रिय की लीला-भूमि है। प्रसाद जी की लीला कल्पना मे सदा विराट् की अनुभूति—असीम का स्पदन—प्रकट होता रहता है; महादेवी जी की कविताओ मे 'चिरतन' और 'असीम' प्रिय अत्यत कोमल, मोहन और उत्सुक प्रणयी के रूप मे चित्रित हुआ है। यहाँ सारी प्रकृति उसकी प्रतीक्षा में सजग और उत्सुक दिखाई पडती है। महादेवी की यह रहस्यवादी भावना सपूर्ण रूप से वैयक्तिक है। यहाँ फिर स्पष्ट कर देना उचित है कि काव्य मे वैयक्तिक से तात्पर्य यह नही है कि कवि के व्यक्तिगत

(हाशिया: महादेवी वर्मा)

---

१ महादेवी वर्मा की मुख्य रचनाएँ—नीहार (का० '३०), रश्मि (का० '३२), नीरजा (का० '३५), सान्ध्यगीत (का० '३६), यामा (का० '४०), अतीत के चलचित्र ('४१), दीपशिखा (का० '४२), शृखला की कड़िया (निबध '४८) इत्यादि।

दुख-सुख का समाचार हमे मिलता है बल्कि वैयक्तिकता का तात्पर्य यह है कि कवि ने जिन भावो को सर्व साधारण का भाव बना दिया है वे शुरू-शुरू में उसके अपने राग-विरागो और मनन-निदिध्यासन द्वारा अनुरजित चित्त में उत्थित हुए थे। काव्य में प्रकट होने के बाद वे कवि के नही, सहृदय मात्र के अपने भाव बन जाते है। व्यक्तिगत अनुभूतियों की तीव्रता और मर्मस्पर्शिता मे महादेवी की रचनाएँ अपूर्व है। वे पाठक के चित्त में वेदना की अनुभूति भरती है और खोई हुई वस्तु के मिल जाने की आशा से उत्पन्न होनेवाले उल्लास का वातावरण उत्पन्न करती है।

छायावाद की मूल भावधारा मे पृथक् किंतु विश्वासों मे सपूर्ण स्वच्छंदतावादी फक्कड कवि बालकृष्ण शर्मा की उद्दाम आवेगोंवाली कविताएँ इसी काल मे लिखी गई। नवीन जी राजनीतिक कार्यकर्ता है। उनका जीवन राजनीति के कशमकश में बीता है। उन्हे छायावाद की साहित्यिक कचकचाहट में पडने की फुरसत नही थी। राजनीतिक संघर्ष से फुरसत पाने पर वे कविता लिखते है। इन कविताओं में सच्चे रोमांटिक कवि की भाँति वे कल्पना की पंख फैलाकर भाव के आकाश में उड़ान लेते है। सब कुछ को छोड़कर आगे बढ जाने की घरफूँक मस्ती से उनकी रचनाएँ आकंठ भरी हुई है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

छायावाद काल में जो कवि अपने ढग से आगे बढ़ रहे थे उनमें सबसे श्रेष्ठ सियारामशरण गुप्त (जन्म १८९६ ई०) है। इनमें भी व्यक्तिगत चिंतन और अनुभूति है और एक प्रकार से छायावादी कविता के बाह्य वृत्त से इनकी कविता सटी हुई कही जा सकती है। परन्तु सियारामशरण जी की रचनाओं

सियारामशरण गुप्त

में एक प्रकार की सावधानी और सतर्कता है जो छायावादी कविता में नही पाई जाती। कल्पना के साथ भावावेगों का घनिष्ठ योग भी इनकी रचना का प्रधान गुण नही है। ये चिंतनशील कवि है। ये उन कवियो मे है जिन्हें मनुष्य के विकास ने प्रभावित किया है और जो मनुष्य के प्रति विसदृश और अमानवीय व्यवहारो से अत्यधिक विचलित हो जाते है। सहानुभूति से भरा हुआ हृदय, मानवीय सद्‌गुणो के विजय मे विश्वास के कारण दृढ आस्था-सपन्न मन, और संसार के प्रति अनासक्त जिज्ञासा द्वारा शोधित बुद्धि उनके काव्यो के मूल मे है। गाधी जी के विचारो का प्रभाव उन पर बहुत अधिक पड़ा है। मनुष्य की मुक्ति के लिये वे साधन और साध्य दोनो की पवित्रता के सिद्धांत से बहुत अधिक प्रभावित है। इनकी अनेक रचनाएँ अब तक प्रकाशित हो चुकी है जिनमे कविता, निबध और उपन्यास भी है। श्री सियाराम जी सच्चे अर्थों मे मानवीय सस्कृति के कवि है। उनकी साहित्य-साधना उनके जीवन के अनुभूत तथ्यो पर आधारित है।

गुरुभक्त सिह भक्त

इस काल मे एक और कवि ने सहृदयो के हृदय मे घर किया था। ये है 'नूरजहाँ' तथा अन्य कई काव्यो के प्रसिद्ध कवि गुरुभक्त सिह 'भक्त'। इनकी रचनाओ मे प्रकृति का बड़ा सुंदर चि ण हुआ है। उस काल के किसी कवि ने प्रकृति को इतनी बारीकी से नही देखा। प्राकृतिक दृश्यो मे ब्योरे-वार वर्णनो के द्वारा ये यथार्थवादी वातावरण प्रस्तुत करते हैं। नूरजहाँ मे जहाँ प्रकृति का चित्रण हुआ है वहाँ इसी श्रेणी का वातावरण मिलता है। वैसे नूरजहाँ में उन्नीसवी शताब्दी के रोमांटिक उपन्यासो की शैली का प्रयोग है और वह पद्यबद्ध उपन्यास के समान ही है। काव्य के रोमांटिक वातावरण के साथ प्रकृति के ब्योरेवार वर्णनों ने एक ऐसा

वातावरण प्रस्तुत होता है जो हिंदी पाठक को बहुत परिचित नही है । इसीलिये इस काव्य मे एक प्रकार अपरिचित दर्शन का औत्सुक्य और उल्लास प्राप्त होता है। भक्त जी की रचनाएँ भी अनेक है । उनका नया काव्य 'विक्रमादित्य' अभी प्रकाशित हुआ है।

छायावादी कवियो ने भाषा को अनुभूति-वहन की क्षमता दी। जिस खडी बोली को सगीत के गुणो से एकदम वञ्चित समझा जाता था वह गीतो की भाषा बन गई। देखते-देखते हिंदी कविता मे गीतो का प्रचार बढ़ गया। अनेक कवियों ने गीतों की भाषा को सँवारा, उसमें करुण, कोमल या परुष भावो को प्रकट किया। सब जी नही सके पर सबने इस दिशा में कुछ-न-कुछ योग अवश्य दिया। आधुनिक-काल की खडी बोली मे सरस गीतो की संख्या काफी अधिक है। छायावादी रचनाओ ने १६३० ई० तक काफी प्रौढ़ता पा ली। इसी समय तीन और शक्तिशाली कवियो का प्रवेश हुआ। ये हैं—भगवतीचरण वर्मा, बच्चन और दिनकर।

सरस गीतो का बाहुल्य

भगवतीचरण वर्मा (जन्म १६०१ ई०) में मस्ती है, उल्लास है और अपने आपके प्रति दृढ विश्वास है। शुरू-शुरू मे छायावादी कवियो मे जो झिझक और संकोच का भाव दिखाई दिया था उसका कोई आभास उनकी कविताओ में नहीं है। वे प्रेम और यौवन के उल्लास के गान गाते समय किसी प्रकार के तत्त्ववादी आवरण चढ़ाने मे विश्वास नहीं करते। वे अनासक्त भोक्ता की भाषा में सुंदर के सौंदर्य की महिमा और अपनी मस्ती के गान गाते हैं। उनके इस असंकुचित और आत्मकेंद्री मस्ती ने सहृदयो को आकृष्ट किया था। बाद में चलकर उनकी प्रतिभा उपन्यासो में

भगवतीचरण वर्मा

व्यक्त हुई। वहाँ भी उनकी मूल प्रवृत्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही।

मस्ती और मौज के दूसरे कवि बच्चन (जन्म १९०८ ई०) है। जीवन की क्षणिक सत्ता को किसी झिझक और सकोच में ही काट देना ठीक नही, इसको परिपूर्ण करने के लिये सौदर्य का मादक आसव आवश्यक है। बच्चन ने उमर खय्याम की भाँति इस मिट्टी के तन और मिट्टी के मन को सौदर्य और प्रेम की मदिरा से सार्थक बनाने के गान गाए। इनकी कविता में जो मादकता थी उसने सहृदयो को आकृष्ट किया। छायावादी कवियो ने लाक्षणिक वक्रता से भाषा को दुरूह बना दिया था, बच्चन ने उसे इस वक्रभगिमा से बचाया। सहज सीधी भाषा मे, सहज सीधी शैली में, अपनी बात कहने के कारण बच्चन बहुत ही लोकप्रिय हुए। 'निशानिमत्रण' में उनकी अनुभूतियो की तीव्रता और भावो की सान्द्रता ने उन्हें सहृदयो का प्रशंसाभाजन बनाया। बच्चन की कविता में जिस क्षणिक उल्लास की मस्ती का प्रचार किया गया था उससे कुछ लोग अप्रसन्न भी थे। शायद उपहास के लिये ही शुरू-शुरू मे इसे 'हालावाद' नाम दे दिया गया था। वस्तुत: यह हाला एक प्रतीक मात्र है जो तत्काल प्रचलित झूठी आध्यात्मिकता के प्रतिवाद का एक प्रतीक मात्र था। मूलत. बच्चन की कविता मस्ती, उमग और उल्लास की कविता है। अनुभूतियो की तीव्रता भी उसका एक विशिष्ट गुण है। जब से वह उल्लास और उमग का वातावरण क्षीण हो गया तब से बच्चन की कविता की लोकप्रियता भी घट गई।

बच्चन

मस्ती के तीसरे कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' (जन्म १९०९ ई०) हैं। कल्पना की ऊँची उड़ान, विसदृश परि-

दिनकर

स्थितियों को अनुकूल बनाने की उमंग और सामाजिक चेतना की तीव्रता के कारण, दिनकर प्रथम दो कवियों से एकदम भिन्न श्रेणी के कवि हैं। छायावादी कवियों में सामाजिक चेतना बहुत छिपी हुई, अस्पष्ट और अवगुंठित थी। भगवतीचरण वर्मा और बच्चन में वह उतनी अवगुंठित तो नहीं है पर दोनों में ही वैयक्तिक चेतना का प्राधान्य है। दिनकर की उमंग और मस्ती में सामाजिक मंगलाकांक्षा का प्राधान्य है। 'हुंकार' में कवि सामाजिक विषमताओं से बुरी तरह आहत है। वह अपनी कल्पना को बार-बार पुकार कर कहता है कि यह दुनियाँ रहने लायक नहीं है, किसी और मोहक लोक में ले चलो पर उनकी कल्पना चील की तरह मँडराकर बारंबार इस विषमता-व्याकुल जगत् की ओर ही झपट्टा मारती है। 'रसवन्ती' में कवि इस विषय में कुछ कम मुखर है, वह सौंदर्य के प्रति आकृष्ट होता है, परंतु उसके चित्त में शांति नहीं है। उसका मन स्वच्छन्द रूप में मस्ती और मौज का उपासक है, शहर की चिन्ता में घुलने होनेवालों से अलग रहना पसंद करता है। किंतु उसके भीतर अव्यक्त और अलक्षित रूप से सामाजिक चेतना का वेग है। वह समाज की चिंता छोड़ नहीं पाता। इस द्विविध वृत्तियों के संघर्ष से दिनकर के काव्य में वह प्रवाह उत्पन्न हुआ है जो अन्य कवियों में नहीं मिलता। दिनकर व्यक्तिवादी दृष्टि का प्रत्याख्यान लेकर साहित्य-मंच पर आए। वे छायावादियों और प्रगतिवादियों के बीच की कड़ी हैं—कम छायावादी, अधिक प्रगतिवादी। 'कुरुक्षेत्र' में उनकी सामाजिक चेतना की मुखरतम अभिव्यक्ति हुई है। दिनकर अपने ढंग का अकेला हिंदी कवि है। यौवन और जीवन उसे आकृष्ट करते हैं, सौंदर्य के मोहक संगीत उसे मुग्ध करते हैं पर, वह इनसे अभिभूत नहीं होता। उल्लास

और उमग सच्चे अर्थो मे मानवता की मुक्ति से ही संभव है । जब छायावाद के प्रथम उन्मेष के कवियो के वाद दूसरे उन्मेष के कवि आए तो उनके सामने मानवतावाद का आदर्श अस्पष्ट रह गया था । दिनकर मे वह आदर्श पूरे जोर पर है । इसीलिये दिनकर के काव्य का आकर्षण शिथिल नही हुआ है । आरभ से लेकर अब तक उनका विकास एकरस है और गतिशील है ।

छायावादी भापा की प्रतिक्रिया का आरभ

ऊपर जिन तीन कवियो की चर्चा की गई है उनकी भाषा मे छायावादी कवियो की लाक्षणिकता-प्रधान वक्रभगिमा-वाली भाषा और नूतन प्रतीको की नूतन रूढि प्रवर्तित करनेवाली शैली का प्रत्याख्यान हुआ है । वहुत थोड़ी दूर तक यह प्रतिक्रिया जानबूझकर और सावधानी के साथ हुई, अधिकाश मे यह अनजाने ही हुई । इसका परिणाम भी अच्छा ही हुआ । कई कवियो ने स्वतत्र शैली मे कविता लिखी । रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, सोहनलाल द्विवेदी, मोहनलाल महतो वियोगी, 'अज्ञेय', श्यामनारायण पाँडेय, उदयशकर भट्ट, जानकीवल्लभ शास्त्री 'आरसी', 'नेपाली', 'अचल' आदि कवियो ने भाषा मे नवीन व्यजना-शक्ति और भावग्राहिता की क्षमता दी । हिंदी कविता तेज गति से अग्रसर हुई । छायावाद के प्रथम उन्मेष मे जो सास्कृतिक चेतना काम कर रही थी, वह कुछ दिनो के लिये म्लान हो गई, इसलिये नये खेवे के इन कवियो ने कोई बहुत वडा काव्य नही दिया परतु भविष्य मे जो महान् कवि उत्पन्न होगा वह निस्संदेह इन्ही कवियो के द्वारा सँवारी और माँजी हुई भाषा पाकर ही महान् बनेगा ।

सन् १९२० से १९३६ तक का काल भारतीय इतिहास के घोर मथन और उथल-पुथल का काल है । इस काल में

घोर मथन और उथल-पुथल का काल

भारतवर्ष ने पूरी ताकत लगाकर अग्रेजी शासन को उखाड फेकने का प्रयत्न किया। यह प्रयत्न दस-ग्यारह वर्ष बाद सफल हुआ। परतु इस समय तक विदेशी प्रभाव की जड़े हिल गई। देश के युवको में कभी भी आत्म-विश्वास की मात्रा उतनी अधिक नही थी जितनी इस काल मे रही। धीरे-धीरे व्यक्ति-मानव के स्थान पर समाज-मानव का महत्व प्रतिष्ठित होता गया। यह काल एक ओर सामूहिक आदोलन मे विश्वास करता है और दूसरी ओर सामाजिक अभ्युत्थान के प्रति आकृष्ट होने का भी समय है। भारतवर्ष का शिक्षित चित्त अब अनुभव करने लगा था कि कल्याण का मार्ग व्यक्ति की सुख-सुविधा की साधना के भीतर से नही गया है वह सामाजिक सुख-सुविधा के प्रयत्नो के भीतर से निकला है। ऐतिहासिक घटनाएँ बडी तेजी से सोचने-समझने की योग्यता रखनेवाले मनुष्य के दिमाग पर आघात करती गई और क्रमश वह व्यक्ति संस्कार की कमजोरियो को समझता गया और सामाजिक मगल की साधना की ओर अग्रसर होता गया।

उपन्यास और कहानी

जिन कृती उपन्यास और कहानी-लेखको की चर्चा पिछले प्रकरण में की गई है उनमे से अधिकांश इस काल में जीवित थे। सुविधा और संक्षेप के लिये पहले प्रकरण में उनकी सफलताओ की चर्चा कर दी गई है। यहाँ स्मरण रखने के उद्देश्य से यह कह रखना आवश्यक है कि प्रेमचद, सुदर्शन, विश्वभरनाथ शर्मा कौशिक, प्रसाद आदि कहानी और उपन्यासो के कृती लेखको की मुख्य और महत्वपूर्ण रचनाएँ इसी काल में लिखी गई। प्रसिद्ध कथाकार जैनेंद्रकुमार का आविर्भाव इसी काल में हुआ। उनकी रचनाओ मे नवीन

कारीगरी और नवीन उपस्थापन कौशल को देखकर सहृदयो को आशा हुई थी कि ये आगे चलकर बड़े साहित्यकार होगे। यह आशा सत्य सिद्ध हुई। उनके 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र' आदि उपन्यासो और दर्जनो कहानियो मे मनुष्य जीवन के अनेक नवीन पहलुओं का उद्घाटन हुआ। गाधी जी के जीवन दर्शनो से ये भी प्रभावित थे परंतु कही भी इन्होंने ऐसा कुछ न लिखा जो उनका स्वय चिंतित न हो। जैनेंद्र के नारी पात्रों मे अद्भुत महिमा है। जैनेंद्र के प्राय साथ ही दो प्रतिभाशाली कहानीकार और भी साहित्य-क्षेत्र मे प्रविष्ट हुए। एक है चद्रगुप्त विद्यालकार और दूसरे सच्चिदानद हीरानद वात्स्यायन। चद्रगुप्त की कहानियो में सहज-स्वाभाविक जीवन के भीतर अनायास आयोजित मर्मस्पर्शी घटनाओ का विन्यास था। कम लेखको मे इतनी सहज भगिमा से इतने मर्मस्पर्शी घटनाओ की योजना के गुण पाए जाते है। आगे चलकर चद्रगुप्त जी के नाटक भी प्रकाशित हुए, आलोचनाएँ भी निकली और पत्रकारिता मे भी यश मिला।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय उस काल के एक ऐसे राजनीतिक आंदोलन के भीतर विकसित हुए थे जिसकी तत्कालीन गांधीवादी राजनीति से कोई समानता नही थी। गाधीवादी राजनीतिक धारा के साथ ही देश मे सशस्त्र क्रांति के भी प्रयत्न हो रहे थे। उन दिनो कितने ही क्रांतिकारी दल ऐसे थे जिनका विश्वास अहिंसा में नही था। वे विदेशी शासन को जिस किसी तरीके से भी उखाड़ देने के पक्ष में थे। स्पष्ट ही दोनो प्रकार के आंदोलनों के मूल तत्ववादो में बड़ा अंतर था। ऐसे ही एक क्रांतिकारी दल के सदस्य वात्स्यायन जी थे। वाइसराय की गाड़ी उड़ा देने के षड्यंत्र के अभियोग में इन पर मुकद्दमा चला था। गुप्तवास में नाना प्रकार की कष्टसाध्य जीवनचर्या और बहु-विचित्र जीवन-

लीला से ये परिचित हो चुके थे। ये स्वयं विज्ञान के विद्यार्थी थे, परंतु अंग्रेजी साहित्य का जैसा गंभीर अध्ययन इन्होंने किया था वैसा कम हिंदी लेखकों ने किया होगा। इन्होंने हिंदी में 'अज्ञेय' नाम से कहानियाँ और कविताएँ लिखना शुरू की। अंग्रेजी में भी इन्होंने कविताएँ लिखी है और जानकार लोगों का कहना है कि उन कविताओं की भाषा बहुत ही परिमार्जित और शुद्ध है। नाना प्रकार की सुकुमार कलाओं की जानकारी भी जैसी इनको है वैसी कम लेखकों को होगी। इस प्रकार 'अज्ञेय' अद्भुत प्रतिभाशाली लेखक है। इनकी कहानियों में जीवन की सचाई, व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक और विचारों की ताजगी थी। आगे चलकर इनका समालोचक रूप में भी बड़ा सुंदर विकास हुआ। इनका 'त्रिशंकु' नामक निबंध-संग्रह साहित्य की वास्तविक स्थिति का बड़ा ही विचारपूर्ण विश्लेषण है और 'शेखर: एक जीवनी' नामक उपन्यास हिंदी के उपन्यास जगत् में एक बिल्कुल नये अध्याय का श्रीगणेश करता है। उनकी हाल की कहानियों में फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रतीकों का बहुत सफलतापूर्वक प्रयोग है। अज्ञेय जी फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र के बहुत मर्मज्ञ विद्वान् है। इधर उनके द्वारा संपादित 'प्रतीक' साहित्य रूपों के नये प्रयोगों के पुरस्कर्ता पत्र के रूप में प्रसिद्ध हो रहा है।

अज्ञेय की भाँति ही एक और प्रतिभाशाली लेखक, यशपाल, हिंदी कहानी और उपन्यासों के क्षेत्र में आए। ये भी एक क्रांतिकारी राजनीतिक दल के भूतपूर्व सक्रिय सदस्य थे। इनकी कहानियाँ आगे चलकर उस श्रेणी के साहित्य को समृद्ध करने लगी जिसे प्रगतिवादी साहित्य कहते है। हम आगे उसकी संक्षिप्त विवेचना करने जा रहे है।

इस काल मे कई अन्य प्रभावशाली कहानी और उपन्यास लेखक भी हुए जिनमें चतुरसेन शास्त्री, भगवती-प्रसाद बाजपेयी, बेचन शर्मा 'उग्र', भगवतीचरण वर्मा, मोहन-सिंह सेंगर, राधाकृष्ण प्रसाद उल्लेख योग्य हैं। राजा राधिका-रमणसिंह के उपन्यास विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं क्योकि इनमे मुहावरेदार भाषा और चटकीले चित्रो की योजना हिंदी में अपने ढग की अकेली ही है।

कहानियो के क्षेत्र मे कई प्रतिभाशाली महिला लेखि-काओ ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सुभद्राकुमारी चौहान, शिवरानी देवी, कमला देवी चौधरी और

महिला-लेखिकाएँ होमवती देवी ऐसी ही महिलाएँ हैं। इनकी कहानियो में भारतीय परिवार की समस्याएँ सामने आई हैं। यथार्थ घरेलू चित्र प्रस्तुत करने मे महिलाएँ पुरुष लेखको से अधिक सफल सिद्ध हुई हैं।

निबध और समालोचना के क्षेत्र मे इस काल मे बडी उन्नति हुई। प० रामचद्र शुक्ल जैसे प्रौढ समालोचक इसी काल में अपनी कृतियो से हिंदी साहित्य को समृद्ध कर रहे थे। पद्मसिंह शर्मा, पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी और श्याम-बिहारी मिश्र, पीतांबर दत्त बडथ्वाल और नंददुलारे बाज-पेयी, सत्येंद्र, नगेंद्र आदि समालोचक इसी काल मे अपनी रचनाओ के साथ साहित्य-क्षेत्र मे आए। पत्रकारिता के क्षेत्र में बाबूराव विष्णु पराडकर, अंबिकाप्रसाद बाजपेयी, लक्ष्मण नारायण गर्दे, गणेश शकर विद्यार्थी, बनारसीदास चतुर्वेदी, माखनलाल चतुर्वेदी जैसे कृती पत्रकारो ने इस काल मे हिंदी पत्रकारिता को बहुत समृद्ध बनाया।

नाटको के क्षेत्र मे उतनी समृद्धि नही हुई जितनी कविता और निबध के क्षेत्र में। हिंदी मे रगमच कभी सगठित नही

नाटक

हुआ। फिर इस काल में सवाक् चित्रपटों का प्रचार बढ़ गया। फलस्वरूप रंगमंच पर अभिनीत होनेवाले नाटकों को धक्का लगा। फिर भी चित्रपट के आ जाने से नाटकीय कला में नवीन कारीगरी का सूत्रपात हुआ। अच्छे-अच्छे उपन्यासों का वाक्-पटीय रूप (सिनेरियो) प्रकाशित होने लगा। इसी समय रेडियो का भी प्रचार बढ़ा। रेडियो पर खेले जानेवाले नाटकों को केवल कान के सहारे दूर-दूर के श्रोता सुनते हैं। इसीलिये रेडियो-नाटक की कारीगरी भी अन्य नाटकों से भिन्न ढंग की हुई। फिर दौड़-धाड़ की दुनिया में बड़े नाटकों का प्रचार कम हुआ और एकांकी और स्वगतिरूपक (मोनोलॉग) नाटकों का चलन बढ़ा। इस प्रकार कारीगरी की दृष्टि से इस काल में नाटकों के चार और नये भेद दिखाई पड़े—वाक्पटीय नाटक (सिनेरियो), रेडियो-नाटक, स्वगतिरूपक नाटक और एकांकी। पहले से चले आनेवाले बड़े नाटक, प्रहसन और गीति-नाट्य तो थे ही।

विषय-वस्तु की दृष्टि से यह काल ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक और रूपक नाटकों में विभाजित किया जा सकता है। प्रसाद जी के ऐतिहासिक-पौराणिक नाटकों में से अधिकांश इसी काल में लिखे गए। प्रसाद जी के प्रारंभिक नाटकों में वस्तु-विन्यास शिथिल है और कथोपकथन रंगमंच के अनुपयुक्त। परंतु धीरे-धीरे उनकी कला निखरती गई है। फिर भी वस्तु-विन्यास की ओर उनका ध्यान कम था, कवित्वपूर्ण वातावरण, उदात्त प्रभावोत्पादन और आकर्षक चरित्र-चित्रण की ओर अधिक। प्रसाद के पात्रों की अनेक श्रेणियाँ हैं। उनके स्त्री पात्रों के भी कई टाइप हैं। अपने सांस्कृतिक महत्त्व के कारण ही ये नाटक अधिक ख्यात हुए। श्री हरिकृष्ण प्रेमी ने भी कई अच्छे ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं।

वस्तु-विन्यास और प्रसंगानुकूल भाषा-योजना में वे बहुत सफल हुए हैं पर प्रसाद के समान मोहक कवित्व और उदात्त गुणो वाले चरित्रों का उतना अच्छा प्रयोग नही कर सके । परंतु फिर भी प्रेमी के नाटको में नाटकीय तत्व प्रचुर मात्रा मे हैं । पं० बदरीनाथ भट्ट के नाटक भाषा की सफाई और विषय-वस्तु के सुगठित विन्यास के कारण बहुत अच्छे बने हैं । 'दुर्गावती' आदि ऐतिहासिक नाटको मे उनकी कला बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हुई है । सेठ गोविंददास जी ने भी कई ऐतिहासिक तथा अन्य श्रेणी के नाटक लिखे हैं । सेठ जी बहुत अध्ययनशील ग्रथकार हैं । वे नाटक संबधी नई कारीगरियो का अध्ययन और प्रयोग बराबर करते रहे । श्री उदयशंकर भट्ट के ऐतिहासिक और पौराणिक गीतिनाट्यो मे सु दर कवित्व और आकर्षक चरित्र-चित्रण है । उनका प्रभाव भी बहुत स्फूर्तिदायक होता है । डा० दशरथ ओझा ने कई सु दर ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं । ओझा जी की भाषा सहज और चुस्त होती है और चरित्रों का विकास उनके भीतरी गुणो के कारण सहज ही होता है । ऐतिहासिक नाटक और भी कई लेखकों ने लिखे हैं । जगन्नाथप्रसाद मिलिंद की 'प्रताप प्रतिज्ञा' अच्छा अभिनेय नाटक है । श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र और रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी ने भी इस ओर प्रयत्न किया है । बेनीपुरी जी की 'आम्रपाली' काफी ख्याति पा चुकी है । इस नाटक मे भी बेनीपुरी जी के गतिशील स्वभाव का परिचय मिल जाता है । गोविंदवल्लभ पंत के नाटक बहुत लोकप्रिय हुए हैं । उनकी 'वरमाला' नाटकीय गुणो से समृद्ध है । उनके अन्य नाटकों में नाटकीय गुण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं ।

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र जी की ख्याति उनके समस्या-नाटकों के कारण है । पश्चिमी देशों में सामाजिक समस्याओं

ने विकट रूप धारण किया है । मानवता के प्रति दृष्टि निवद्ध होने के कारण समाज में गृहीत और स्वीकृत अनेक विश्वासो के संबध में नये सिरे-से प्रश्न उठे है कि ये सचमुच ही स्वीकार योग्य है या नही, और नही है तो उनके स्थान पर कौन-से दूसरे आचरण सगत हो सकते है । पश्चिम के नाटककारो और उपन्यासकारो ने इन समस्याओ की ओर सहृदयो को आकृष्ट करना चाहा है । आधुनिक सभ्यता और चिरतन मान्यताओ के द्वद्व से ही ये नाटक आकर्षक वनते है । मिश्र जी ने भी उसी प्रकार के नाटक लिखे है । इनमे भावुकता का प्रवेश कम है । 'प्रसाद' के नाटको में नारी पात्रो मे जो गीतिकाव्यात्मक लोच है वह इन नाटको मे नही है । प्रयत्न यथार्थ चित्रण का है । यथार्थ चित्रण के माध्यम से पाप-पुण्य के सबध मे निरावृत्त सचाई उपस्थित करना ही लेखक का लक्ष्य है । कई नाटको मे सफलता भी मिली है । पर ऐसा जान पडता है कि भारतीय पाठक इस वस्तु को पसद नही कर रहा है । चंद्रगुप्त जी के नाटको की चर्चा पहले ही की जा चुकी है । इस काल मे चतुरसेन शास्त्री के भी कई नाटक प्रकाशित हुए है । शास्त्री जी की भाषा में प्रवाह रहता है और घटना-विन्यास मे अच्छे कौशल का प्रयोग किया गया होता है ।

सिनेमा के लिए लिखे जानेवाले नाटक साहित्य में कम प्रयुक्त होते है । पर इस काल मे कई वडे-वडे लेखक इस ओर आकृष्ट हुए है । सुदर्शन और भगवतीचरण वर्मा इस क्षेत्र में जा चुके है और एक बार स्वयं प्रेमचद भी उधर चले गए थे । रेडियो-नाटको का भी प्रचार बढ रहा है । कुछ लेखको ने इस ओर ध्यान दिया है । कविवर सुमित्रानदन पत ने भी इस उद्देश्य से कुछ नाट्य-रूपको की रचना की है ।

स्वोक्तिपरक (मोनोलॉग) भी कई प्रकाशित हुए है। सबसे आकर्षक है बेनीपुरी जी का 'सीता की माता'। अभी बहुत थोडे लेखको ने इस ओर ध्यान दिया है।

दृश्य-काव्यो की परपरा भी चलती रही, यद्यपि हिंदी मे यह शैली बहुत लोकप्रिय नही बन पाई। प्रसाद जी की 'कामना', सुमित्रानदन पत की 'ज्योत्स्ना' काफी कवित्वपूर्ण है। भगवतीप्रसाद बाजपेयी और उदयशकर भट्ट ने भी इस श्रेणी की रचनाएँ लिखी है। प्रहसनो का जोर इस काल मे नही रहा। भारतेदुकाल के प्रहसनो की सजीवता बाद मे एकदम लुप्त हो गई। जी० पी० श्रीवास्तव के प्रहसन बहुत उच्च साहित्यिक मर्यादा नही पा सके। उपेद्रनाथ अश्क के कई एकाकियो मे इस जाति का साहित्य रचित अवश्य हुआ है पर शक्तिशाली व्यग्य और परिहास का लेखक अभी हिंदी मे नही पैदा हुआ।

एकाकी नाटक

परतु इस काल में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना हुई एकाकियो के अभ्युदय और प्रचार की। जिस प्रकार महाकाव्यो के स्थान पर प्रगीत मुक्तको का प्रचलन बढा, उपन्यासो के स्थान पर छोटी कहानियो का प्रचार हुआ, उसी प्रकार बडे नाटको के स्थान पर एकाकी नाटको का प्रचार बढा। रामकुमार वर्मा और उदय-शकर भट्ट के एकाकी बहुत पसंद किए गए। इस प्रकार इस काल म एक नये साहित्याग का प्रचार हुआ। बाद मे चलकर श्री उपेद्रनाथ अश्क ने इस क्षेत्र में बहुत अच्छा कार्य किया। उनके एकाकी नाटको म यथार्थ का चित्रण हुआ। हिंदी का एकाकी नाटको का साहित्य खूब समृद्धि पर है।

इस काल मे हिंदी में भावात्मक गद्य-निबधो का भी अच्छा प्रचार हुआ। रवीद्रनाथ की 'गीताजलि' का पढने

भावात्मक गद्य

गद्य इसी श्रेणी का है। इस प्रकार के गद्य मे भावेग के कारण एक प्रकार का लययुक्त झकार होता है जो सहृदय पाठक के चित्त को भावग्रहण के अनुकूल बनाता है। रायकृष्णदास जी की तीन पुस्तकें—साधना, प्रवाल और छायापथ—इस श्रेणी की है। इनमे जो गद्य प्रयुक्त हुआ है वह विषय के अनुकूल झकार उत्पन्न करता है। वियोगी हरि जी का 'अतर्नाद', 'भावना' भी ऐसे ही निबध है। रायकृष्णदास और वियोगी हरि के गद्यो मे आध्यात्मिक आत्मसमर्पण-मूलक रहस्यवादी भाव है। डा० रघुवीर सिह की 'शेष स्मृतियाँ' में पुराने ऐतिहासिक तथ्यो पर अत्यंत मार्मिक ढग की आवेग-प्रधान भाषा है। श्री भवँरमल सिंघी की 'वेदना' मे गीतकाव्य का-सा प्रभाव है। श्री दिनेशनदिनी चोरडिया के गद्यो में भावोच्छ्वास की मात्रा बहुत अधिक है। इनमे आत्मनिवेदन का स्वर बहुत द्रावक रूप मे अभिव्यक्त हुआ है। इस काल मे कई अन्य लेखको ने भी भावात्मक गद्य लिखे पर अधिकाश स्थलो में जितना फेन दिखाई पड़ता है उतना रस नही। आलोच्य काल के अत तक इस प्रकार के भावावेग-भरे गद्य-गीतो का प्रचलन कम हो गया।

गद्य के विविध रूप

गद्य के अनेक रूपो का उद्भव इस काल में विशेप रूप से लक्ष्य करने योग्य है। प० बनारसीदास चतुर्वेदी के सस्मरण बडे ही जीवंत और सरस होते है। उनकी शैली अननुकरणीय है। विना किसी आडंबर के वे पाठक को चरितनायक के अतस्तल तक ले जाते है। उनके सस्मरणों का पाठक अनुभव करता है कि जो लोग समाज मे ऊँची मर्यादा पा सके है वे भी वसे ही मनुष्य है जैसे वे है। उनकी भी व्यक्तिगत और पारिवारिक समस्याएँ है, वे दुख-सुख के झोको

से उठते-गिरते रहे हैं । चतुर्वेदी जी की सहानुभूति उन लेखकों से है जो सफल नही हो सके परतु जिनके आत्मदान से साहित्य उर्वर हुआ है । चतुर्वेदी जी के सस्मरण बहुत हीं सात्विक और प्रेरणादायक साहित्य हैं । पं० श्रीराम शर्मा की जीवत और चित्र खीच देनेवाली रचनाओ का भी अनुकरण नही हो सकता । उनके शिकार सबधी लेखो में हिंदी के नवीन ढग का सजीव साहित्य मूर्तिमान् हुआ है । बाबू गुलाबराय की हास्यविनोदपूर्ण और गभीर आलोचनावाली शैलियो मे हिंदी गद्य श्रीसपन्न हुआ है । प० हरिशंकर शर्मा की हास्य-विनोदपूर्ण शैली बहुत ही मार्मिक है। उनका 'चिड़ियाघर' व्यग्य-परिहास की अच्छी पुस्तक है । (प्रसिद्ध कवियत्री श्री महादेवी वर्मा के रेखाचित्र भी बहुत ही जीवत चित्रण हैं । इन चित्रो मे महादेवी जी की प्रतिभा का एक नया द्वार उद्‌घाटित हुआ है । एक तरफ सताए हुए और अपमानितो के प्रति उनका कोमल हृदय सहानुभूतियो की बहुमुखी धारा के रूप में फूट पडा है और दूसरी ओर जो इस प्रकार के निर्यातन के सहायक है उनके प्रति उनके हृदय का रोष सहस्र-धार होकर बरस पडा है । वे जिस व्यक्ति को चित्रित करती हैं वह अपनी समस्त विशेषताओ के साथ जीवत हो उठता है।) भगवतशरण उपाध्याय की तिलमिला देनेवाली शैली के व्यंग्यगर्भ और स्फूतिदायक निबध, प्रभाकर माचवे की व्यग्यात्मक कहानियाँ, गोपालप्रसाद व्यास के परिहासात्मक निबंध और कविताएँ और राय सोमनारायण के व्यग्य रेखांकन सुंदर हुए है ।

इस काल का गद्य जीवनी के रूप में, आत्मकथा के रूप में, सस्मरणो के रूप मे, व्यग्य-कटाक्षो के रूप मे, भावात्मक गद्य-गीतो के रूप में, परुष वाक्-प्रहार के रूप में, संयत वाद के रूप मं, बहुमुखी समृद्धि के साथ प्रकट हुआ है । इन सभी

रूपो में शक्तिशाली लेखक प्राप्त नही हुए है पर सबका श्रीगणेश हो गया है। पत्र-पत्रिकाओ में गद्य के विविध रूपो के प्रयोग देखने को मिलते है। सब समय उनमे गहराई नही होती पर जीवन का स्पर्श उनमे अवश्य होता है। यह बहुत बडी बात है। जीवन के स्पर्श से ही साहित्य में प्राण आता है। जो साहित्य जीवन से विच्छिन्न हो जाता है वह केवल वाग्-विलास मात्र रहकर समाप्त हो जाता है पर जो जीवन के स्पर्श से प्राणवत बन जाता है उसमे विकसित होने और बलिष्ठ होने की सभावनाएँ बढ जाती है।

इस प्रकार यह काल साहित्य की बहुमुखी उन्नति का काल है। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबध आदि सभी क्षेत्रो मे इस समय खूब समृद्धि आई। इस काल में विश्वविद्यालयो में हिंदी के गृहीत हो जाने से गभीर आलोचनात्मक निबधो की ओर भी विद्वानो का ध्यान आकृष्ट हुआ। बाबू श्यामसुदरदास और उनके सहकर्मियो ने भाषा-विज्ञान, समालोचना, साहित्य का इतिहास आदि विषयो पर गभीर पुस्तके लिखी और इस प्रकार हिंदी के पठन-पाठन के स्तर को उन्नत बनाया। सैकडो अख्यात-अज्ञात लेखको ने स्वल्प काल में ही भाषा को वह शक्ति दी जो वर्षो की साधना और सघर्ष से ही प्राप्त हुआ करती है। इन थोडे-से वर्षो में हिंदी में जो अपूर्व ग्राहिका शक्ति, प्रकाशन-क्षमता और गंभीर चिंतनमूलक प्रतिभा का विकास हुआ उसके मूल में ऐसे हजारो लेखको का आत्मदान है जिनके नाम कभी भी किसी इतिहास मे नही लिखे जाएँगे। उपेक्षित, अपमानित, बुभुक्षित रहकर भी न जाने कितने अज्ञातनामा महाप्राण लेखको ने भाषा को यह शक्ति दी है। इतिहास-लेखक उनके नाम नही गिना सकता पर उनकी मूक और प्रेरणादायिनी सेवाओं के प्रति अवश्य सचेत रहता है। उनको अपनी मौन प्रणति

निवेदन किए विना वह नही रह सकता। विराट् प्रसाद के ऊपरी सतह पर जो नहीं दिखाई देते उन कणो का महत्त्व कम नही है। इतिहास लेखक केवल श्रद्धा और आश्चर्य के साथ उन महासाधको को स्मरण कर सकता है जिनके आत्मदान से ही साहित्य-प्रासाद के ऊँचे कंगूरो का ऊँचा होना सभव हुआ है।

(६) प्रगतिवाद

(१९३६–१९५२ ई०)

मानवतावाद का विकृत रूप

आरभ मे मानवतावाद मानवता को शोपण और बधन से मुक्त करने के बड़े महान् और उदार आदर्शों से चालित हुआ था। तत्वचिंतको और साहित्यमनीषियो के मन मे इस आदर्श का रूप बहुत ही उदार था पर व्यवहार मे मनुष्य की उदारता केवल एक ही राष्ट्र के मनुष्यो की मुक्ति तक ही सीमित होकर रह गई। धीरे-धीरे राष्ट्रीयता नामक नवीन देवी का जन्म हुआ। यह एक हद तक प्रगतिशील विचारो की ही उपज थी। हमारे देश मे भी नये जीवन-साहित्य के स्पर्श से नवीन जीवन-आदर्श जाग पड़े। मानवतावाद भी आया; दलितो, अध पतितो और उपेक्षितो के प्रति सहानुभूति का भाव भी आया; और साथ-ही-साथ राष्ट्रीयता भी आई। पश्चिमी देशो मे राष्ट्रीय भावना के बहुल प्रचार ने एक राष्ट्र के भीतर सुविधाभोगी और सुविधा के जुटानेवाले दो वर्गों के व्यवधान को बढाने में सहायता पहुँचाई। जिन लोगो के पास सपत्ति है और जिनके पास सपत्ति नही है, उनका अंतर भयंकर होता गया। एक तरफ तो विषमता बढती गई और

दूसरी तरफ राष्ट्रीयता की देवी युवावस्था की देहली पर पहुँच कर ऐसी ईर्ष्यालु रमणी साबित हुई जो सारे परिवार को ही ले डूबती है। ससार मे एक ओर राष्ट्रीयता ने सिर उठाया, दूसरी ओर मानवतावाद के विकृत चिंतन ने उस विकृत मतवाद को जन्म दिया जिसके अनुसार मनुष्यो मे भी दो श्रेणी के मनुष्य हैं—एक उत्तम, दूसरे निकृष्ट, एक मे देवत्व की सभावनाएँ है और दूसरे में पशुता से कोई विशेष अतर नही है। इन विकृत विचारो ने ठाँय-ठाँय दो महायुद्धो को भूपृष्ठ पर उतार दिया। इस प्रकार मनुष्यता की महिमा भी विकृत रूप मे भयकर हो उठी।

आज ससार का संवेदनशील चित्त इस भयकर दुष्परिणाम से व्याकुल हो गया है। सारे ससार के साहित्य के निष्ठावान् मनीषियो के मन मे आज एक ही प्रश्न है—यही क्या वास्तविक मानवतावाद है जो मनुष्य को अकारण विनाश के गर्त में ढकेल रहा है? उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमी-स्वप्नदर्शियो ने और इस देश के पिछले खेवे के महान् साहित्यकारो ने क्या मानवता की इसी महिमा का प्रचार किया है? आज नाना स्वरो मे वैचित्र्य-संवलित आकार धारण करके एक ही उत्तर मानव चित्त की गभीरतम भूमिका से निकल रहा है—मानवतावाद ठीक है। पर मुक्ति किसकी? क्या व्यक्ति मानव की? नही। सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को—व्यक्ति मनुष्य को नही, बल्कि समष्टि मनुष्य को—आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा।

यह गलत बात है कि मनुष्य कभी पीछे लौटकर ठीक हू-ब-हू उन्ही विचारो को अपनाएगा जो पहले थे। जो लोग मध्ययुग की भाँति सोचने की आदत को इस भयकर

वात्याचक्र की उलझन से बच निकलने का साधन समझते हैं, वे गलती करते है ।

प्रगतिशील और प्रगतिवादी साहित्य

इतिहास चाहे और किसी क्षेत्र मे अपने को दुहरा लेता हो, विचारो के क्षेत्र मे वह जो गया सो गया। उसके लिये अफसोस करना बेकार है। पर इतिहास हमारी मदद अवश्य करता है। रह-रहकर प्राचीन काल के मानवीय अनुभव हमारे साहित्यकारो के चित्त को चंचल और वाणी को मुखर बनाते अवश्य हैं, पर वे व्यक्ति साहित्यकार की विशेषता रूप में ही जी सकते हैं। हमारे साहित्यकार ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है। अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है---सब प्रकार के शोषणो से मुक्ति का। अगली मानवीय सस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खडी होगी। इतिहास के अनुभव इसी की सिद्धि से साधन बनकर कल्याणकर और जीवनप्रद हो सकते है। इस प्रकार हमारी चित्तागत उन्मुक्तता पर एक नया अकुश और बैठ रहा है---व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव का प्राधान्य। परंतु साथ ही उसने मनुष्य को अधिक व्यापक आदर्श और अधिक प्रभा-वोत्पादक उत्साह दिया है। जब-जब ऐसे बडे आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता ह तब-तब साहित्य नये काव्यरूपो की उद्‌भावना करता है। इस बार भी ऐसा ही हुआ है। इसी नवीन आदर्श से चालित साहित्य का नाम 'प्रगतिशील' साहित्य है। इसी की एक निश्चित तत्त्ववाद पर आश्रित शाखा 'प्रगतिवादी' साहित्य है। 'प्रगतिशील' व्यापक शब्द है किंतु 'प्रगतिवाद' एक निश्चित तत्त्वदान को सूचित करता ह।

ऊपर बताया गया है कि महात्मा गाधी के नेतृत्व में विदेशी बंधन से मुक्ति पाने का जो आदोलन देश चल रहा था वह एक महान् सास्कृतिक आदोलन था। कई बार

महात्मा गाधी ने उमड़ते हुए जन-आदोलन को इसलिये रोक दिया कि उन्हे आशका थी कि वह कही हिंसा के मार्ग की ओर न बढ जाए। कांग्रेस के कई विचारशील नेता महात्मा जी से इस बात पर एकमत नही हो सके थे। उधर मजदूरो का आदोलन बढ रहा था। गाधीजी के नेतृत्व के बाहर से उसका सचालन हो रहा था। एक तरफ राष्ट्रीयता के नाम पर लाख-लाख नौजवान जेल जा रहे थे और दूसरी तरफ राष्ट्र के सुविधा-भोगी लोग मजदूरो और किसानो के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार नही कर रहे थे। राष्ट्रीयता का मोहन मत्र सवेदनशील देशसेवको के दिमाग पर अब असर नही कर रहा था। सन् १९३४ ई० मे काग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। उस समय बाहर की दुनिया को पहली बार मालूम हुआ कि राष्ट्रीय आदोलन के कर्णधारो मे भी ऐसा मतभेद है जो अब किसी प्रकार के समझौते से पाटा नही जा सकता। रूस की सफलता, कम्युनिज्म के साहित्य के प्रचार और अपने देश के पूँजीपतियो के आचरण से उन दिनो सोचने समझनेवालो के मन मे नई आशका और नये उपायो की बात आई। धीरे-धीरे राजनीति मे वामपथी विचारो का जोर बढता गया। उस समय तक देश में विदेशी शासन का जबर्दस्त दबाव था इसलिये मतभेद उठ-उठकर दब जाता था। साहित्यकारो मे भी हलचल दिखाई दी। वामपथ के साहित्यकारो ने सघटित होकर सन् १९३६ ई० मे एक प्रगतिशील लेखक सघ की स्थापना की। हिंदी-उर्दू के प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचद जी इसके सभापति हुए। शुरू-शुरू मे इस सघट में सामाजिक मगलन के प्रयत्नो में विश्वास रखनेवाले सभी प्रकार के साहित्यसेवी थे। बाद मे यह सस्था प्रधान रूप से कम्युनिस्ट पार्टी के साहित्यिक मोर्चे के काम आने लगी। परतु यही से उस प्रकार के

साहित्य का संघटित रूप से आंदोलन और प्रचार शुरू हुआ जिसे आगे चलकर प्रगतिवादी साहित्य नाम दिया गया ।

प्रगतिवादी साहित्य का आधारभूत तत्त्वदर्शन

प्रगतिवादी साहित्य मार्क्स के प्रचारित तत्त्वदर्शन पर आधारित है । इस विचारधारा के अनुसार (१) संसार स्वरूप भौतिक है, वह किसी चेतन सर्वसमर्थ सत्ता का विवर्त या परिणाम नही है । (२) उसकी प्रत्येक अवस्था की व्याख्या की जा सकती है । कुछ भी अज्ञेय या अचिंत्य नही है, कुछ भी रहस्य या उलझनदार नही है । इस मत को माननेवाला साहित्यिक रहस्यवाद मे विश्वास नही कर सकता, प्रकृति या ईश्वर के निष्ठुर परिहास की बात नही सोच सकता, भाग्यवाद के ढकोसले को बर्दाश्त नही कर सकता । (३) इस मत मे समाज निरंतर विकसित-शील संस्था है । आर्थिक विधानो के परिवर्तन के साथ-साथ समाज मे भी परिवर्तन होता है । इस मत को स्वीकार करने-वाला साहित्यिक समाज की रूढियो को सनातन से आया हुआ, शासक या ईश्वर की निर्भ्रांत आज्ञाओ पर बना हुआ और उच्च-नीच मर्यादा को अपरिवर्तनीय सनातन विधान नही मान सकता । इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्यिक समाज की किसी व्यवस्था को सनातन नही मानता, किसी भी वस्तु को रहस्य और अज्ञेय नही समझता तथा किसी अज्ञेय-अलक्ष्य चिरंतन प्रियतम की लीला को साहित्य का लक्ष्य नही मानता । वह समाज बदल देने में विश्वास करता है । उसका विश्वास है कि मनुष्य प्रयत्न करके इस समाज को ऐसा बना सकता है जिसमें शोषकों और शोषितों के वर्ग न हों और मनुष्य शांतिपूर्वक जीवन बिता सके । इसीलिये उनके अनुसार साहित्य वर्गहीन समाज की स्थापना का एक साधन है ।

साहित्यकार को इसकी साधना इसी महान् उद्देश्य के लिये करनी चाहिए।

आज के समाज का अगर विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट होगा कि इसमें एक समूह उन लोगों का है जो आर्थिक दृष्टि से सपन्न है। उत्पादन के समस्त साधन उन्हीं लोगों के हाथों में हैं। इन साधनों पर अधिकार होने के कारण उनके हाथ में धन पुंजित होता जा रहा है। पुंजित धनराशि को सुरक्षित रखने के लिये इनकी ओर से धर्म और साहित्य की उन मान्यताओं की सृष्टि हुई है जो इस धनराशि पर हाथ लगाने को पाप और अनैतिक कार्य घोषित करती है। इसीलिये पूंजीवाद इस वर्तमान सामाजिक अवस्था में नेगेटिव या प्रतिगामी शक्ति है। यह असंख्य जनता के शोषण पर आधारित है और इस व्यवस्था को चालू रखने के लिये हर प्रकार का काम करना चाहता है। इन लोगों के मत से समाजवाद प्रगतिशील विचारधारा है क्योंकि वह वतमान समाज को वर्गहीन समाज में बदलने को कृत-सकल्प है।

वर्तमान अवस्था

इस नये तत्त्वदर्शन से प्रभावित होकर अनेक लेखकों और कवियो ने लेखनी सम्हाली है। इनमें दो श्रेणी के लेखक हैं। एक तो वे जो कम्युनिस्ट पार्टी से संबंधित हैं और पार्टी की निर्धारित नीति और अंगुलि-निर्देश पर साहित्य लिखते हैं। दूसरे वे जो पार्टी से संबंधित नहीं है पर इन विचारों को मानते और तदनुसार यत्न करते हैं। बहुत थोड़े समय में प्रगतिवादी विचारधारा ने राहुल सांकृत्यायन जैसे प्रौढ़ विद्वान्; प्रकाशचंद्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा, और भगवतशरण उपाध्याय जैसे चिंतनशील आलोचक; यशपाल और रांगेय राघव जैसे उपन्यासकार;

नये साहित्यकार

अमृतराय जैसे कहानी-लेखक और समालोचक तथा शिवमंगलसिह सुमन और नागार्जुन जैसे कविको को आकृष्ट और प्रेरित किया है। किसी समय सुमित्रानंदन पंत भी इस विचारधारा से प्रभावित हुए थे। इनमे कई लेखको की योग्यता परीक्षित हो चुकी है और कई मे अच्छी संभावनाएँ हैं। कम्युनिस्ट पार्टी से जिन साहित्यकारो का संबंध है उनको पार्टी के निर्देश पर चलना पड़ता है। पार्टी का इस प्रकार स्वतंत्र चिंतन के मार्ग में आना हितकर नही हो सकता। कई प्रगतिवादी लेखक पार्टी के अंकुश को बर्दाश्त न कर सकने के कारण उससे अलग हो गए है। भविष्य मे तो पार्टी को अपना अंकुश उठा लेना पड़ेगा या प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों से वंचित रहना पड़ेगा। अनेक चिंतनशील कवि और आलोचक प्रगतिशील कहे जा सकते ह, यद्यपि उन्होंने मार्क्स द्वारा प्रवर्तित जीवन-दर्शन को पूर्ण रूप से नही अपनाया, या अपनाया भी तो कुछ स्वाधीनता के साथ। कई नये लेखको में शक्ति का संधान पाया गया है। रघुवंश, धर्मवीर भारती, शंभुनाथसिंह, ठाकुरप्रसादसिंह और नामवरसिंह जैसे लेखक नई संभावनाओं को लेकर आ रहे है।

प्रगतिवाद के विरोधी साहित्यकार कौन है ?

प्रगतिवादी साहित्यकार उन लेखकों को प्रतिगामी या पीछे की ओर घसीटनेवाला समझता है (१) जो पुनरुत्थानवादी है अर्थात् जो अतीत काल के मोहक गान गाकर जनता में इस बुद्धि का प्रचार करते है कि वर्तमान की तुलना में अतीत अधिक महिमामंडित काल था और इसीलिये उन सभी बातों को अपनाना चाहिए जिन्हें अतीत के कृती पुरुषो ने किया था; (२) जो रहस्यवादी हैं और निस्सीम चिरंतन प्रियतम की बात कह-कहकर संसार को वर्तमान संघर्ष से हटाकर काल्पनिक

लीला-निकेत मे ले जाकर भुलावा देते है क्योकि वे लोग संघर्ष से भागने की प्रेरणा देते है; (३) जो काम और यौन तत्त्वो को जीवन के अन्य सैकडो पक्षो की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते ह और समाज की रीढ ही कमजोर कर डालते ह, (४) जो जीवन के संघर्षो और उनसे निकलकर आगे वढने की बात न कहकर केवल इस या उस मनोवैज्ञानिक पडित की बताई हुई बातो को घोख लेते है और मनोविश्लेषण का बहाना लेकर उसकी आड मे पलायनवादी मनोवृत्ति को प्रश्रय देते है । ये चारो प्रकार के साहित्यिक प्रगतिवादियो की दृष्टि मे समाज को आगे वढाने के वजाय पीछे धकेलते है और उस व्ववस्था को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जीवित रखने में सहायक होते है जो समाज के पिछड़े और उपेक्षित अगो के शोषण पर ही आधारित है । ज्यो-ज्यो प्रगतिवादी आलोचना-पद्धति साप्रदायिक रूप धारण करती जा रही है, त्यो-त्यो ये सूत्र फारमूला की भाँति प्रयुक्त होने लगे है और किसी भी लेखक पर प्रयोग कर दिए जाते है । परतु जो लोग साप्रदायिकता के ऊपर उठ सकते है वे इन सूत्रो का उपयोग नही करते बल्कि लेखक के उद्देश्य और प्रभाव की निपुण विवेचना करने के बाद ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचते है । फारमूला का प्रयोग किया जाय तो प्रसाद जी प्रतिगामी होगे, महादेवी अप्रगतिशील बन जाएँगी और राहुल साँकृत्यायन को भी जाति-वहिष्कृत करना पडेगा । परतु सभी प्रगतिवादी अभी तक साप्रदायिक नही हुए है और वे विवेच्य का उचित विश्लेषण करके ही अपना मत देते है ।

प्रगतिशील आदोलन बहुत महान् उद्देश्य से चालित है । इसमें सांप्रदायिक भाव का प्रवेश नही हुआ तो इसकी

सभावनाएँ अत्यधिक हैं । भक्ति के महान आदोलन

प्रगतिशील आदोलन की सभावनाएँ

के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ आदर्श निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज को नये जीवन-दर्शन से चालित करने का सकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप मे प्रकट हुई थी, उसी प्रकार यह आदोलन भी हो सकता है। भक्ति का महान् आदोलन साप्रदायिकता की चट्टान से टकरा कर चूर्ण-विचूर्ण हो गया। इस आदोलन में भी एक पकार की साप्रदायिकता के उगने के चिह्न दीखने लगे हैं। आशा करनी चाहिए कि वह वढ नही पाएगा और मनुष्य को सब प्रकार के शोषणो और बंधनो से मुक्त करने की महिमामयी साधना सफल होगी।

[इस काल की सहायक पुस्तकें—रामचद्र शुक्ल हिंदी साहित्य का इतिहास, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा . हिंदी गद्य-शैली का विकास, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय . आधुनिक हिंदी साहित्य, डा० श्रीकृष्णलाल : आधुनिक हिंदी साहित्य (१६००–१६२५), प० नददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, श्री सच्चिदानद हीरानंद वात्स्यायन : आधुनिक साहित्य, पं० कृष्णशकर शुक्ल आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास]

१०

उपसंहार

१०

उपसंहार

सन् १९४७ में भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया। स्वतन्त्रता के साथ-ही-साथ मनुष्य की उन्नति के अनेक द्वार खुल गए। हिंदी अनेक रगडे-झगड़े के बाद केंद्रीय सरकार की राजभाषा के रूप में स्वीकार कर ली गई है और अब वह समूचे संसार की समृद्ध भाषाओ की खुली प्रतिद्वद्विता में आ गई है। नवीन अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति ने जहाँ हमे मानवतावादी दृष्टि दी है वही उसके दीर्घकालीन सपर्क ने हमारे देश के शिक्षित लोगो के चित्त में अपनी भाषा के प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव भी ला दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि यद्यपि देश की सामान्य भाषा के रूप हिंदी को स्वीकार कर लिया गया है तथापि अभी उस प्रकार की मानसिक जागरूकता नही आई है जो साहित्य को सपन्न और व्यापक बनाती है। अब भी अंग्रेजी भाषा का स्थान यथापूर्व बना हुआ है और कभी-कभी तो उसके चले जाने की सभावना मात्र से आशका अनुभव की जा रही है। देशवासियो को अपनी देश-भाषा की योग्यता के बारे में सदेह है। यह एक प्रकार की आत्मवंचना ही है। पुराने जमाने मे अंग्रेज कहा करते थे कि भारतवासियो मे शासनभार सम्हालने की योग्यता नही है, जिस दिन वह योग्यता आ जाएगी उस दिन हम उन्हें राज्यभार सौपकर हट जाएँगे। इतिहास साक्षी है कि अंग्रेजो का यह कथन झूठ था। उनकी नीति ही ऐसी थी कि भारतवासी कभी राज्य चलाने योग्य होने ही न पाते। अनेकानेक सघर्षों के फलस्वरूप अंग्रेज इस देश को छोडने को बाध्य हुए। अब अंग्रेजी पढ़े

लोग कहने लगे हैं कि हिंदी में राजकाज चलाने की योग्यता नही है। इतिहास बताएगा कि यह भी असत्य है। अभी तक हिंदी का जो इतिहास है वह इस भाषा की अपूर्व ग्राहिका शक्ति और अवसर के अनुकूल बनने की क्षमता का साक्षी है। पिछले सौ वर्षों मे इस भाषा ने अद्भुत शक्ति का परिचय दिया है। घर-बाहर सर्वत्र इसकी उपेक्षा थी। अदालतों में इसे स्थान नही मिला, उच्चतर शिक्षा का माध्यम नही होने दिया गया, राजनीतिक नेताओ ने भी इसे कोई विशेष करावलंब नही दिया। इस प्रकार सब ओर से उपेक्षित और अवहेलित होते हुए भी सिर्फ अपनी भीतरी प्राणशक्ति के बल पर यह भाषा आज देश की राष्ट्रभाषा हो सकी है। ससार के इतिहास में ऐसी दूसरी भाषा शायद नही है जो सब ओर से उपेक्षित रहते हुए भी इतनी शक्ति अर्जन कर सकी हो।

आधुनिक हिंदी भाषा का साहित्य प्रतिकूल और विसदृश परिस्थितियों के बीच रचा गया है। एक ओर साहित्यकारो को उपेक्षा का शिकार होना पड़ा है, दूसरी ओर अवज्ञा की चोट सहनी पड़ी है। इस दुहरी मार के कारण साहित्यकार को अधिकांश शक्ति परिस्थितियो से जूझने में खर्च करनी पड़ी है। राज्य की ओर से कोई सम्मान नही मिला, विश्वविद्यालयो की ओर से कोई स्वागत नही हुआ न्याय के ऊँचे आसनो से कोई न्यायपूर्ण व्यवहार नही हुआ, लेकिन हिंदी के महाप्राण साहित्यकार विचलित नही हुए। यह कहानी जितनी ही खेदजनक है उतनी ही स्फूर्तिदायक। हिंदी के आधुनिक काल के साहित्यकारों की सब कहानियाँ प्रकाशित नही हुईं। जितनी प्रकाशित हुई हैं उतनी रोमांचक हैं। कितने ही साहित्यिक बीमारी की अवस्था में दवा न पाकर चल बसे, कितने ही दरिद्रता की मार से जीवनभर तड़पते

रहे परंतु उन्होंने कभी शिकायत नहीं की, दूसरों के सामने दया की भीख नहीं माँगी। परिस्थितियों ने कितनों ही को मानसिक हीनता-ग्रंथि का शिकार बना दिया, कितनों ही में निराशा और अवसाद के भाव ला दिए, परंतु फिर भी इस युग के सत्य को यथाशक्ति लोकभाषा में लिखकर देश की जनता को वे उद्‌बुद्ध करते रहे। यह कहानी और भी प्रादेशिक भाषाओं के क्षेत्र में दुहराई गई है। आज जो देश को गुलामी की जजीर तोडने की शक्ति प्राप्त हुई उसके मूल में देशी भाषाओ के सहस्रो अख्यात और अज्ञात लेखक हैं। उन्होने अपने आपका बलिदान करके देशवासियो के चित्त में आत्मसम्मान की भावना जगाई है। हिंदी के साहित्यकार इस विषय मे कभी पीछे नही रहे।

जिस भाषा को इतने संघर्षों के भीतर से अपना रास्ता निकालना पडा है उसकी शक्ति निस्संदेह अद्‌भुत है। बाधा-मुक्त होने पर वह और भी आश्चर्यजनक ग्राहिका शक्ति का परिचय देगी।

पिछले अध्यायो में हमने देखा है कि आधुनिक मानवीय दृष्टिकोण को अपनाने में हमारे साहित्यकारों को आयास अवश्य करना पड़ा है पर वह केवल इस बात की निशानी है कि उन्होने अंधाधुंध अनुकरण नही किया है; स्वयं परीक्षा की है, प्रयोग किए हैं, और अंत तक सुपरीक्षित सत्य को स्वीकार किया है। युगचेतना को स्वीकार करने वाले और उसे लोकचित्त में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करने वाले साहित्यिक ही अंत तक जिए हैं। जो लोग प्रतिक्रियाशील थे, जिन्होने व्यंग्यों और कटाक्षों द्वारा आगे बढते हुए साहित्य का रास्ता रोकने का प्रयत्न किया था, वे भुला दिए गए। इसका अर्थ यह है कि हिंदी के सहृदय पाठक युगसत्य को पहिचानते हैं।

हमारे साहित्य की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसमें उन नवीन ज्ञान-विज्ञान की शाखाओ पर पर्याप्त पुस्तके नही है जिनके अध्ययन-मनन के बाद ही आधुनिक सांस्कृतिक दृष्टि उत्पन्न होती है। हमारे कवियो और औसत पाठको के बीच बराबर व्यवधान बना रहा है और आज भी है। साहित्य की ऊँचाई के लिये जिस विशाल चौकी की आवश्यकता होती है वह हमारे पास नही है। प्रतिकूल परिस्थितियाँ ही इसका कारण रही है। विश्वविद्यालयो की उच्चतर शिक्षा का माध्यम न होने के कारण और देश के शिक्षित लोगो की अपनी भाषा के भडार भरने को अनावश्यक-प्रयत्न समझने की खेदजनक मानसिक अवस्था के कारण हिंदी में ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओ का निर्माण नही हुआ है। अग्रेजी मे नाना विषयो की पुस्तके पढकर हिंदी के रचनात्मक साहित्य मे उन विचारो के निष्कर्षो को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है, परतु साधारण औसत पाठक को इन निष्कर्षो का महत्त्व समझने की दृष्टि नही मिली। साधारणतः लबी भूमिकाओ मे और बेडौल समालोचनाओ मे इस व्यवधान के पाटने का प्रयत्न दिखाई देता है। परतु यह प्रयत्न तभी सफल होगा जब नये ज्ञान-विज्ञान के विषय में समझ में आने योग्य सहजभाषा में पुस्तके लिखी जाएँ। यह हर्ष का विषय है कि इस प्रकार का प्रयत्न शुरू हो गया है पर उसमे अपेक्षित तेजी और सतर्कता नही आ सकी है।

इस बात के लक्षण दिखाई देने लगे ह कि शीघ्र ही इस देश के अनेक विश्वविद्यालयो में पढ़ाई और प रीक्षा का माध्यम हिंदी हो जाएगी। ऐसा होने से अनेक विषयो पर पुस्तकें लिखी जाएँगी, संदेह नही। अभी भी यह प्रयत्न बाल अवस्था मे दृष्टिगोचर हो रहा है। इस ओर से भाषा के समृद्ध होने की बहुत अधिक संभावना है। फिर अनेक

राज्यो की सरकारो ने हिंदी को राजभाषा घोषित किया है। इन घोषणाओ मे भी अनेक संभावनाएँ बीज-रूप मे वर्तमान है। यद्यपि अभी तक देश की केंद्रीय धारासभाओ और उच्च न्यायालयो में अंग्रेजी का प्राधान्य बना हुआ है तथापि दीर्घकाल तक इसी प्रकार चलते रहना संभव नही है। शक्ति जनता के हाथ में आ गई है और जनभाषा की उपेक्षा करके कोई सरकार स्थाई नही हो सकेगी। सब मिलाकर हिंदी की बहुमुखी उन्नति के सभी द्वार खुल गए है, जो बद दिख रहे है उनके भी खुल जाने की आशा है। अब हिंदी का साहित्य कुछ थोडे से लोगो की गोष्ठियो के घेरे से बाहर निकल आया है। यह सत्य है कि हमारे बहुत-से साहित्यकार अब भी बँधे घेरे से बाहर निकलने में झिझक रहे है परतु यह और भी अधिक सत्य है कि अब साहित्य कुछ पेशेवर साहित्यिको का विनोद मात्र नही है। उसने समूचे देश की जनता के दु ख-दारिद्र्य को दूर करने का सकल्प किया है, सारे देश मे आशा और विश्वास का संचार करने का सकल्प किया है और, कोई माने या न माने, हिंदी भाषा मे लिखित साहित्य से ही देश के गौरव और कल्याण को आँकने का प्रयत्न होने लगा है।

अब हिंदी को प्रातीय भाषाओ के निकट सपर्क मे आना पड़ रहा है। हमारे देश की कई प्रांतीय भाषाओ का साहित्य काफी समृद्ध है। उन भाषाओ से उत्तमोत्तम ग्रथो के सग्रह करने का प्रयत्न भी अभी बाल अवस्था मे ही है। परतु बहुत जल्दी यह प्रक्रिया शक्तिशाली रूप धारण करेगी। इस बात के स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगे है। इससे केवल हिंदी का साहित्य-भंडार ही पूर्ण नही होगा बल्कि वह सच्चे अर्थों मे सार्वदेशिक भाषा बनेगी। सौभाग्यवश हिंदी की यह परपरा बहुत पुरानी है। नाना प्रदेश के संतों और भक्तो ने इस भाषा के प्राचीन साहित्य-भडार में अपनी अपूर्व कृतियाँ

दी है। आशा की जानी चाहिए कि वह परंपरा अब और भी अधिक उज्ज्वल और शक्ति-संपन्न बनेगी। सुनीतिकुमार चटर्जी, क्षितिमोहन सेन, काका कालेलकर, किशोरलाल ध० मश्रुवाला जैसे कृती पडितो और विचारकों ने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं से इस साहित्य के भांडार को समृद्ध किया है।

हिंदी के साहित्यकारों का सामाजिक मनुष्य को दुःख-दारिद्रय से मुक्त करके आत्मविश्वासी और समृद्ध बनाने का संकल्प मूर्तरूप धारण करने लगा है। सब मिलाकर ऐसा जान पडता है कि हिंदी का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है। उसमें अधिक श्रीसपन्न, अधिक उदार, अधिक सुकुमार और अधिक ओजस्वी बनने की संभावनाओं के स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगे है।

हिंदी साहित्य (उसका उद्भव और विकास)

की

नामानुक्रमणिका

नामानुक्रमणिका

Printed by
H. K. Kapur at the Agra University Press, Agra and pu[illegible]
by Shree Ram Jawaya Kapur, proprietor, Uttar Cha[illegible]
Kapur & Sons, Delhi, Ambala & Agra.
J. 4036